संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

लेखक

स्व० पं० चंद्रशेखर पाण्डेय, एम० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न

तथा

श्री शान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम० ए०

साहित्य निकेतन

कानपुर और बरेली

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

लेखक

स्व० पं० चंद्रशेखर पाण्डेय, एम० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न

तथा

श्री शान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम० ए०

साहित्य निकेतन

कानपुर

प्रथम संस्करण	१९४४
द्वितीय संस्करण	१९४८
तृतीय संस्करण	१९५१

मूल्य { साधारण ४।।।)
जिल्द का ।।।) अतिरिक्त

प्रकाशक

साहित्य निकेतन, कानपुर

शाखा—१५, सुभाषबाज़ार, बरेली

मुद्रक

मीरा प्रिंटिङ्ग वर्क्स, हाता राममोहन—कानपुर

प्रथम संस्करण
का
प्राक्कथन

किसी राष्ट्र या जाति का वास्तविक इतिहास उसका साहित्य है। साहित्य ही समाज की तत्तत्कालीन चिन्ताओं, धारणाओं, भावनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों का सम्पुटित चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य भारत के गौरवमय अतीत का मणिमय मुकुर है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष का जैसा सजीव प्रतिबिम्ब संस्कृत के सर्वाङ्गसुन्दर साहित्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी महत्वमय 'अमरभारती' के प्रति आज जो उपेक्षा अर्थात् औदासीन्य की भावना हमारे नव्य सभ्य समाज में देख पड़ती है, वह इस पुण्यभूमि भारत के भव्य भविष्य के लिये कदापि उत्कर्ष-विधायक नहीं। क्या यह हमारे लिये खेद या परिताप की बात नहीं कि हमारे देश की इस सांस्कृतिक 'देववाणी' के साहित्य का सांगोपांग विवेचन विदेशीय विद्वानों द्वारा तो किया जाय, किन्तु यहां घर में ही 'दीपक तले अन्धेरा' वाली उक्ति चरितार्थ हो? संस्कृत पठन-पाठन की जो शैली हमारी पाठशालाओं में प्रचलित है, उसमें पाण्डित्य की गहराई तो नापी जाती है, किंतु व्युत्पत्ति के प्रसार पर कम ध्यान दिया जाता है। हमें यह न भूलना चाहिए कि यदि 'मेधा' का विकास पाण्डित्य है, तो 'प्रज्ञा' का प्रकाश व्युत्पत्ति है। संस्कृत साहित्य के इतिहास का अनुशीलन अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का अनुशीलन है। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी भी अपनी प्राचीन परंपरागत संस्कृति से अपरिचित या अल्प-परिचित रहकर अपने समुचित विकास का आदर्श नहीं निर्धारित कर सकती।

संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने की परिपाटी का श्रीगणेश पाश्चात्य विद्वानों ने किया। विदेशी भाषाओं में—मुख्यतः जर्मन और अंग्रेजी में—इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय विद्वानों ने भी संस्कृत साहित्य के विषय में प्रायः अंग्रेजी में ही विवेचन किया है। इधर हाल में हिंदी में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास पर दो चार छोटी

मोटी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, किंतु वे या तो एकदेशीय हैं अथवा परिचयात्मक मात्र। उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों के अनुकरण पर ही लिखी गई हैं—उनमें एकमात्र पाश्चात्य दृष्टिकोण का ही अनुसरण किया गया है, और कुछ ऐसी हैं जिनमें वैदिक लौकिक समग्र संस्कृत साहित्य का समावेश होने के कारण कवियों अथवा कृतियों का विशद विश्लेषणात्मक विवेचन नहीं हो पाया है।

प्रस्तुत पुस्तक वेदोत्तरकालीन (classical) संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त समीक्षात्मक अध्ययन अथवा इतिहास है। इसमें संस्कृत वाङ्मय के उन प्रमुख अङ्गों का ही विवेचन किया गया है, जिनका पण्डित—समाज अथवा विद्यार्थियों में अधिक प्रचार या पठन-पाठन है। विवेचन करते समय जहां पाश्चात्य दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया है, वहां भारतीय दृष्टिकोण की रक्षा करने का भी पूर्ण प्रयास किया गया है। ग्रन्थकारों की आलोचना करते समय उनके स्थितिकाल तथा रचनाओं का उल्लेखमात्र करके सन्तोष नहीं कर लिया गया है, प्रत्युत उनकी शैली की समीक्षा करके उनकी कृतियों से उद्धरण भी दिये गये हैं। प्रायः सर्वत्र इन उद्धरणों की सरल सुबोध भाषा में व्याख्या भी कर दी गई है। कालिदास, बाण, भवभूति जैसे प्रमुख एवं शीर्षस्थानीय महाकवियों की अपेक्षाकृत विशद एवं विस्तृत आलोचना की गई है।

इस 'रूपरेखा' की रचना का प्रमुख श्रेय मेरे परम उदीयमान शिष्य श्रीयुत शान्तिकुमार व्यास, एम० ए०, को है, जिन्होंने परम परिश्रमपूर्वक इस पुस्तक के लिये समस्त सामग्री सङ्कलित की और प्रेस के लिए कापी प्रस्तुत की। मैंने मार्ग-प्रदर्शन, परामर्श-प्रदान, परिष्कार और यत्र तत्र परिवर्तन, परिवर्धन कर इसे अन्तिम रूप मात्र दिया है। अतः मेरी सम्मति में मुझे इसके कर्तृत्व का वहीं तक श्रेय प्राप्त है जहां तक सांख्यशास्त्र में बुद्धितत्व के क्रिया-कलापों का आत्मा को—'फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धे र्भोग इवात्मनि।'

हर्ष का विषय है कि इस पुस्तक की उपादेयता से प्रभावित हो आगरा–युनिवर्सिटी ने बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये प्रस्तावित पुस्तकों में इसे स्वीकृत किया है। आशा है यह पुस्तक सामान्यतः समस्त साहित्य–प्रेमियों और विशेषतः विद्यार्थियों में संस्कृत साहित्य के प्रति अभिरुचि एवं अनुराग उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होगी।

श्रीपञ्चमी, २००१ वि० चन्द्रशेखर पाण्डेय

द्वितीय संस्करण **की प्रस्तावना**

अत्यन्त प्रसन्नता एवं परितोष की बात है कि विद्वानों एवं विद्यार्थियों ने इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का हृदय से स्वागत किया। परिणामतः प्रकाशित होने के एक वर्ष के अन्तर्गत ही इसकी सारी प्रतियां समाप्त हो गईं। अब 'रूपरेखा' का यह द्वितीय परिवर्धित संस्करण पाठकों की सेवा में उपस्थित है। इस संस्करण में अनेक आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन भी कर दिये गये हैं, जिनसे इसकी उपादेयता बढ़ गई है। इस संस्करण में जो मुख्य मुख्य परिवर्तन परिवर्धन किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं:—

(१) प्रथम संस्करण में अश्वघोष का स्थिति-काल कालिदास के पूर्व स्वीकार किया गया था। यह मत बहुत कुछ पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। किंतु अब अनेक भारतीय विद्वानों ने प्रायः निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया है कि कालिदास अश्वघोष के पूर्ववर्ती थे। अतः प्रस्तुत संस्करण में कालिदास का स्थितिकाल अश्वघोष के पूर्व ही स्वीकार किया गया है।

(२) भास उनके स्थितिकाल, नाटकों और शैली का अधिक विशद रूप से नवीनतम शोधों के आधार पर विवेचन किया गया है।

(३) हरिचन्द्र, शूद्रक, दिङ्नाग, दामोदर मिश्र और घटकर्पर के काल निरूपण पर फिर से विचार किया है तथा यथास्थान आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं।

(४) हरविजय, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञान शाकुन्तल, प्रियदर्शिका, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, वेणीसंहार, कादम्बरी, गाथा सप्तशती, गीतगोविद, नवसाहसांकचरित तथा विक्रमांकदेवचरित के विवेचन में भी अपेक्षाकृत विस्तार हुआ है। देवीचंद्रगुप्त, कौमुदी महोत्सव तथा सुभाषित संग्रहों का विवेचन और जोड़ दिया गया है।

(५) गीतकाव्य और नाटक की विशेषताओं तथा ऐतिहासिक काव्यों का विवेचन भी अधिक विशद कर दिया गया है।

इनके अतिरिक्त स्थल स्थल पर भाव, भाषा एवं तथ्य सम्बन्धी और भी अनेक आवश्यक न्यूनाधिक परिवर्तन-परिवर्धन किये गये हैं। नवीनतम खोजों के परिणामों का समुचित उपयोग किया गया है। संक्षेप में पुस्तक को अधिक से अधिक उपयोगी, प्रामाणिक एवं अद्यतन बनाने की पूर्ण चेष्टा की गई है।

हर्ष का विषय है कि इस पुस्तक की उपादेयता एवं गुणों से प्रभावित होकर पूर्वी पंजाब विश्वविद्यालय ने भी अपने यहां की बी० ए० परीक्षा के पाठ्य-क्रम में इसे स्वीकार कर लिया है। आगरा युनिवर्सिटी ने तो इसे पहले से ही बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए निर्धारित कर रखा है।

इस अवसर पर मैं अपने परम सुयोग्य शिष्य साहित्य-रत्न पण्डित विश्वनाथ गौड़, एम० ए०, शास्त्री, को साशीर्वाद धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक छपते समय इसके फार्मों का प्रूफ-संशोधन किया है। अन्त में हम उन समस्त मनीषी आचार्यों एवं विद्वानों के चिर आभारी हैं, जिन्होंने अपनी अमूल्य सम्मतियां प्रदान कर इस पुस्तक को गौरवान्वित तथा लेखकों का उत्साह-वर्धन किया है।

सनातनधर्म कालेज,
कानपुर।
नागपंचमी, सं० २००५ वि०

चन्द्रशेखर पाण्डेय

तृतीय संस्करण के सम्बन्ध में तीसरे संस्करण को अपने सुविज्ञ एवं कृपालु पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए हर्ष और विषाद दोनों ही हो रहे हैं। विद्वानों एवं साहित्य मर्मज्ञों द्वारा पुस्तक का जो आदर सत्कार हुआ है उसके लिये हर्ष होना स्वाभाविक ही है। परन्तु पुस्तक के लेखक श्रद्धेय पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय के नाम के साथ स्वर्गीय शब्द जोड़ते हुए हृदय विषाद और वेदना से पूर्ण हो जाता है। स्वर्गीय पाण्डेय जी हिन्दी एवं संस्कृत के विद्वानों में अपना विशिष्ट स्थान रखते थे और उनसे अभी हिन्दी संसार को बहुत कुछ आशायें थीं परन्तु दैव दुर्विपाक से वे घातक रोग से आक्रान्त हो गये और हमारी नव पल्लवित आशाओं पर तुषारपात हुआ।

प्रस्तुत सस्करण में स्वर्गीय पाण्डेय जी के उदीयमान शिष्य एवं सहकारी लेखक श्री व्यास जी ने यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन कर दिये हैं। कोई विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया है।

पुस्तक की उपादेयिता एव गुणों से प्रभावित होकर आगरा एवं पंजाब विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त राजपूताना एवं काश्मीर विश्वविद्यालयों, उत्तर प्रदेश की शास्त्री एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी इसे स्वीकार कर लिया गया है।

कागज़ की कठिनाई के कारण इस समय पुस्तक का जितना सुन्दर संस्करण निकालने का विचार था वह कार्यरूप में परिणत न हो सका और पुस्तक की मांग अधिक होने के कारण छपाई में जल्दी करनी पड़ी। इन कमियों को अगले संस्करण में दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा।

साहित्य निकेतन की ओर से

श्यामनारायण कपूर

विषय-सूची

१—संस्कृत साहित्य का महत्व १-७

२—रामायण और महाभारत ८-३१

[इतिहास-पुराण-साहित्य की उत्पत्ति और विकास ८; रामायण १०; रामायण के प्रक्षिप्त अंश ११; रामायण का समय १३; आदि काव्य रामायण १६; महाभारत १८; महाभारत के कर्त्ता २०; महाभारत में प्रक्षेप २२; महाभारत का समय २३; रामायण और महाभारत पर एक तुलनात्मक दृष्टि २५]

३—महाकाव्य ३२-६५

[महाकाव्य की उत्पत्ति तथा विकास ३२; महाकाव्य के लक्षण ३४; कालिदास (स्थिति काल) ३५-४२; कालिदास के महाकाव्य ४२; कालिदास की शैली ४७; अश्वघोष ५६; कालिदास के बाद के महाकाव्य ५८; भारवि ६१; भट्टि ६७; कुमारदास ६६; माघ ७१; रत्नाकर ८१; हरिचन्द्र ८४; कविराज ८५; श्रीहर्ष ८६]

४—नाटक ९६-२६२

[उत्पत्ति ९६; भास ९९; भास का स्थितिकाल १०३; भास के नाटक १०४; भास की नाट्यकला १०९; भास की शैली १११; शूद्रक ११३; रचनाकाल ११४; मृच्छकटिक की कथा ११५; कालिदास १२०; मालविकाग्निमित्र १२१; विक्रमोर्वशीय १२३; अभिज्ञानशाकुन्तल १२६; सौन्दर्य और प्रेम के कवि कालिदास १५३; कालिदास का प्रकृति-वर्णन १५९; कालिदास का कलाविषयक आदर्श १६५; अश्वघोष १६७; हर्ष १६८; भवभूति १७४; महावीर चरित १७७; मालती-माधव १७८; उत्तररामचरित १८१; उत्तररामचरित की नाटकीय विशेषताएं १८३; भवभूति की शैली १८९; भवभूति का प्रकृति वर्णन २००; करुणरस के आचार्य भवभूति २०२; आदर्श प्रेम के मर्मज्ञ भवभूति २१०; भवभूति और कालिदास २१२; विशाखदत्त २१६; भट्टनारायण २२६; मुरारि २३४; शक्तिभद्र २३८; दामोदर मिश्र २४०; राजशेखर २४०; क्षेमीश्वर २४६; दिङ्नाग २४७; कृष्णमिश्र २५१; जयदेव २५३; वत्सराज २५६; संस्कृत नाटकों की विशेषताएं २५८]

५—गद्य साहित्य २६३-३०६

[उत्पत्ति तथा विकास २६३; कथा और आख्यायिका २६५; दण्डी २६६; दण्डी की शैली २७२; सुबन्धु २७३; सुबन्धु की शैली २७७; बाणभट्ट २७८; बाण का स्थितिकाल २८२; हर्षचरित

२८४; कादम्बरी २८५; बाण की शैली २९२; शिवराज विजय ३०२; प्रबंधमञ्जरी ३०४; संस्कृत गद्य काव्य की विशेषताएं ३०५]

६—गीति काव्य ३०७-३६९

[कालिदास ३०८; ऋतुसंहार ३०९; मेघदूत ३१२; शृङ्गार तिलक ३२९; घटकर्पर ३३०; हाल ३३०; भर्तृहरि ३३६; नीतशतक ३३७; शृङ्गार-शतक ३४०; वैराग्यशतक ३४२; अमरुक ३४४; बिल्हण ३४८; धोयी ३४९; गोवर्धनाचार्य ३५०; जयदेव ३५३; गीतगोविन्द की आलोचना ३५४; गीतगोविन्द की शैली ३५८; पण्डितराज जगन्नाथ ३५९; सुभाषित संग्रह ३६३; गीति-काव्य की विशेषताएं ३६४]

७—आख्यान साहित्य ३७०-३८५

[नीति कथा ३७०; पञ्चतन्त्र ३७३; हितोपदेश ३७७; लोक कथा ३७८; संस्कृत आख्यान साहित्य का व्यापक प्रभाव ३८३]

८—ऐतिहासिक काव्य ३८६-४००

[बाणभट्ट ३८९; वाक्पतिराज ३९१; पद्मगुप्त ३९२; बिल्हण ३९३; कल्हण ३९६]

९—चम्पूकाव्य ४०१-४०८

चम्पूकाव्य के लक्षण ४०१; त्रिविक्रम भट्ट ४०२; सोमदेव ४०४; हरिश्चन्द्र ४०५; भोज ४०६; सोड्ढल ४०६; रानी तिरुमलाम्बा ४०७]

१

संस्कृत साहित्य का महत्व

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।'

संस्कृत भाषा भारत की एक अमूल्य एवं अनुपम निधि है। अनादि काल से हमारे देश के जातीय जीवन पर उसका अपरिमित प्रभाव पड़ा है। भारतीय साहित्य और संस्कृति उससे पूर्णतया अनुप्राणित हैं। 'देववाणी' पद से विभूषित होकर वह आज भी भारतीय जनता के हृदय में श्रद्धा का सञ्चार करती है। ऐसी देशप्राण भाषा को 'मृत' कहना उसके प्रति घोर अन्याय करना है। जो लोग संस्कृत को 'पुराने जमाने की चीज' कहकर उसे अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं वे वास्तव में उसके महत्व को नहीं जानते। यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा कहीं अधिक जीवित है। अंग्रेजी की अपेक्षा संस्कृत हम भारतीयों के जीवन को अधिक स्पर्श करती है। हमारा धार्मिक जीवन इसका ज्वलंत प्रमाण है। वेदों और उपनिषदों, रामायण और महाभारत, गीता तथा भागवत का आज भी देशव्यापी प्रचार है। हमारे देवालयों तथा तीर्थस्थानों में उसका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण है। हमारे उपनयन, विवाह आदि समस्त संस्कार तथा अन्य अगणित धार्मिक कृत्य संस्कृत में ही सम्पन्न होते हैं। साधारण शिक्षा प्राप्त भारतीय भी संस्कृत के दो चार श्लोक अवश्य जानता

है। भले ही संस्कृत का बाजार में या अदालत में प्रयोग न होता हो, पर वह हमारी सांस्कृतिक भाषा है, हमारा धार्मिक साहित्य उसी में लिखा गया है। जैनों के अधिकाँश ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। बौद्धों ने भी, जब प्राकृत-पाली की नवीनता नीरस हो चली, संस्कृत में ही अपने ग्रन्थ रचे। व्यवहारिक और सामाजिक जीवन पर भी उसका प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। सभी प्रान्तीय भाषाओं की आदि-जननी संस्कृत ही है। तामिल और तेलगू जैसी द्रविड़ भाषाओं पर भी संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'हिन्दू लॉ' की मूलभित्ति संस्कृत में लिखी स्मृतियाँ हैं। संस्कृत के आयुर्वेद और ज्योतिष-शास्त्र यदि सैकड़ों के जीविकोपार्जन के मार्ग हैं तो असंख्य दीन-दुखियों के स्वास्थ्य और सुख के साधन भी हैं। संस्कृत साहित्य में बिखरी हुई अनेकों सूक्तियाँ व्यवहार में प्रतिदिन प्रयुक्त होती रहती हैं। संस्कृत साहित्य 'जीवित' साहित्य है और दूसरों को जीवन प्रदान करने की क्षमता रखता है। इसी साहित्य की उत्कृष्टता ने जर्मनी, फ्रांस, इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। पिछले सौ वर्षों में इन विदेशी विद्वानों द्वारा संस्कृत वाङ्मय का जो अनुशीलन एवं अनुसंधान हुआ है, उसने संसार के सम्मुख इस साहित्य के महत्व को पूर्णतया प्रतिष्ठित कर उसके अध्ययन की अजस्र धारा बहा दी है।

कुछ लोग सन्देह करते हैं कि संस्कृत का अध्ययन केवल ग्रन्थों तक ही सीमित था, पठन-पाठन में ही उसका प्रयोग होता रहा है, बोल-चाल में उसका उपयोग प्राचीन काल में भी नहीं होता था। पर वस्तुस्थिति का अवलोकन करने पर पता चलता है कि यह धारणा भ्रांत है। रामायण-महाभारत-काल में संस्कृत

बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलित थी१। रामायण में इल्वल राक्षस, ब्राह्मण का रूप धारण कर संस्कृत बोलकर ही ब्राह्मणों को निमन्त्रित करता था। हनुमान् ने भी सर्व प्रथम अशोक-वाटिका में पहुँच कर सीता से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय, इस विषय में बड़ा सोच-विचार किया और अन्त में संस्कृत में ही भाषण करने का निश्चय किया२। प्राचीन व्याकरण-शास्त्रों से भी संस्कृत का प्रचार सिद्ध होता है। यास्क [७ वीं शताब्दी ईसवी पूर्व] ने वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है जिससे उसका बोली जाने वाली भाषा होना सूचित होता है। पाणिनि [४०० ई० पू०] ने संस्कृत को 'लौकिक' अर्थात् 'इस लोक में व्यवहृत' कहा है। उन्होंने दूर से बुलाने, प्रणाम और प्रश्नोत्तर करने में कुछ स्वर-सन्बन्धी नियम भी बतलाये हैं, जिनसे संस्कृत का प्रचलित होना प्रमाणित होता है। यास्क और पाणिनि ने संस्कृत बोली की 'पूर्वी' और 'उत्तरी' विशेषताएँ बताई हैं। इससे मालूम होता है कि संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा ही नहीं थी, भिन्न भिन्न स्थानों में बोली जाने के कारण उसमें स्थानीय विशेषताएँ भी आ गई थीं। कात्यायन का भी यही कथन है। इन प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता हैं कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्यवर्ती समूचे प्रदेश में संस्कृत बोली जाती थी३। ब्राह्मणों के सिवाय अन्य वर्णों में भी इसका प्रचार था। 'महाभाष्य' में एक सारथी एक वैयाकरण के साथ 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विवाद करता है। संस्कृत बोलने वाले 'शिष्ट' [सभ्य] कहलाते थे। न बोलने वाले भी इसे

१—Keith and Grierson; JRAS,1906

२—वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। ५।३०।१७

३—R. G. Bhandarkar JBRAS, 1885

समझते अवश्य थे। नाटकों के निम्न पात्र प्राकृत-भाषी होते हुये भी संस्कृत में कही हुई उक्तियों का उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं। संस्कृत नाटकों से भी प्रमाणित होता है कि ये नाटक तभी खेले जाते होंगे जब साधारण जनता संस्कृत समझती होगी। हाँ, यह अवश्य है कि प्राचीन काल में संस्कृत उसी प्रकार शिक्षित एवं शिष्ट वर्ग की भाषा थी जैसे आजकल खड़ी बोली है। साहित्यिक प्रसंगों में संस्कृत व्यवहृत होती थी। राजकार्य में भी बहुधा इसी का व्यवहार होता था। भारत के अन्य उपनिवेशों में भी संस्कृत का प्रचार हो गया था। प्राचीन चम्पा उपनिवेश [आधुनिक फ्राँसीसी हिन्दी चीन] में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत राज-भाषा के रूप में बर्ती जाती रही१। सारांश यह कि उस समय संस्कृत राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन थी। आज भी दक्षिण के कई ब्राह्मण परिवारों में संस्कृत बोली जाती है।

भारत के प्राचीन इतिहास का सम्यक पर्यालोचन संस्कृत साहित्य के अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। प्राचीन शिलालेख प्रायः सभी संस्कृत में हैं। भारतीय पुरातत्व के लिये संस्कृत का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। संस्कृत साहित्य का इतिहास केवल भाषा का इतिहास नहीं, वह तो प्राचीन भारत के आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, व्यवहारिक एवं राजनीतिक जीवन का ज्वलंत चित्रण है।

संस्कृत साहित्य का मूल्य आंकने के लिये उसके इतिहास से परिचित होना बड़ा आवश्यक है। कालिदास, माघ, भवभूति की रचनाओं के कुछ अँश पढ़ कर ही संस्कृत के विस्तृत साहित्य का परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता। संस्कृत साहित्य अत्यन्त

१—भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, पृ० ६५

व्यापक है। लौकिक पारलौकिक सभी विषयों का उसमें सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन है। 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत जिन जिन बातों का समावेश होता है वे सभी इसमें मौजूद हैं। सन् १८४० में एलफिन्स्टन महोदय ने हिसाब लगा कर देखा था कि संस्कृत साहित्य में जितने ग्रन्थ हैं, उनकी संख्या ग्रीक और लैटिन के ग्रन्थों की मिली हुई संख्या से कहीं अधिक है। संस्कृत साहित्य की विशालता आर्य जाति के बौद्धिक उत्कर्ष की परिचायक है। भारतीय प्रतिभा का यह परम रमणीय परिणाम है। 'इस महादेश की हजारों वर्षों की चिरंतन साधना का सर्वोत्कृष्ट सार इस साहित्य में संचित है।'

संस्कृत साहित्य का इतिहास पिछले चार हजार वर्षों में हमारे पूर्वजों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का इतिहास है। 'उसका प्रसार आर्य जाति का भौगोलिक प्रसार है, उसकी सांस्कृतिक प्रगति है। जहां जहां आर्य जाति की संस्कृति और वैभव फैले हैं, वहां वहां संस्कृत भाषा का विस्तार हुआ है। जब तक आर्यजाति पूर्णतया पंगु न हो गई तब तक वह बराबर इसी भाषा में अपने विचार लिखती गई। चार सहस्र वर्षों तक निरन्तर उस जाति ने अपनी विचक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा में उतारा। इस लम्बी अवधि के बीच आर्यों में एक से एक उत्कृष्ट मेधावी हुए, एक से एक प्रकाण्ड मनीषी जन्मे, सबने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। 'अनीश्वरवादी जैनों, बौद्धों और लोकायतों ने भी इसे अपनी सरस्वती से सरस किया।' यदि किसी देश का साहित्य उसकी संस्कृत का द्योतक है, तो संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का निर्मल दर्पण है। इसमें अपने अतीत गौरव की झाँकी कर हम आज इस हीन दशा में भी गर्व से अपना मस्तक ऊँचा उठा

सकते हैं। कुछ लोग कह सकते हैं कि 'यदि इस साहित्य का प्रभाव हमारे जीवन पर नहीं पड़ता तो लाभ ही क्या ? गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा ?' किन्तु वे इस बात का विचार नहीं करते कि किसी भी देश के भूत और वर्तमान में अटूट सम्बन्ध है संस्कृत के ग्रन्थ हमारे लिये किसी समय जीवित साहित्य थे। बचपन से हमारे कानों में उन्हीं की कहानियाँ पड़ती रही हैं, खेलों में हम उन्हीं को खेलते थे, गीतों में हम उन्हीं को सुनते थे, नाटकों में हम उन्हीं को देखते थे। प्राचीन काल से संस्कृत साहित्य की धारा अनवरत गति से चली आ रही है। संस्कृत साहित्य की सहस्रों वर्षों की धारावाहिक रचना के सामने अंग्रेजी के साहित्य की धारावाहिकता कितनी अल्प है ! विद्या-व्यसनियों के लिये तो हमारे शास्त्र, इतिहास, पुराण और काव्य अनुसंधान के लिये अपार क्षेत्र उपस्थित करते हैं।

जिस साहित्य के ग्रन्थों की संख्या, अधिकांश नष्ट हो जाने पर भी पचास हजार से ऊपर चली गई है, जिस साहित्य की रचना, पठन-पाठन और चिन्तन में भारत के एक से एक श्रेष्ठ मस्तिष्क शताब्दियों तक लगे रहे हैं और आज भी जिस साहित्य का भव्य आलोक पाने के लिये देश-विदेशों के मनीषि-गण लालायित हैं, उस साहित्य के अध्ययन के लिये प्रत्येक भारतीय के हृदय में जिज्ञासा होनी ही चाहिए।

संस्कृत साहित्य का इतिहास दो भागों में बाँटा जा सकता है : वैदिक संस्कृत काल, जिसका समय लगभग २५०० से ५०० ई० पू० था, और बाद का लौकिक संस्कृत काल। वैदिक संस्कृत से मतलब वेदों में प्रयुक्त संस्कृत से है। लौकिक संस्कृत से अभिप्राय उस भाषा से है जो वेदों के बाद रचे गये ग्रन्थों में पाई जाती है तथा जो पाणिनि-व्याकरण के नियमों का अनुसरण

करती है। वैदिक और लौकिक संस्कृत में भाषा, व्याकरण, छन्द और स्वर की दृष्टि से बड़ा भेद है। स्वयं वैदिक साहित्य का इतना विस्तार है कि उस पर अंग्रेजी में कई स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य लौकिक संस्कृत का परिचय कराना है। लौकिक संस्कृत में काव्यों के अतिरिक्त व्याकरण, कोश, अलङ्कार, गणित, संगीत, ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद, धर्म-शास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थ भी रचे गये हैं। किन्तु इन सब विषयों का विवेचन इस पुस्तक के लघु कलेवर में होना असम्भव है। अतएव लौकिक संस्कृत के काव्य-साहित्य की रूपरेखा का आभास कराना ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य है। 'काव्य-साहित्य' का प्रयोग यहां व्यापक अर्थ में किया गया है। इसके अन्तर्गत महाकाव्य, नाटक, गद्य-साहित्य, गीतिकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, चम्पू, नीति-काव्य आदि सभी का समावेश अभिप्रेत है। इस काव्य-साहित्य का श्रीगणेश महाभारत और रामायण से होता है। अतः पुस्तक का आरम्भ भी इन्हीं महाकाव्यों के विवेचन से किया जा रहा है।



२

रामायण और महाभारत

रामायण और महाभारत हमारे प्राचीन इतिहास-पुराण (epics) हैं। प्रधान कथा के अतिरिक्त इनमें अनेक आख्यान भी हैं। महाभारत में इन आख्यानों की संख्या रामायण की अपेक्षा अधिक है। आख्यानों का मूल रूप ऋग्वेद-संहिता के संवादात्मक सूक्तों में पाया जाता है। 'आख्यान', 'इतिहास', और 'पुराण' ये शब्द 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में भी मिलते हैं। सूत्रग्रन्थों से पता चलता है कि श्रौत एवं गृह्य कृत्यों के समय इन वैदिक आख्यानों का प्रवचन तथा श्रवण हुआ करता था। अश्वमेध आदि दीर्घसत्रों के अवकाश-काल में कई देवताओं और वीरों के आख्यान सुनने की प्रथा प्रचलित थी[१]। समय पाकर इस प्रकार की कथाओं और आख्यानों के कई संग्रह भी हो गये; उदाहरणार्थ 'सुपर्णाख्यान' जिसमें कद्रू और विनता, सर्पों और गरुड़ की माताओं, की शत्रुता का आख्यान वर्णित है।

बाद के वैदिक ग्रन्थों में इतिहास-पुराण 'पंचम वेद'[२] माने गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि वैदिककाल में, संहिताओं के अतिरिक्त ऐसे कई आख्यानों के संग्रह थे जिनमें देवताओं, राक्षसों,

---

१—शतपथ ब्राह्मण १३।४।३, शाङ्खायन गृह्यसूत्र १।२२।११, आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१४।६, ४।६।६ पारस्कर गृह्य० १।१५।७, आपस्तम्बीय गृह्य० १४।४,

२—छान्दोग्य उपनिषद् ७।१,

नागों, ऋषियों तथा राजाओं की कथाएँ संकलित थीं। किन्तु यह बताना कठिन है कि ये उस काल में लिपिबद्ध ग्रन्थों के रूप में थीं अथवा केवल मौखिक रूप में प्रचलित थीं। निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में इस प्रकार की गाथाओं और आख्यानों को सुनाने वाले 'ऐतिहासिक' और 'पौराणिक' कहलाते थे।

इन आख्यानों और कथाओं का क्रमशः इतना विस्तार होता गया कि गौतम बुद्ध के पहले ही उनका एक बृहत संग्रह हो चुका था। ये कथाएँ गद्य-पद्य दोनों में थीं। रामायण और महाभारत, जैन और बौद्धों के पुराण तथा जातक ग्रन्थ इन्हीं कथाओं से भरे पड़े हैं। समय पाकर इन कथाओं में वीरों की स्तुतियां भी जोड़ दी गईं, जिन्हें 'गाथा नाराशंसी'[१] कहते हैं। वीरों की इन स्तुतियों का स्वरूप शीघ्र ही बृहत्काय हो गया, और इसी 'नाराशंसी' गाथाओं की प्रणाली का विकास रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों में पाया जाता है।

रामायण और महाभारत जब ग्रन्थरूप में लिपिबद्ध हुए, उसके बहुत पहले से ही लोग कौरव-पाण्डव-युद्ध तथा रामचरित-सम्बन्धी गीतों को गाते रहे होंगे। यह भी सम्भव है कि इन विषयों के अतिरिक्त अन्य राजवंशों तथा वीरों की गाथाओं का गान भी होता रहा हो। इस प्रकार की अनेक कथाएँ स्वयं रामायण-महाभारत में ही पाई जाती हैं।

इन वीर-स्तुतियों के रचयिता तथा प्रचारक 'सूत' कहलाते थे। वे इनको उत्सवों पर राजाओं के सामने सुनाया करते थे। इन्हीं सूतों की जातिविशेष[२] में रामायण और महाभारत के

१—शतपथ ब्रा० १३।५।६।८, आश्वलायन गृह्य० ३।३.
२—मनुस्मृति १०।११।१७.

आख्यानों की उत्पत्ति हुई। सूतों के अतिरिक्त एक ऐसा भी वर्ग था, जो इन स्तुतियों को कण्ठस्थ करके स्थान-स्थान पर जाकर इन्हें गाकर सुनाया करता था। यह वर्ग 'कुशीलव'१ कहलाता था। इन्हीं कुशीलवों ने रामायण और महाभारत का जनता में प्रचार किया।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सूतों और कुशीलवों द्वारा गाई जाने वाली इन्हीं वीरस्तुतियों का संग्रह करके किसी महान कवि या संग्रहकार ने इन्हें रामायण और महाभारत का रूप दे डाला। वास्तव में रामायण और महाभारत कई शताब्दियों में रची जाने वाली कविताओं एवं वीर-स्तुतियों के संग्रह हैं, जिनमें समय-समय पर नाना प्रकार के प्रक्षेपों और परिवर्तनों का समावेश होता रहा है। रामायण और महाभारत में प्राचीन पौराणिक कथाओं का केवल विस्तृत रूप ही नहीं है, अपितु इनमें काव्य-कौशल, धर्म, राजनीति, सदाचार, दर्शन, इतिहास आदि सभी विषयों का बड़ा सूक्ष्म एवं सुन्दर विवेचन है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ये प्रमुख आकर-ग्रन्थ हैं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के ये समुज्ज्वल दीप-स्तंभ हैं।

रामायण

वाल्मीकि-कृत रामायण की वर्तमान प्रति मे सात काण्ड हैं, जिनमें कुल २४००० श्लोक हैं। यद्यपि वाल्मीकि-रामायण का प्रचार सम्पूर्ण भारत में है, तथापि सब प्रान्तों में रामायण का पाठ एक-सा नहीं है। पाठ-भेद के अतिरिक्त रामायण की कुछ प्रतियों में कई ऐसे श्लोक, वृत्तान्त और सर्ग के सर्ग पाये जाते हैं जिनका अन्य प्रतियों में अस्तित्व ही नहीं है। रामायण के मुख्यतया तीन संस्करण हैं जिनका प्रचार भारत के भिन्न–भिन्न

१—रामायण १।४।

भागों में है—(१) बम्बई का संस्करण जिसका प्रचार उत्तरी और दक्षिणी भारत में है, (२) बङ्गीय संस्करण जिसका सम्पादन यूरोप में हुआ है और (३) काश्मीरी संस्करण जिसका उपयोग पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रधानतया होता है। इनमें बम्बई संस्करण ही सबसे प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। इन संस्करणों में जो परस्पर भेद है उसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि रामायण आरम्भ में लिखित रूप में नहीं थी। स्तुतिपाठकगण रामायण की कथा कंठाग्र ही सुनाते थे और सम्भव है कि इस प्रकार कई शताब्दियों बाद श्लोकों के क्रम में परिवर्तन हो गया हो। अतएव ग्रंथ लिखने के समय रामायण के परस्पर भिन्न पाठ भी उसी रूप में लिख लिये गये हों जिस रूप में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के स्तुतिपाठकगण उन्हें सुनाया करते थे।

रामायण के प्रक्षिप्त अंश—लोकप्रिय होने के कारण रामायण में निरन्तर कुछ न कुछ प्रक्षेप होते रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मूल ग्रन्थ में नहीं थे, वे बाद में जोड़ दिये गये हैं। प्रो० जेकॉबी[१] के मतानुसार रामायण के मूल पाठ में अयोध्याकाण्ड से युद्ध-काण्ड तक पांच ही काण्ड थे। युद्धकाण्ड के अन्त में काव्य की समाप्ति स्पष्ट जान पड़ती है। बालकाण्ड की भाषा अन्य काण्डों की भाषा से भिन्न है। उसमें कई उक्तियां ऐसी हैं जो बाद के पांच काण्डों से मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ, बालकाण्ड में राम के साथ ही उनके अन्य भाइयों का विवाह हो गया है, पर आगे चलकर शूर्पणखा के प्रसङ्ग में राम ने बताया है कि लक्ष्मण अभी तक अविवाहित हैं। केवल बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड

१—*Das Ramayana.*

में ही राम हमारे सामने विष्णु के अवतार के रूप में आते हैं। अन्य काण्डों में, कुछ प्रक्षिप्त स्थानों को छोड़कर१, वे एक आदर्श मानवीय महापुरुष की भाँति ही चित्रित किये गये हैं। इन प्रक्षिप्त दो काण्डों में, महाभारत की भाँति, कथानक का स्वाभाविक प्रवाह भी आनुषङ्गिक आख्यानों से बहुधा अवरुद्ध हो गया है। अन्य काण्डों में ऐसे आख्यानों की संख्या बहुत थोड़ी है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक प्रक्षिप्त अंश हैं ही नहीं। इन पांच काण्डों में भी कई प्रक्षेप हैं, पर वे भिन्न प्रकार के हैं। इन प्रक्षेपों की सृष्टि सूतों और कुशीलवों द्वारा हुई, जिन्होंने इन काण्डों के हृदयग्राही अंशों का विस्तार कर दिया। जब सहृदय श्रोतागण दशरथ, कौशल्या या सीता के करुण विलापों का वर्णन सुन नेत्रों से अश्रुविमोचन करने लगते, या राम-रावण के प्रचण्ड पराक्रमपूर्ण युद्धवर्णन से प्रभावित होने लगते, अथवा नीतियुक्त या शीलसौन्दर्य-परिचायक उक्तियों पर मंत्रमुग्ध होने लगते, तब इन कुशीलवों को वाग्विस्तार और अपनी कल्पना के प्रसार का अच्छा अवसर मिल जाता। इस प्रकार रामायण के प्रक्षेपों की सृष्टि हुई।

महाभारत की भाँति रामायण का नियत रूप लेखबद्ध होने पर ही निर्धारित हो सका। परन्तु यह तभी हुआ होगा जब रामायण इतनी प्रसिद्ध हो गई होगी कि उसका श्रवण और पारायण पुण्यकर्म माना जाने लगा२ और उसे लिपिबद्ध करने वाला

१—उदाहरणार्थ, युद्धकाण्ड के अन्त में जब सीता अग्नि-प्रवेश करने के लिये उद्यत होती हैं तब सब देवता घटनास्थल पर आकर राम की विष्णु के रूप में [illegible]त करते हैं।

२—आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
यः शृणोति सदा लोके नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ रा० ६।१२८।१०६

स्वर्ग का अधिकारी समझा जाने लगा१। इसलिये रामायण के प्रथम संग्रहकर्त्ताओं तथा सम्पादकों के समक्ष जो कुछ भी रामायण के नाम से निर्दिष्ट सामग्री प्रस्तुत की गई, उसका उन्होंने स्वागत किया और उसे आलोचक की दृष्टि से नहीं, अपितु भक्तिभावना-पूर्वक लिखित रूप दिया। यही कारण है कि रामायण के प्रक्षिप्त एवं अप्रक्षिप्त अंशों को अलग करना उतना ही दुस्तर है जितना कि नीर-क्षीर का पृथक्करण। यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्रचलित पाठभेदों को छोड़ दिया जाय तो रामायण के मूल रूप का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा करने से रामायण के २४००० श्लोकों में से केवल एक चौथाई शेष बच रहते हैं।

रामायण का समय—रामायण के रचयिता वाल्मीकि राम के समकालीन थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना राम के राज्यकाल में ही कर ली थी। अतः रामायण का रचनाकाल और राम का राज्यकाल, इन दोनों का समय एक ही था। पार्जिटर महोदय ने वंशावलियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि राम-रावण और कौरव-पाण्डव के युद्धों के बीच पाँच शताब्दियों का अन्तर था। उनके अनुसार महाभारत युद्ध ११०० ई० पू० में हुआ था और इस प्रकार राम १६०० ई० पू० में हुए थे। वाल्मीकि ने इसी समय रामायण की रचना की। कई शताब्दियों तक रामायण कुशीलवों द्वारा मौखिक रूप में व्यवहृत होती रही। उसका वर्तमान रूप सूत्रकाल (८००–६०० ई० पू०) में आकर लिपिबद्ध हुआ होगा, क्योंकि इसी समय के निकट परवर्ती ग्रंथ-कार कौटिल्य, भास और पतंजलि रामायण के मुख्य कथानक से

१—भक्त्या रामस्य ये चेमां संहितामृषिणा कृताम्।
ये लिखन्तीह च नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टपे॥ ६.१२८।१२०.

पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। पाणिनि ने तो रामायण के प्रमुख पात्रों के नामों की व्युत्पत्ति भी समझाई है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, यूरोपीय विद्वानों के अनुसार रामायण के मूलपाठ में बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड नहीं थे। अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड के अन्तर्गत जिस मानवीय रूप में राम का वर्णन मिलता है, उसने बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में आकर विष्णु के अवतार का रूप धारण कर लिया। इस रूप परिवर्तन में अवश्य ही कई शताब्दियों का समय लगा होगा। प्रथम और अन्तिम काण्ड में वाल्मीकि, एक तपोनिष्ठ महर्षि तथा राम के समकालीन दिखाये गये हैं। अतएव इन प्रक्षिप्त काण्डों की रचना के समय तक वाल्मीकि एक पौराणिक मुनि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। इन आधारों पर पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि रामायण के प्रक्षिप्त और अप्रक्षिप्त अंशों के बीच कई शताब्दियों का अन्तर रहा होगा। विण्टरनिट्ज महोदय का कथन है कि रामायण की मूल कथा की रचना वाल्मीकि ने प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर तृतीय शताब्दी ई० पू० में की थी तथा उसका वर्तमान स्वरूप द्वितीय शताब्दी ईसवी तक निर्धारित हुआ। भारतीय परम्परा इस मत को स्वीकार नहीं करती।

महाभारत के वनपर्व में राम की कथा वर्णित है, जिसमें वे विष्णु के अवतार माने गये हैं। महाभारत की कई कथाओं की सृष्टि रामायण के कथानकों के आधार पर हुई है। हरिवंश के समय रामायण का अभिनय भी होने लगा था। महाभारत के कई स्थलों पर वाल्मीकि का एक महान् ऋषि के रूप में उल्लेख मिलता है। इसलिये इतना निश्चित है कि महाभारत का वर्तमान रूप प्राप्त होने के पहले ही रामायण ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त

कर लिया था तथा उसकी गणना एक प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ के समान होने लगी थी। अतः यदि महाभारत ने अपना वर्तमान आकार-प्रकार प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में प्राप्त किया, तो रामायण उससे कई शताब्दी पूर्व ही अपने प्रस्तुत रूप में लिपिबद्ध हो गई होगी।

वाल्मीकि-रामायण के मूल रूप का समय निर्धारित करने के लिये हमें इस बात की परीक्षा करनी होगी कि उस पर बौद्धधर्म का कहाँ तक प्रभाव पड़ा। रामायण में एक ही स्थल है जहाँ गौतम-बुद्ध का उल्लेख मिलता[१] है, पर वह प्रक्षिप्त प्रतीत होता है, अतः मान्य नहीं हो सकता। वेबर आदि कतिपय पाश्चात्य मनीषियों का यह मत कि रामायण किसी बौद्ध पौराणिक गाथा के आधार पर रची गई है, सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त है। सम्पूर्ण रामायण में बौद्ध प्रभाव खोजने पर भी नहीं मिलेगा। इसके विपरीत बौद्धधर्म पर ही रामायण का प्रभाव प्रमाणित होता है। जिन दिनों 'त्रिपिटक' (बौद्ध धर्म-ग्रंथ) का संकलन हुआ था, उन दिनों राम की कथा अवश्य प्रचलित रही होगी। 'दशरथ जातक' इत्यादि कथाओं में इसके प्रमाण हैं। पहली शताब्दी ई० के बौद्ध कवि अश्वघोष की रचनाओं में रामायण से मिलते-जुलते अंश हैं। इसी समय के जैन कवि विमलसूरि ने रामायणी कथा के आधार पर 'पउमचरिय' नामक प्राकृत काव्य लिखा था। इन सब प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामायण की मूल कथा बौद्धयुग के पहले की है और उसकी रचना प्रायः ५०० ई० पू० से पूर्व हो चुकी थी।

उपर्युक्त विवेचन से रामायण के समय के विषय में निम्नलिखित चार सिद्धांत स्पष्ट होते हैं—(१) रामायण की मौलिक

१—'यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।' २।१०९।३४ यह श्लोक सब प्रतियों में नहीं पाया जाता।

कथा की रचना महर्षि वाल्मीकि ने राम के राज्यकाल (१६०० ई० पू०) में की थी। (२) पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड की रचना तथा अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक की रचना में पर्याप्त समय का अंतर था, और २०० ई० तक रामायण अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर चुकी थी (३) जिस समय महाभारत ने अपना वर्तमान रूप धारण किया उसके बहुत पहले ही रामायण एक प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ के रूप में गिनी जाने लगी थी। (४) रामायण पर बौद्ध धर्म अथवा यवनों (ग्रीकों) का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

आदि काव्य रामायण—रामायण संस्कृत साहित्य का आदि-महाकाव्य है। ऐतिहासिक-काल के अरुणोदय में रचे जाने पर भी यह ग्रन्थ अनुपम और अद्वितीय है। भारतीय साहित्य के इतिहास में वह शुभ दिन चिरस्मरणीय रहेगा जब तमसा के तट पर महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से यह करुणामयी वाग्धारा फूट पड़ी थी—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

भारतीय संस्कृति का जैसा समुज्ज्वल, सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र इस महाकाव्य में अंकित हुआ है, वैसा संसार के किसी अन्य देश के महाकाव्य में वहाँ की संस्कृति का चित्र शायद ही उतरा हो[१]। 'मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिये ही महर्षि वाल्मीकि ने इस महाकाव्य की रचना की है। इस रामायण की कथा से भारत के जनसाधारण, आबाल-वृद्ध-वनिता केवल शिक्षा ही नहीं पाते, आनन्द भी पाते हैं, केवल इसे

१—रामायणकालीन संस्कृत के विस्तृत विवेचन के लिये देखिए—S. N. Vyas: *Indian Culture in the Ramayana Age.*

शिरोधार्य ही नहीं करते, हृदय में भी रखते हैं, और यह उनका केवल धर्मशास्त्र ही नहीं है, काव्य भी है।'

रामायण में महाकाव्यों के सभी प्रमुख लक्षण—विषय की उदात्तता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास तथा भाषा का सौष्ठव—पाये जाते हैं। विद्वानों ने इसकी रचनाशैली, विचारों की मनोहरता तथा रमणीय दृश्यों के चित्रण के कारण अलंकृत शैली के काव्यों में रायायण को प्रथम स्थान दिया है। रामायण में होमर, वर्जिल और मिलटन की अपेक्षा कहीं अधिक भाषा का गांभीर्य, छन्दों का औचित्य और रसों का परिपाक है। इस महाकाव्य में मानव अन्तः प्रकृति का जैसा स्वाभाविक, सूक्ष्म एवं सुन्दर विश्लेषण हुआ है वैसा ही वाह्य-प्रकृति के दृश्यों का भी सजीव और यथातथ्य चित्रण हुआ है। मानव-मनोवृत्तियों का जैसा व्यापक और विशद निरूपण इसमें हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय सभ्यता का यह इतिहास ग्रन्थ भी है। किन्तु यह आधुनिक इतिहास ग्रन्थों के समान एकमात्र घटनावलियों या तिथियों का इतिहास नहीं अपितु भारतीय संस्कृति और सभ्यता का चिरन्तन आदर्श ग्रन्थ है।

रामायण से पूर्व लौकिक छन्द का मानो अवतार ही नहीं हुआ था—'आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः'। वाल्मीकि-रामायण हमारे देश के प्रायः प्रत्येक युग के बड़े-बड़े कवियों और नाटककारों का आदर्शभूत ग्रन्थ रहा है—'मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः'। संसार में इस प्रकार का लोकप्रिय काव्य-ग्रन्थ मिलना कठिन है। सारा भारत इसे एक स्वर से पवित्र और आदर्श काव्य-ग्रन्थ स्वीकार करता है। भारतीय साहित्य इस महाकाव्य से अत्यधिक अनुप्राणित हुआ है। क्या कालिदास और भवभूति जैसे प्राचीन महाकवियों की रचनाओं पर, क्या मध्यकालीन गोस्वामी तुलसीदास के लोक-साहित्य पर और क्या

समग्र भारतीय लोक-जीवन पर इसका प्रभाव अक्षुण्य रूप से पड़ा है।

कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम्।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवाः ॥

महाभारत

यह सभी जानते हैं कि महाभारत में कौरवों और पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है। किन्तु जिन्होंने इस महाग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ा है वे स्वीकार करेंगे कि महाभारत केवल इस युद्ध की कहानी नहीं है। इसका बहुत सा अंश कौरव-पाण्डव युद्ध से किसी प्रकार भी संबद्ध नहीं है। समय के दीर्घ प्रवाह में मूल कथा के चारों ओर अनेक अन्य आख्यानों का एक बहुत बड़ा जमघट-सा लग गया। यह सब परिवर्तन-परिवर्धन किस प्रकार हुआ, इसकी चर्चा संक्षेप में पहले कर लेना आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है[१] कि महाभारत-युद्ध का वर्णन पहले वीर-गीतों के रूप में प्रचलित रहा होगा। संभव है कि किसी महान् कवि ने इन गीतों का संग्रह करके उन्हें एक वीर-रसात्मक काव्य का स्वरूप दे डाला होगा। यही वीर-काव्य महाभारत का मूल रूप या बीज कहा जा सकता है। किन्तु सैकड़ों वर्षों में इस वीर-काव्य के चारों ओर विभिन्न विषयों और वृतान्तों का जाल-सा बिछ गया। पहले तो महाभारत-युद्ध के प्रधान पात्रों के आरम्भिक जीवन का वृत्त तथा उनके अनेक पराक्रमों का विस्तृत वर्णन इसमें जोड़ दिया गया। इसी सिलसिले में और भी कई वीरों की गाथाओं का इसमें समावेश हो गया। ये गाथायें सूतों द्वारा गाई जाती थीं। इस प्रकार

१—Winternitz: *History of Indian Literature, Vol. 1. p. 317.*

महाभारत केवल वीर-काव्य ही नहीं रह गया, वरन् प्राचीन चारण-गीतों (bardic songs) का प्रकाण्ड संग्रह भी बन गया।

भारत के प्राचीन साहित्य के निर्माण में ब्राह्मणों का बड़ा हाथ रहा है। इसलिये ज्यों-ज्यों इन वीर-गाथाओं का सर्व-साधारण में प्रचार बढ़ता गया त्यों-त्यों ब्राह्मण भी उन्हें अपने सांचे में ढालने के लिये उत्सुक होते गये उन्होंने इन लौकिक गाथाओं में अपने धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश कर इसे एक धार्मिक ग्रन्थ का रूप दे डाला। इस प्रकार देवता-देवियों के आख्यानों, ब्राह्मण-वर्ग के उपदेशों तथा दार्शनिक चर्चाओं ने महाभारत को कलेवर-वृद्धि की। समाज की श्रद्धा प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्राह्मणों ने इसमें ऋषि-महर्षियों के इतिहास भी भर दिये। किन्तु यह कार्य वेद-पारंगत ब्राह्मण विद्वानों का नहीं था। यदि ऐसा होता तो महाभारत में भी यज्ञ-यागादि क्रियाकलाप की भरमार होती। वास्तव में यह कार्य पुरोहितों और राजाओं के सभापण्डितों द्वारा सम्पन्न हुआ। इन अल्प-शिक्षित ब्राह्मणों ने स्थानीय आख्यानों तथा विष्णु और शिव की भक्ति के उपाख्यानों को छन्दोबद्ध करके महाभारत में सम्मिलित कर दिया। ब्राह्मण-पुरोहित के अतिरिक्त एक वर्ग और भी था जिसने महाभारत के निर्माण में योग दिया। यह वर्ग साधु, सन्यासी, भिक्षुकों का था। इनका अपना अलग साहित्य था। इस साहित्य में साधु-सन्तों के चरित्रों का वर्णन था। त्याग, वैराग्य, दया, क्षमा, उदारता, करुणा आदि गुणों का प्रचार करना ही इस साहित्य का लक्ष्य था। इन गुणों के दृष्टान्तस्वरूप अनेक पशु-पक्षियों, देव-दानवों, भूत-प्रेतों की कहानियाँ गढ़ डाली गईं। यह 'सन्त साहित्य' (ascetic poetry) भी महाभारत का एक अङ्ग बन गया।

अतएव महाभारत कोई एक ग्रन्थ नहीं है। यह एक प्रकाण्ड संग्रह ग्रन्थ है। यह इसके प्रत्येक पर्व की पुष्पिका[१] से ही प्रमाणित होता है, जिसमें इसके लिये 'संहिता' अर्थात् संग्रह ग्रंथ का प्रयोग हुआ है। 'यह कविरूपी माली का यत्नपूर्वक संवारा हुआ उद्यान नहीं है, जिसके लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, बल्कि यह अपने-आपकी जीवनी-शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्न-परिवर्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है।' महाकाव्य या पुराणमात्र कहने से इसकी व्यापकता का बोध नहीं हो सकता। वास्तव में यह एक विशाल विश्व-कोष है जिसमें प्राचीन भारत को ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक आदर्शों की अमूल्य निधि संचित है। स्वयं महाभारत में ही लिखा है कि वह सर्वप्रधान काव्य, सब दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास, चरित्र-चित्रण की खान और पंचम वेद है। 'जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है।'[२] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

महाभारत के कर्ता—प्रसिद्ध है कि महाभारत में एक लाख अनुष्टुप छन्द हैं तथा इसके रचयिता महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि महाभारत

१—'इति श्रीमन्महाभारते वैयासिक्यां शतसाहस्र्यां संहितायां ......।'

२—१/१/२६१-६३.

की रचना कई शताब्दियों में अनेक कवियों की लेखनी से हुई। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि महाभारत में भाव और भाषा की एकरूपता नहीं पाई जाती। पाश्चात्य विद्वान् हमारे आर्ष-ग्रन्थों को श्रद्धालु भारतीय दृष्टि से नहीं, बल्कि साहित्य के आलोचक की दृष्टि से देखते हैं। स्वयं महाभारत में कहा गया है कि व्यास ने 'तीन वर्ष तक लगातार परिश्रम करके इस अद्भुत आख्यान महाभारत की रचना की१।' व्यासदेव ने महाभारत की कथा वैशम्पायन नामक अपने शिष्य को सुनाई। इस कथा को वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रोपौत्र जनमेजय के सर्पसत्र में सुनाया। बाद में लोमहर्षण के पुत्र सौति ने इस कथा को शौनकादि ऋषियों को तीसरी बार सुनाया। इस प्रकार महाभारत को तीन बार तीन वक्ताओं ने तीन प्रकार के श्रोताओं को सुनाया था। साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जनमेजय के बीच हुए होंगे उनके कारण व्यास का मूल ग्रन्थ कुछ अवश्य परिवर्धित हो गया होगा। इसी प्रकार सौति और शौनकादि ऋषियों के बीच जो संवाद हुए होंगे, उनसे वैशम्पायन के ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि हुई होगी। अतः व्यास के ग्रन्थ को वैशम्पायन ने बढ़ाया और वैशम्पायन के ग्रन्थ को सौति ने बढ़ा कर एक लाख श्लोकों का कर दिया।

इस प्रकार महाभारत के तीन रूपान्तर हुए। आरम्भ में व्यास ने जिस ग्रन्थ की रचना की, उसका नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने इसी को बढ़ा कर 'भारत' का नाम दिया। अंत में सौति ने पूर्ण परिवर्धन करके इसे 'महाभारत' बना दिया। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार व्यास के 'जय' ग्रन्थ में केवल

१—त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम्॥

८८०० श्लोक थे, यद्यपि यह संख्या महाभारत में आये हुए कूट श्लोकों की है[१]। वैशम्पायन के 'भारत' में श्लोकों की संख्या २४,००० हो गई—'चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्'। सौति ने 'भारत' में और भी अनेक आख्यानों और उपाख्यानों को जोड़ कर तथा अठारह पर्वों में विभाजित कर उसे एक विशालकाय 'महाभारत' का रूप दे डाला। साथ ही उसमें 'हरिवंश' नाम का एक बृहत् परिशिष्ट भी जोड़ दिया। इस प्रकार महाभारत एक लाख श्लोकों से युक्त होकर एक प्रकाण्ड ग्रन्थ होगया।

किन्तु महाभारत के अनुसार वास्तविक श्लोक-संख्या हरिवंश सहित ९६,२४४ है। क्योंकि अनुक्रमणिकाध्याय में दी हुई सूची के अनुसार महाभारत में कुल १९२३ अध्याय और ८४,२४४ श्लोक हैं। खिलपर्व हरिवंश के १२००० श्लोक और जोड़ दिये जाँय तो कुल ९६,२४४ श्लोक होते हैं। यही वर्तमान महाभारत की श्लोक-संख्या है। आज कल की कई प्रतियों में पूरे एक लाख तथा इससे भी अधिक श्लोक मिलते हैं।

महाभारत में प्रक्षेप[२]—महाभारत की कथा शताब्दियों तक सूतों की रसना पर फलती-फूलती रही। मुख्य युद्ध का वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र के सामने किया था। सजय भी सूत थे और सौति भी सूत-पुत्र ही थे। ये सूत स्वभावतः अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिये उनके मनोनुकूल ही बात कहते थे। संजय कौरवों के आश्रित थे, अतः जो युद्ध-वर्णन उन्होंने किया उसमें पाण्डव ही अन्याय तथा छल का आश्रय लेकर कौरवों का संहार करते हुए चित्रित किये गये हैं। किन्तु वैशम्पायन ने पाण्डवों के

---

१ अष्टौ श्लोक सहस्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

२ Winternitz: *H. I. L. vol. 1,pp. 454-462.*

वंशज जनमेजय को जो कथा सुनाई है उसमें स्पष्ट रूप से पाँडवों की प्रशंसा की गई है। इस वैषम्य के कारण महाभारत में कई स्थलों पर परस्पर विरुद्ध उक्तियां मिलती हैं। भाषा, शैली और छन्द की दृष्टि से भी महाभारत के भिन्न भिन्न भागों में बड़ा अंतर है। वैदिक आर्ष प्रयोग, पौराणिक कथा-शैली और अलंकृत काव्य-शैली, गद्य, पद्य और गद्य-पद्य मिश्रित स्थल, वैदिक त्रिष्टु्‌ और लौकिक अनुष्टुप् छन्द आदि सभी अनूठी बातें महाभारत में पाई जाती हैं। सारांश यह कि महाभारत एक हाथ का अथवा एक ही समय में लिखा हुआ नहीं प्रतीत होता। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि महाभारत के प्रथम दो अध्यायों में जो विषय-सूची दी गई है वह आगे वाले अंशों से मेल नहीं खाती।

महाभारत का समय—सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में 'भारत' या 'महाभारत' का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में और वेदों में भी कुरु और पांचाल नामक दो झगड़ने वाली जातियों का वर्णन मिलता है तथा कुरुक्षेत्र, परीक्षित, जनमेजय, दुष्यन्तपुत्र भरत, धृतराष्ट्र का भी उल्लेख है। शांखायन श्रौतसूत्र१ में कुरुक्षेत्र के उस युद्ध का उल्लेख है जिसमें कौरवों का नाश हो गया। पाणिनि२ ने युधिष्ठिर, भीम, विदुर तथा महाभारत, इन शब्दों की व्युत्पत्ति समझाई है और पतंजलि (१५० ई० पू०) ने तो महाभारत के युद्ध का स्पष्ट उल्लेख ही किया है। अतः यह सिद्ध है कि महाभारत के कुछ आख्यान तथा उसका मूल ऐतिहासिक कथानक उत्तर-वैदिक काल (लगभग १००० ई० पू०) में प्रचलित हो चुका था।

यूरोपीय विद्वानों का कथन है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की चौथी शताब्दी तक निर्धारित हो चुका था। इसके

१—१५।१६. २—८.३।९५; ३.२१।६२; ६ २।३८.

समर्थन में वे कुछ शिलालेखों तथा साहित्यिक प्रमाणों का आश्रय लेते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट (७०० ई०) ने महाभारत को व्यास-रचित एक महान् स्मृति-ग्रंथ माना है तथा अपने ग्रन्थों में प्रायः सभी पर्वों से उद्धरण दिये हैं। सुबन्धु और बाणभट्ट[१] (६००-६५० ई०) भी महाभारत के काव्य-रूप से परिचित हैं। केम्बोडिया के ६०० ई० के एक शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि छठी शताब्दी में महाभारत का प्रचार भारत के बाहर दूसरे देशों में भी हो चुका था। ४५०-५०० ई० के आस-पास के कई दानपत्र मिलते हैं जिनमें महाभारत के श्लोक शास्त्रीय प्रमाण मान कर उद्धृत किये गये हैं। ४४२ ई० के गुप्तकालीन एक लेख में महाभारत का उल्लेख 'शतसाहस्रयां संहितायां' इस प्रकार किया गया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ४०० ई० तक स्थिर हो चुका था[२]।

इसके विपरीत श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय ने अपनी पुस्तक 'महाभारत मीमांसा' में एक ऐसे प्रबल प्रमाण का उल्लेख किया है, जिसके आधार पर महाभारत का रचना काल और भी कई सौ वर्ष पहले का स्थिर होता है। वैद्य महोदय का कहना हैं कि हाप्किस जैसे विद्वानों को डायो क्रायसोस्टोम नामक उस ग्रीक लेखक के विषय में कुछ भी पता नहीं जो सन् ५० ई० में दक्षिण भारत के पाण्ड्य देश में आया था। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' है। इसमें सन्देह नहीं कि इलियड से उसका अभिप्राय

१—हर्षचरित के आरम्भ के पद्य ४—१०.

२—Hopkins in *Camdridge Hist. of India, Vol 1. p. 258* and S. Levi in *Journal Asiatique, 1915, p. 122.*

महाभारत से ही है[१]। मलाबार जैसे सुदूर प्रान्त में उक्त ग्रीक लेखक को इस एक लाख श्लोकों वाले महाग्रंथ का पता चला, इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय महाभारत का प्रचार समूचे भारत में हो चुका था तथा उसकी रचना ५० ई० के पूर्व हो गई थी। अतः महाभारत के समय की नीचे की मर्यादा ईसवी सन् के बाद की नहीं हो सकती। महाभारत में बुद्ध और बौद्ध-धर्म सम्बन्धी कई सिद्धान्तों का तथा यवनों (ग्रीकों) का भी उल्लेख कई बार आया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाभारत की रचना बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति और विस्तार तथा सिकन्दर के आक्रमण (३२० ई० पू०) के बाद ही हुई होगी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि महाभारत का एक लाख श्लोकों वाला वर्तमान रूप ३२० ई० पू० से लेकर ५० ई० के बीच में निर्धारित हो चुका था।

रामायण और महाभारत पर एक तुलनात्मकदृष्टि—
रामायण और महाभारत दोनों भारतवर्ष के प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ हैं, जिनका देश के जातीय जीवन पर, जनता के धार्मिक और नैतिक विचारों पर तथा साहित्य के विभिन्न अंगों पर अपरिमित प्रभाव पड़ा है। दोनों के वीर महापुरुषों और वीराङ्गनाओं का ऐतिहासिक अस्तित्व हमारे देश में श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक उसी निःसंदिग्ध रूप से मान लिया गया है जिस प्रकार इस युग के राणा प्रताप और शिवाजी आदि व्यक्तियों का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर एक स्वर से स्वीकृत हो चुका है। राम और कृष्ण की भक्ति ने करोड़ों भारतीय नर-नारियों को एकता के सूत्र में पिरो दिया है। 'अतएव शताब्दियों पर

१—विन्टरनिट्ज महोदय का यह अनुमान कि डायो का अभिप्राय इलियड के भारतीय अनुवाद से है सर्वथा भ्रान्त एवं निराधार है।

शताब्दियां बीतती चली जाती है किन्तु रामायण और महाभारत का स्रोत भारत में शुष्क नहीं हुआ। भारतवर्ष की जो साधना, जो आराधना और संकल्प हैं, उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्य-प्रासादों के भीतर चिरकालिक सिंहासन पर विराजमान हैं।

रामायण और महाभारत की तुलना करने के लिये सर्व-प्रथम दोनों ग्रंथों की पारस्परिक समानताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। महाभारत का रामोपाख्यान रामायण का ही संक्षिप्त रूप है। राम की कथा द्रौपदी के अपहरण के अवसर पर युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिये सुनाई जाती है। जयद्रथ द्वारा द्रौपदी का अपहरण रामायण के सीताहरण के आधार पर रचा गया मालूम होता है। किन्तु जहां रामायण के कथानक में सीताहरण की घटना प्रमुख है, वहां भारत के अन्तर्गत द्रौपदी-हरण का वृत्तान्त आनुषंगिक और गौण है। इसके अतिरिक्त राम और अर्जुन की वीरता में, चौदह तथा तेरह वर्ष के बनवास मे, सीता और द्रौपदी के स्वयंबरों में तथा देवताओं से दिव्यास्त्रों की प्राप्ति में— रामायण और महाभारत के कथांशों में समानता है। रामायण में पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर महाभारत में राम की कथा का ही नहीं, बल्कि बाल्मीकीय रामायण का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कि महाभारत में१ रामायण का एक श्लोक२ भी उद्धृत किया गया हैं। अतः संभव यह है कि महाभारत ने ही रामायण से कुछ कथानक लिये हों, न कि रामायण ने महाभारत से, दोनों ग्रन्थों की उत्पत्ति एकही स्रोत से, अर्थात् चारणगीतों से, बताई जाती है। इसके कई प्रमाण दोनों के

१—७।१४३।६६ २—न हन्तव्यः स्त्रियश्चेति यद्ब्रवीषि प्लवंगम ।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत् ॥ ६।८१।२८

तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त होते हैं। यद्यपि महाभारत के छन्द रामायणके छन्दों की भांति परिष्कृत नहीं है, तथापि यह स्पष्ट है कि महाभारत के पिछले पर्वों के छन्द रामायण के छन्दों के ही तुल्य हैं। रामायण और महाभारत में कई कथाएं तथा वंशावलियां एक-सी हैं। दोनों ग्रंथों की भाषा की समीक्षा करने पर भी ज्ञात होता है कि उनमें कई उपमाएँ, श्लोकार्ध तथा लोकोक्तियां अक्षरशः समान हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि इन कथाओं और लोकोक्तियों का एक ही उद्गम था। रामायणकालीन सभ्यता महाभारत-कालीन सभ्यता की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंस्कृत है, फिर भी दोनों में पुरोहितों, शिष्ट-पुरुषों, निम्नवर्ग तथा सेवकों की जीवन-चर्या एक-सी चित्रित है। इससे प्रतीत होता है कि रामायण और महाभारत की कथाओं का मूल आधार सूतों में प्रचलित कोई गीत-संग्रह रहा होगा।

यद्यपि, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, दोनों ग्रंथों में अनेक समानताएं हैं, तथापि सूक्ष्म अध्ययन से दोनों में कई भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। रामायण का कलेवर महाभारत की अपेक्षा बहुत छोटा है। उसके काण्ड तथा कथावस्तु सुसंबद्ध हैं। रामायण जहां एक व्यक्ति की कृति है वहां महाभारत में अनेक कर्त्ताओं की छाप है। इसी कारण जहां एक ओर रामायण में भाव, भाषा और रचना शैली की एकरूपता प्रायः समग्र ग्रंथ में देख पड़ती है, वहां दूसरी ओर महाभारत के भिन्न-भिन्न भागों में भाषा और रचना-शैली का भेद स्पष्ट लक्षित होता है। रामायण में एकमात्र लौकिक छन्दों का प्रयोग हुआ है, महाभारत में अनेक स्थलों पर वैदिक छन्द भी मिलेंगे। रामायण आदर्श की दृष्टि से लिखी गई है, महाभारत वास्तविक घटनात्मक दृष्टि से। रामायण के पात्र आदर्श हैं, उसमें नायक का पक्ष सर्वथा निर्दोष और प्रतिनायक का सर्वथा सदोष चित्रित किया गया है। किंतु महाभारत की

कथा ऐसी नहीं। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पात्र हैं। रामायण में आदर्श भ्रातृप्रेम का चित्रण है तो महाभारत की भित्ति ही भ्रातृद्रोह है। रामायण 'राम + अयन' है, उसमें राम के चरित्र का ही प्राधान्य है तो महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का कानन या महाकान्तार है। वह एक व्यक्ति की गुण-गाथा नहीं है। रामायण साधारणतया ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म का दिग्दर्शन कराती है; महाभारत हिन्दू धर्म का बहुविध स्वरूप उपस्थित करता है। महाभारत में में अनेक असम्बद्ध विषयों के रहते हुए भी हमें उसमें उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का जैसा स्वाभाविक और सजीव चित्रण उपलब्ध होता है, वैसा रामायण में नहीं।

रामायण और महाभारत में सबसे बड़ा भेद संस्कृति का है। धर्म ही रामायण-कालीन संस्कृति का प्राण था। महाभारत का युग कर्मप्रधान था। रामायण में करुणा और भावुकता, सरलता और संयम का साम्राज्य है; महाभारत में दर्प और औद्धत्य, उग्रता और तेज का प्राधान्य है। रामायण में पद-पद पर धर्म की दुहाई दी गई है; धर्म ही राम को वन जाने, अनेक कष्ट सहने, यहां तक कि सीता का परित्याग करने को बाध्य करता है। पर महाभारत में स्वाभिमान का दर्प उसके पात्रों की रग-रग में भरा है—गलती करने वाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपनी घृणा का खुल कर प्रदर्शन करता है। रामायण पढ़ते समय हम भक्ति-रस में डूबने-उतराने लगते हैं, पर महाभारत पढ़ते समय पाठक 'एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं, जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर चूर-चूर हो

जातीं हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता।' यदि महाभारत में राम जैसे मर्यादापुरुषोत्तम, भरत जैसे भाई, हनूमान जैसे भक्त और सीता जैसी पतिव्रता नारी नहीं है, तो रामायण में भी भीष्म जैसे तेजस्वी और ज्ञानी, बलराम जैसे फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी जैसी तेजोद्दप्त नारियाँ और श्रीकृष्ण जैसे प्रत्युत्पन्नमति और गम्भीर तत्वदर्शी पात्र दुर्लभ हैं।

महाभारत की संस्कृति रामायणकालीन संस्कृति के समान समुन्नत एवं सुसंस्कृत नहीं प्रतीत होती। कहाँ श्री रामचन्द्र जी का परम पावन एवं आदर्श आचरण और कहाँ युधिष्ठिर का द्यूत आदि कर्मों में प्रवृत्त होना; कहाँ लक्ष्मण भरतादि का वह भ्रातृस्नेह और कहाँ युधिष्ठिर के प्रति भीम और अर्जुन द्वारा अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग; कहाँ राम और भरत की राज्य के प्रति अनिच्छा और कहाँ दुर्योधन की यह राज्यलिप्सा—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव'—इस प्रकार दोनों के सांस्कृतिक आदर्शों में महान् अन्तर देख पड़ता है। रामायण की प्रजा राज्यकार्य में अधिक योग देती थी और अन्याय का विरोध करने में नहीं हिचकती थी। पर महाभारत की प्रजा कठोर शासकवर्ग के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर सकती थी। सीता को कैकेयी द्वारा तपस्विनी के वस्त्र दिये जाने पर जहाँ प्रजा एक साथ चिल्ला उठती है—धिक् त्वां दशरथम्', वहाँ धृतराष्ट्र की राजसभा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर भी भीष्म और द्रोण जैसे वयोवृद्ध पुरुष भी कुछ नहीं बोलते। एक ओर रामचन्द्र जी के वनगमन के समय अयोध्यावासी उनके साथ चलने के लिये उद्यत हो जाते हैं, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर के दो बार हस्तिनापुर से निकाले जाने पर नगर निवासी कौरवों के भय से खुलकर शोक भी नहीं प्रकट कर सकते। वैवाहिक जीवन की दृष्टि से भी दोनों संस्कृतियों में भेद है। कहाँ सती साध्वी सीता का पतिव्रत और

श्रीराम का पत्नीव्रत और कहाँ सत्यवती और कुन्ती की कुमारावस्था में ही सन्तानोत्पत्ति, पाण्डवों के बहुविवाह और द्रौपदी के पांच पति। युद्ध के आदर्शों में भी परिवर्तन हो गया था। युद्धक्षेत्र में रावण के घायल हो जाने पर राम कहते हैं कि घायल का बध करना धर्म-विरुद्ध है, तो महाभारत में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का बध, रथ से उतरे हुए कर्ण का बध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदी के पांचों पुत्रों का बध किया जाता है। राम-रावण या लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध में वह क्रोधोन्मत्त, घृणासूचक संलाप या प्रलाप नहीं पाया जाता जो भीम और दुर्योधन, अर्जुन और कर्ण के बीच होता है।

रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था महाभारत के समय से भिन्न थी। रामायण के समय भारत पर वैदेशिक प्रभाव नहीं पड़ा था, क्योंकि इसमें विदेशियों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दो-चार स्थलों पर यवनों के तीप्र जो संकेत किया गया है उससे राजनीति में विदेशियों का कोई हस्तक्षेप नहीं लक्षित होता। पर महाभारत के समय देश में विदेशियों (म्लेच्छों) का पर्याप्त प्रसार हो चुका था। लाक्षागृह का निर्माता पुरोचन म्लेच्छ था। म्लेच्छों की अपनी म्लेच्छ भाषा भी थी—विदुर पाण्डवों को लाक्षागृह का कपट-रहस्य म्लेच्छ भाषा में ही समझाते हैं। द्रोण-पर्व में स्पष्ट उल्लेख है कि महाभारत युद्ध में कई म्लेच्छ राजाओं ने भी भाग लिया था। वाल्मीकि के अनुसार दक्षिण-भारत में कोई समृद्ध राज्य नहीं थे और वहाँ विराध, कबन्ध जैसे भयानक राक्षसों का ही निवास था। किन्तु महाभारत के समय दक्षिण में राजनीतिक प्रगति पर्याप्त हो चुकी थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दक्षिण-भारत के भी कई नृपति आमन्त्रित किये गये थे।

धार्मिक विश्वास और नैतिक नियमों में भी परिवर्तन हो गया था। रावण सीता का बलात् अपहरण करता है, पर जब

हनुमान् सीता को राम के पास अपनी पीठ पर बैठा कर ले जाना चाहते हैं तो सीता परपुरुषस्पर्श के भय से यह प्रस्ताव अस्वीकार कर देती हैं। रावण-वध के अनन्तर सीता को अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिये अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है। किन्तु काम्यकवन में जब जयद्रथ द्रौपदी का बलात् अपहरण करता है, तब उसके पतिगण द्रौपदी के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी सन्देह नहीं करते। इससे प्रतीत होता है कि राम के समय पतिव्रत की भावना अधिक कठोर थी तथा नैतिक आदर्श अत्युच्च था।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि महाभारत में वर्णित सभ्यता अशान्तिमय एवं अव्यवस्थित है, किन्तु रामायण की सभ्यता अपेक्षाकृत अधिक शिष्ट, सुसंस्कृत एवं आदर्श है। इस आधार पर पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि महाभारत-कालीन संस्कृति रामायणकालीन संस्कृति की अपेक्षा प्राचीनतर है। उसके मतानुसार महाभारत की विषम एवं अव्यवस्थित संस्कृति कालान्तर में रामायण की मर्यादित एवं सुव्यवस्थित सभ्यता में परिवर्तित हो गई। किन्तु पाश्चात्यों के इस अनुमान के मूल में उनका विकासवाद का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक सभ्य एवं शिष्ट बनता जाता है। हमारा भारतीय दृष्टिकोण इसके विपरीत है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रम मनुष्य की उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी प्रकृति का ही परिचायक है। रामायण सत्ययुग की झांकी कराती है तो महाभारत कलियुग के आगमन की सूचना देता है। रामायण सुख, शान्ति, समृद्धि और व्यवस्था के युग का प्रतिनिधित्व करती है; महाभारत प्रचण्ड संक्षोभ, विप्लवकारी परिवतन तथा संहारकारी से युद्ध के युग का दिग्दर्शन कराता है।

३

महाकाव्य

संस्कृत काव्य-साहित्य के मुख्यतः दो भेद हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य-काव्य अथवा नाटकों का विवेचन अगले अध्याय में होगा। श्रव्य-काव्य के तीन उपभेद हैं—पद्यकाव्य, गद्यकाव्य तथा चम्पू, जिसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग होता है। पद्यकाव्य के पुनः तीन उपभेद हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक। गद्यकाव्य के भी दो प्रमुख उपभेद हैं—कथा और आख्यायिका। इस अध्याय में केवल महाकाव्यों का विवेचन होगा।

महाकाव्य की उत्पत्ति तथा विकास—संस्कृत काव्य की झलक सबसे पहले हमें ऋग्वेद में मिलती है। ऋग्वेद में ऐसे कई मन्त्र हैं जिनमें उनके रचयिता प्रार्थना के स्तर को त्याग कर कवि-प्रतिभा का भी परिचय देते हैं। किन्तु जिसे हम वास्तविक काव्यशैली कहते हैं उसका पूर्ण परिपाक वैदिक काल में नहीं माना जा सकता। 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में कुछ स्थलों पर तथा इतिहास पुराणकाल के 'सुपर्णाध्याय' नामक आख्यान में भी काव्य की आभा स्पष्ट प्रतीत होती है। पर वस्तुतः संस्कृत का आदि-महाकाव्य वाल्मीकिकृत रामायण ही है। यहीं उस काव्यधारा का उद्गम है जो भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि तथा माघ आदि विभिन्न स्रोतों में विभक्त होकर संस्कृत काव्यकानन को चिरकाल से सींचती चली आई है। रामायण की सरल, मनोहर

एवं अलंकृत काव्यशैली ने कालिदास और अश्वघोष जैसे महाकवियों को पूर्णतया प्रभावित किया तथा परवर्ती कवियों के समक्ष महाकाव्य का आदर्श उपस्थित किया। रामायण की भाँति महाभारत में भी कहीं-कहीं काव्यशैली लक्षित होती है किन्तु उसका मुख्य विषय काव्य नहीं अपितु इतिहास है। रुद्रट-कृत 'काव्यालंकारसूत्र' के टीकाकार नमसाधु लिखते हैं कि स्वयं पाणिनि (४०० ई० पू०) ने 'पातालविजय' और जाम्बवतीविजय' नामक दो काव्यों की रचना की थी। पतंजलि (१५० ई० पू०) अपने महाभाष्य में काव्यसाहित्य से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। एक ओर वे अपना 'भारत' से परिचय प्रकट करते हैं तो दूसरी ओर वे 'कंसवध' और 'बलिवन्ध' नामक नाटकों का निर्देश करते हैं। जहां वे 'वाररुचकाव्य' और 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' आदि आख्यायिकाओं का उल्लेख करते हैं वहां वे काव्यशैली में रचित पद्यों की कतिपय पंक्तियां भी उद्धृत करते हैं। यद्यपि ये रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं फिर भी उनके नामोल्लेख से यह सिद्ध होता है कि ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी के बहुत पहले काव्य-साहित्य की समस्त शाखाओं—महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य, लोककथा, नीतिकथा तथा नाटक—का पूर्ण प्रसार था।

ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास के कुछ शिलालेख मिलते हैं, जिनकी भाषा और शैली को देखने से पता चलता है कि उस समय तक काव्य—साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। रुद्रदामन का गिरनार वाला शिलालेख (१५० ई०) अलंकृत काव्य-शैली का सुन्दर नमूना है। उसके 'स्फुटलघुमधुरचित्र-कान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य' समास से यह विदित होता है कि लेखक किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र से परिचित था। लगभग इसी समय के पुलुमायी के नासिक वाले प्राकृत शिलालेख से भी

यही बात सिद्ध होती है[१]। प्रयाग के अशोकस्तम्भ पर खुदी हरिषेण-कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की शैली इस बात की स्पष्ट सूचना देती है कि उसके पूर्व अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी। गुप्तकाल के अन्य उपलब्ध शिलालेखों[२] से प्रमाणित होता है कि काव्य की प्रगति अखण्ड रूप से तथा आबाध गति से होती आई है। यदि दीर्घकाल तक किसी काव्य का पता ही हमें नहीं चलता तो इसका अर्थ यह नहीं कि उस काल में काव्य की प्रगति रुक गई थी। वास्तव में उसका कारण यह है कि कुछ काव्यों की प्रसिद्धि इतनी अधिक हुई कि उनके पहले के कम प्रसिद्ध काव्य विस्मृत हो गये।

महाकाव्य के लक्षण—दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श'[३] में महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं—महाकाव्य की कथा-वस्तु कवि-कल्पना-प्रसूत न होकर किसी प्राचीन आख्यान अथवा ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर होनी चाहिए। नायक धीरोदात्त प्रकृति का हो। उसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, जलक्रीड़ा, उद्यानविहार, विवाह, यात्रा, युद्ध तथा विजय-प्राप्ति आदि विषयों का वर्णन उपयुक्त स्थलों पर होना चाहिए। प्रतिनायक के गुण भी उदात्त हो सकते हैं। महाकाव्य अति संक्षिप्त नहीं होना चाहिए। उसमें शृङ्गार अथवा वीर रस प्रधान रहता है और दूसरे रस गौणरूप में चित्रित होते हैं। सम्पूर्ण काव्य सर्गों में विभाजित रहता है। सर्ग बहुत बड़े नहीं होने चाहिए। प्रति सर्ग में एक ही वृत्त के श्लोक रहते हैं, किन्तु सर्ग के अन्त में भिन्न वृत्त होना आवश्यक है। मङ्गलाचरण

१—*Bombay Gazetteer* Vol. 16. p. 550.

२—Fleet: *Gupta Inscriptions.* ३—१।१४–१९.

आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तु निर्देशात्मक होना चाहिए।

महाकाव्यों के इन लक्षणों का विधान उस समय किया गया जब कि संस्कृत में अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि लक्ष्य-ग्रंथों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों की रचना होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष आदि महाकवियों की कृतियों को लक्ष्य में रख कर ही उपयुक्त लक्षणों की सूची संकलित की होगी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि महाकाव्य के ये साधारण लक्षण मात्र हैं, जिनका अक्षरशः पालन सभी महाकाव्यों में कदापि संभव नहीं।

अब संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यों का कालक्रमानुसार वर्णन किया जाता है:—

कालिदास

संस्कृत महाकाव्यों के रचयिताओं में महाकवि कालिदास का स्थान अग्रगण्य है। उनके स्थितिकाल का प्रश्न भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त जटिल और विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों[१] में थे। कालिदास के नाटकों से भी इस बात को पुष्टि होती है। अपने द्वितीय नाटक 'विक्रमोर्वशीय' के नाम द्वारा तथा उसकी कतिपय उक्तियों[२] द्वारा कालिदास स्पष्टतया अपने आश्रयदाता सम्राट् विक्रमादित्य का ही नाम व्यंजित करते हैं।

१—धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

२—दिष्टया महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्; अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः।

अतः कालिदास के स्थितिकाल का प्रश्न सम्राट् विक्रमादित्य के स्थितिकाल से पूर्णतया सम्बद्ध है।

इन विक्रमादित्य का समय विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न कालों में निर्धारित कर कालिदास का स्थितिकाल छठी शताब्दी ईसवी से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० तक दोलायमान कर रखा है। उनके स्थितिकाल के विषय में मुख्यतः तीन मत हैं—

छठी शताब्दी ई० का मत—फर्गुसन महोदय का कथन है कि उज्जयिनी के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने ५४४ ई० में शकों को कहरूर की लड़ाई में हराकर इस विजय के उपलक्ष्य में विक्रम संवत् चलाया। इस संवत् को प्राचीन एवं चिरस्मरणीय बनाने के लिये उसने उसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाकर उसका आरम्भ ५७ ई० पू० में माना। अतः इस मत के अनुसार कालिदास का समय छठी शताब्दी प्रकट होता है। इस मत की पुष्टि में यह दिखलाया जाता है कि कालिदास के ग्रन्थों में यवन, शक, पह्लव, हूण आदि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने ५०० ई० में भारतवर्ष पर आक्रमण प्रारम्भ किया। अतः इसका उल्लेख करने वाले कालिदास का समय इसके पश्चात् होना चाहिए।

इस मत के विरुद्ध ये आपत्तियाँ हैं—(१) हर्ष विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित संवत् का प्रारम्भ ६०० वर्ष ही पूर्व क्यों ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० के पूर्व मालव-संवत् ५२६ तथा विक्रम-संवत ४३० के प्रयोग मिलते हैं, अतः फर्गुसन का यह कल्पित मत पूर्णतया धराशायी हो जाता है। (२) रघुवंश में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेताओं के रूप में नहीं आता। रघु ने अपने दिग्विजय में उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास

से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे। (३) ४७२ ई० की मन्दसोर वाली वत्सभट्टि-रचित प्रशस्ति में ऋतुसंहार और मेघदूत के कितने ही पद्यों की साफ झलक देख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को छठी शताब्दी ई० में मानना कहां तक न्यायसङ्गत है? यह सिद्धांत भारतीय जनश्रुति के भी प्रतिकूल है। अतः आधुनिक समय में इस मत का समर्थक कोई नहीं है।

गुप्तकालीन मत—यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त-नरेशों के समुन्नत साम्राज्यकाल में कालिदास का स्थितिकाल माना है। कीथ महोदय इस मत के समर्थक हैं कि शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने पूर्वके मालव संवत् को विक्रम संवत् के नाम से प्रचारित करने वाले द्वितीय गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त (३७५-४१३ ई०) थे। उनके मतानुसार भारतीय इतिहास के इसी स्वर्णयुग में महाकवि कालिदास ने अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार किया था। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि कालिदास के कुमारसम्भव नामक महाकाव्य की रचना सम्भवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रखकर की गई जान पड़ती है; कालिदास ने 'गुप्' धातु का बारम्बार प्रयोग किया है[१]; चौथी शताब्दी ई० की हरिषेणकृत प्रयाग वाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त (३३६–३७५ ई०) के विजय-वर्णन में तथा रघुवंश में वर्णित रघु के दिग्विजय में घटनाओं का बड़ा साम्य देख पड़ता है; कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित सुख-शान्ति का समृद्धकाल गुप्तकाल का ही सूचक है; कालिदासकृत इन्दुमती के स्वयंवर-वर्णन में 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः', 'इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै'

१—रघुवंश, १-५५, २-२४, ४-२०, ४-२६

आदि उक्तियों में 'चन्द्रमा' तथा 'इन्दु' शब्द चन्द्रगुप्त के ही द्योतक हैं; कालिदास का मालविकाग्निमित्र नाटक वाकाटक के राजा रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता के विवाहोत्सव पर लिखा या खेला गया होगा; उसमें जिस अश्वमेघ का उल्लेख किया गया है उससे भी समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेघ यज्ञ की ओर ही संकेत जान पड़ता है। अतः कालिदास गुप्त-काल में विशेषतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में हुए होंगे।

इस मत के विरुद्ध प्रधान आपत्तियाँ ये हैं—(१) यह संभव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे पराक्रमी नरेश ने स्वयं अपना संवत् न चला कर अपने से पूर्व प्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से जारी किया हो। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं 'गुप्त संवत्' प्रचालित किया था। क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पितामह के संवत् को अस्वीकार करके अपना अलग संवत् चलाने की धृष्टता की होगी ? चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा जारी किया गया तथाकथित विक्रम संवत् उनके बाद की शताब्दियों में कहीं नहीं उल्लिखित है। स्वयं चन्द्रगुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रम संवत् का उल्लेख न होकर गुप्त-संवत् का ही उल्लेख हुआ है (गुप्तप्रकाले गणनां विधाय) विक्रम संवत् का उल्लेख नवीं शताब्दी के पूर्व कहीं नहीं पाया जाता। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा नवीन संवत् चलाये जाने की अथवा किसी पूर्वकालीन संवत् को अपना नाम देने की घटना ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती। इस कारण कालिदास के स्थितिकाल के गुप्तकालीन मत का मौलिक आधार ही अप्रमाणित हो जाता है। (२) कालिदास ने 'कुमार' शब्द का प्रयोग 'सुत', 'पुत्र' 'आत्मज' की भाँति साधारण अर्थ में ही किया है, किसी विशेष प्रयोजन से नहीं; मालविकाग्निमित्र में जिस

अश्वमेध का तथा यवनों की पराजय का उल्लेख हुआ है, उसका वस्तुतः सम्बन्ध शुङ्गवंश के प्रवर्तक से है; कालिदासकृत रघु का दिग्विजय-वर्णन ऐतिहासिक होता हुआ भी एक कवित्वपूर्ण वर्णन है, वह बहुत कुछ पुराणों में पाये जाने वाले वर्णनों के ही समान है, उसकी ऐतिहासिकता के विषय में अभी और छान-बीन की आवश्यकता है; कालिदास के ही ग्रन्थों में जिन उक्तियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की झलक देख पड़ती है तथा समुद्रगुप्त-काल की झाँकी दिखाई पड़ती है, उनमें भी मतैक्य नहीं है। व्याख्या के विशेष ढङ्ग से उनके नाना प्रकार के अर्थ लगाये जा सकते हैं। (३) किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त की उपाधि तो थी विक्रमादित्य, किन्तु नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होने के लिये यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति पहले हो चुका हो, जिसके अनुकरण पर बाद के महत्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में भी सीज़र उपाधिधारी राजाओं के पहले सीज़र नामक सम्राट हो चुका था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी द्वितीय चन्द्रगुप्त के पूर्व विक्रमादित्य नामधारी कोई शासक अवश्य हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं विक्रमादित्य नहीं थे, और न उनके समय में कालिदास की स्थिति ही मानी जा सकती है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत—भारत में यह बात लोक-प्रसिद्ध है कि महाराज विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे, जिन्होंने शकों को परास्त कर अपनी विजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० के विक्रमीय संवत् का प्रवर्तन किया। कथासरित्सागर में (जो प्रथम शताब्दी ई० की गुणाढ्यकृत बृहत्कथा पर आश्रित है) परमारवंश के विक्रमादित्य का वर्णन आता है, जो उज्जयिनी के राजा थे तथा जिनके विषय में अनेक लोककथाएँ गढ़ी गई। कथासरित्सागर

का वृत्तांत ऐतिहासिक और प्रमाणिक माना जा सकता है, क्योंकि उसके मूल लेखक गुणाढ्य विक्रमादित्य के समय के अत्यधिक निकट थे। कथासरित्सागर के अनुसार यह विक्रमादित्य परमार-वंशी उज्जयिनी-नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र थे, जिन्होंने म्लेच्छों का उन्मूलन, नास्तिक संप्रदायों का उच्छेद तथा वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया। वे एक परम शैव तथा उज्जैन के महाकाल-मन्दिर के निर्माता थे। इन्हीं विक्रमादित्य ने शकों को उनके प्रथम आक्रमण में पराजित कर इस क्रांतिकारी घटना के उपलक्ष्य में प्रथम शताब्दी ई० पू० में 'मालवगणस्थिति' नामक संवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चल कर विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ये परमार-वंशी विक्रमादित्य स्वयं बड़े काव्यमर्मज्ञ थे तथा कालिदास जैसे कवियों और कलाकारों के अवश्य आश्रयदाता रहे होंगे। क्योंकि कालिदास, जो अपनी रचनाओं में स्पष्टतः शिव के प्रति अधिक आस्था प्रकट करते हैं, गुप्तवंश के वैष्णव राजाओं की अपेक्षा मालवा के शैव राजाओं के ही आश्रित अधिक प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त, गुप्त नरेश पाटलिपुत्र के अधीश्वर थे, किन्तु कालिदास के आश्रयदाता उज्जयिनी के सम्राट् थे। नवीनतम् ऐतिहासिक खोज के अनुसार उज्जयिनी के महेन्द्रादित्य के पुत्र, उक्त परमार-वंशी विक्रमादित्य ही मौलिक विक्रमादित्य थे, जिनके शासनकाल में महाकवि कालिदास का अविर्भाव हुआ था। इसकी पुष्टि कालिदास के ग्रन्थों के अन्तरंग प्रमाणों से भी होती है। अपने नाटक विक्रमोर्वशीय के नाम द्वारा कवि सम्भवतः अपने आश्रयदाता के नाम को ही अमर करना चाहता था। 'इन्द्र' के पर्यायवाची शब्दों में से कवि 'महेन्द्र' शब्द का ही बार-बार प्रयोग करता है, और अपनी अनेक उक्तियों में वह विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य की

ओर१ भी संकेत करता है। उज्जयिनी की जनता को, जिसके समक्ष उक्त नाटक का अभिनय किया गया होगा, निम्नांकित उक्तियों का संकेत एवं संदर्भ समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी होगी, जिनमें पिता और पुत्र दोनों का साथ-साथ नामोल्लेख किया गया है। संभवतः विक्रमोर्वशीय वृद्ध नरेश महेन्द्रादित्य के अवकाश-ग्रहण और राजकुमार विक्रमादित्य के राज्यारोहण के अवसर पर अभिनीत किया गया हो।

रघुवंश में भी कालिदास ने सूर्यवंशी राजाओं को अपना चरितनायक स्यात् इसीलिये बनाया, क्योंकि महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य भी सूर्यवंशी थे। साथ ही, रघुवंश के दिलीप और रघु के वर्णन में तथा कथासरित्सागर के महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य के वर्णन में पर्याप्त साम्य है। मेघदूत के ३० वें पद्य में वत्सराज उदयन के विषय में उज्जैन में प्रचलित लोकश्रुति के प्रति जो ऐतिहासिक संकेत किया गया है, उससे तथा मालविकाग्निमित्र के अन्तर्गत प्रमाणों से भी यह पुष्टि होती है कि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० में उज्जैन के परमार-वंशी सम्राट् विक्रमादित्य के राज्यकाल में रहा होगा।

कुछ ऐतिहासिकों की धारणा है कि ईसा की पार्श्ववर्ती शताब्दियों में वैदिकधर्म और संस्कृत-साहित्य संकटापन्न हो गये थे। गुप्तों के राज्यारोहण के बाद हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुत्थान हुआ। ऐसे समय में ही कालिदास जैसे विश्ववंद्य काव्यकार का होना सम्भव था। किन्तु

---

१ दिष्टया महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।
प्रथमं पुत्रदर्शनेन विस्मृतास्मि। इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मारितः समयो मम हृदयमायासमैति।
रम्भे उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः।

संस्कृत-साहित्य के 'पुनरुत्थान' का यह कल्पित मत जिसके मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे, बाद की ऐतिहासिक खोजों से सर्वथा असिद्ध हो गया और यह प्रमाणित हो चुका है कि ईसा के पहले को शताब्दियों में ही संस्कृत-साहित्य के प्रायः समस्त अङ्गों का पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार हो चुका था। इस कारण प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास के नाटकों और काव्यों की रचना पूर्णतः संभव जान पड़ती है।

कालिदास के ग्रन्थों में ज्योतिष के अनेक संकेत आये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कुषाण काल के पश्चात् भारतीयों ने ज्योतिष के बहुत से सिद्धान्त यूनान और रोम से सीखे थे। अतः कालिदास का समय इसके बाद का ही होना चाहिये। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वयं यूनानियों ने कई शताब्दी ई० पू० में बैबीलोनिया के लोगों से ज्योतिषशास्त्र सीखा था, और भारत, जो चौथी-पांचवीं शताब्दी ई० पू० में फारस वालों के सम्पर्क में आ चुका था, बैबिलोनिया का ज्योतिष सीधे सरलता से सीख सकता था। यूनानियों से भी भारत का सम्बन्ध चौथी शताब्दी ई० पू० में स्थापित हो चुका था, और कालिदास के समय में अर्थात् प्रथम शताब्दी ई० पू० में, तथाकथित यूनानी ज्योतिष सिद्धान्तों का उपयोग होना सर्वथा संभव था।

कालिदास के काव्यों में तथा बौद्ध कवि अश्वघोष की रचनाओं में अनेक स्थलों पर अत्यधिक साम्य देख पड़ता है (उदाहरणार्थ रघुवंश ७।५ और बुद्ध-चरित ३।११)। अवश्य ही कालिदास की रचना दोनों में श्रेष्ठ है, किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि संस्कृत काव्य के विकास में अश्वघोष पहले हुए तथा कालिदास ने उनका अनुकरण कर अपनी शैली का परिष्कार एवं परिमार्जन किया। अश्वघोष कुषाण सम्राट् कनिष्क (प्रथम शताब्दी ई०) के समकालीन थे, अतएव कालिदास का समय

सम्भवतः गुप्तकाल में होना चाहिये। किन्तु यह कथन उपयुक्त नहीं। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पाली-प्राकृत में लिखा गया था। बाद में संस्कृत साहित्य के प्रभाव और उपयोगिता के कारण बौद्ध लेखकों ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। अतः संस्कृत की काव्यशैली के प्रचलित एवं परिष्कृत हो जाने पर ही उन्होंने उसका अनुसरण किया। इस कारण अश्वघोष द्वारा ही कालिदास की शैली का अनुकरण किया गया और कालिदास अश्वघोष के पूर्ववर्ती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० प्रमाणित होता है[१]।

रचनाक्रम के अनुसार कालिदास की कृतियां ये हैं[२]—ऋतुसंहार, कुमारसंभव, (आदि भाग) मालविकाग्निमित्र, कुमारसंभव (शेष), विक्रमोर्वशीय, रघुवंश और शाकुन्तल।

कालिदास के महाकाव्य—महाकवि कालिदास ने दो महाकाव्य लिखे—'कुमारसंभव' और 'रघुवंश'। कुमारसंभव के १७ सर्गों में शिव-पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के वध की कथा का वर्णन है। अनेक विद्वानों की धारणा है कि कुमारसंभव के आरम्भ के आठ सर्ग ही कालिदास

१—*G. C. Jhala : Kalidasa—A study*
K. M. Shembavanekar : The Date of Kalidasa, in Kale's edn. of शाकुन्तल.
डा० राजबली पाण्डेय—कालिदास-ग्रन्थावली में 'विक्रमादित्य' शीर्षक लेख।

२—*R. D. Karmarkar. The Chronological order of Kalidasa's Works. Proceedings of* II *Oriental Conference.* P. 238.

के रचे हुए हैं, क्योंकि बाद के सर्गों की भाषा और शैली पहले के आठ सर्गों की सी नहीं पाई जाती। मल्लिनाथ की टीका भी आरम्भ के आठ सर्गों पर ही मिलती है। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि अंतिम ९ सर्गों के बिना कुमारसम्भव में महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण नहीं घटित हो पाते। सम्भव है कि महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षणों को घटित करने के लिये ही किसी ने बाद में ये ९ सर्ग और जोड़ दिये हों।

कुमारसम्भव कालिदास की कला की सुन्दर सृष्टि है। अपनी सुन्दर भाव-व्यंजना, उदात्त एवं कोमल कल्पना तथा प्रांजल पदविन्यास के कारण यह आधुनिक रुचि के विशेष अनुकूल है। कालिदास की वर्णना-शक्ति कुमारसंभव में चारु रूप से प्रकट हुई है। कहीं वसन्त का स्निग्ध मनोहर वर्णन है; कहीं बिवाहित सौख्यों का आनन्द प्रसार पा रहा है; कहीं प्रियतम की वियोगजन्य ज्वाला चित्त को दग्ध और संसार को शून्य कर रही है। बाह्य प्रकृति का मनोरम चित्रण इस काव्य की विशेषता है। आरम्भ में हिमालय का संश्लिष्ट, बिंबग्राही वर्णन, तीसरे सर्ग में आकस्मिक वसन्त के आगमन पर वनश्री का वर्णन, चौथे सर्ग में रति-विलाप पांचवें सर्ग में बटुवेषधारी शिव तथा तपस्विनी पार्वती का संबाद– ये विषय बहुत ही उत्कृष्ट प्रसादपूर्ण शैली में अङ्कित किये गये हैं। कवि की लक्षणाशक्ति भी इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है। शिव-पार्वती का विवाह केवल रति-सुख के लिये नहीं था। उनके समागम से तारकासुर का संहार करने वाले परम तेजःपुंज कार्त्तिकेय का जन्म होता है। शिव-पार्वती का दैवी विवाह और प्रेम, मानव बिवाह और प्रेम का प्रतिरूप है, जो वंश की वृद्धि और गृह की सुरक्षा के लिये परमावश्यक है। कालिदास की सभी कृतियां प्रायः शृङ्गार-रस-प्रधान है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे वासना-जन्म प्रेम के पक्षपाती हैं। मदन का भस्म हो जाना तथा

पार्वती का शिव को अपने सौन्दर्य-पाश में बांधने में असफल होना यह सिद्ध करता है कि कवि बाढ़ की तरह आने वाली, वाह्य आकर्षणों तक ही सीमित रहने वाली वासना का घोर विरोधी है। वासना-जनित क्षणभंगुर प्रेम का फल दुःख और क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कामवासनाओं को बिना जलाये सच्चे स्नेह की उपलब्धि नहीं हो सकती, बिना तपस्या के स्नेह कभी परिनिष्ठित नहीं हो सकता—यही कुमारसंभव का अमर संदेश है।

कालिदास के सब काव्यों में ही नहीं, अपितु समस्त संस्कृत साहित्य में रघुवंश एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसके १६ सर्गों में सूर्यवंश के राजाओं का यशोगान किया गया है। प्रथम ६ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, अज, रघु और दशरथ—का वर्णन है; १० से १५ सर्ग तक राम-चरित का तथा अन्तिम ४ सर्गों में राम के वंशजों का वर्णन है।

रघुवंश में कालीदास की परिपकव प्रज्ञा और प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय मिलता है। १६ सर्गों में ऐसे प्रशस्त एवं रुचिर काव्य की सृष्टि करना, अनुरूप घटनाओं का उसमें स्वाभाविक रूप से समावेश करना आकर्षक चरित्र-चित्रण और विशद वर्णना से उसकी शोभा में वृद्धि करना और, इन सबके उपरान्त, समग्र ग्रन्थ में रस-व्यंजना तथा उदात्त शैली का उचित समन्वय करना—ये कार्य कवि की सर्वातिशायिनी प्रतिभा से ही संपादित हो सकते हैं। इन्दुमती का स्वयंवर, अज का विलाप, राम तथा सीता की विमान-यात्रा, निर्वासित होने पर लक्ष्मण द्वारा सीता का संदेश भेजना, शून्य अयोध्या का उसकी अधिष्ठात्री देवी द्वारा कुश के स्वप्न में वर्णन—इनमें प्रत्येक घटना इतनी स्वाभाविक और सुन्दर शैली में वर्णित हुई है कि पाठक पर वह अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। प्रायः सभी मुख्य रसों का परिपाक रघुवंश

में हुआ है। अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में शृङ्गार का, रघु, अज और राम के युद्ध-प्रसंगों में वीर का, अज-विलाप में करुण का, वसिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रम तथा सर्वस्वत्यागी रघु के वर्णन में शान्त-रस का प्राधान्य है। अलंकारों का प्रयोग भी भाव या दृश्य के चित्र को अधिक चटकीला बनाने के लिये ही हुआ है। भाषा इतनी सुबोध है कि साधारण संस्कृत जानने वाले भी इसका आनन्द उठा सकते हैं। संस्कृत के अनेक ग्रन्थकारों और सुभाषितकारों ने कालिदास का 'रघुकार' नाम से ही उल्लेख किया है—'क इह रघुकारे न रमते।' इससे रघुवंश की सर्वप्रियता और उत्कृष्टता का पता चलता है। आदर्शों की अनुपम सृष्टि के लिये, रम्य और ललित कथोपकथन के लिये, सरस एवं स्पष्ट भाव-व्यञ्जना के लिये और कोमल तथा मधुर रसोत्पत्ति के लिये रघुवंश कालिदास की कीर्ति-पताका को सतत परिस्फुरित करता रहेगा।

विस्तार-भय से इन महाकाव्यों में से सभी उत्कृष्ट उदाहरण नहीं दिये जा सकते। सच तो यह है कि कालिदास के सर्वाङ्ग-सुन्दर काव्यों में से किस स्थल का उदाहरण दिया जाय और किस स्थल को छोड़ दिया जाय, यह निर्णय करना ही कठिन है। फिर भी एक-दो उदाहरण पाठकों के सम्मुख रखे जाते हैं। भारतीय सौन्दर्य का आदर्श कवि ने कुमारसंभव के पांचवें सर्ग में उपस्थित किया है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥५।२४

इसमें पार्वती की अनिन्द्य सुन्दरता का प्रकारान्तर से अत्यन्त मनोहर वर्णन है। जब पार्वती खुले स्थान में बैठ तपस्या करती थीं तब वर्षा की बूंदें किस प्रकार उनके ललाट-स्थल से नाभि

तक टकराती बल खाती पहुंचती थीं, इसका कवि ने बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उनकी बरौनियां घनी थीं, अतः जल की बूँदें कुछ देर तक उनमें अटक जाती थीं, किन्तु कुछ ही क्षण तक, जिससे यह प्रतीत होता है कि घनी होने के साथ ही वे स्निग्ध भी थीं। तत्पश्चात् वे बूँदें उनके अधरों से होती हुई उनके वक्षःस्थल से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जातीं थीं, जिसका तात्पर्य यह है कि पार्वती के उरोज कठोर एवं उन्नत थे। फिर उदर की त्रिवली में चक्कर काटती हुई वे बूँदें अन्त में नाभि के नयनाभिराम प्रदेश में प्रवेश करती हैं। पार्वती के अवयवों का कैसा चारु-चित्रण है!

पर कालिदास ने नारी-सौन्दर्य का केवल स्निग्ध एवं शृङ्गारिक रूप ही नहीं चित्रित किया है, अपितु उसके सगर्व स्वाभिमान का भी चित्र उपस्थित किया है—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥ रघु०१४।६१

परित्यक्ता सीता लक्ष्मण से कहती हैं कि 'तुम मेरी ओर से उन राजा (राम) से यह संदेश कहना—लंकाविजय के बाद देवताओं वानरों, राक्षसों तथा स्वयं आपके सामने अग्निदेव ने मेरी पवित्रता का प्रमाण दिया था। क्या उसमें भी आपकी श्रद्धा नहीं? लोगों के निराधार प्रवाद को सुनकर ही आपने अपनी वाग्दत्ता पत्नी का परित्याग कर दिया। क्या यह आचरण आपकी विद्वत्ता अथवा कुल के अनुरूप है?' 'स राजा' क्या ही चुभता हुआ व्यङ्ग है! राम पहले राजा हैं, पति बाद में।

कालिदास की शैली—कालीदास की कृतियों में संस्कृत काव्य-शैली का चारुतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। उनकी कविता के जिन गुणों ने संसार को उनका भक्त बना दिया है

उसमें उनकी मौलिकता अद्वितीय है। उन्होंने अपना विषय भले ही प्राचीन आख्यानों से लिया हो, पर किस प्रकार वे अपने सृष्टि-नैपुण्य से उसे कुछ-का-कुछ बना देते हैं, किस प्रकार वे एक नीरस और सर्वप्रसिद्ध कथानक को अति रुचिकर और मनोमुग्धकारी बना देते हैं—यह दर्शनीय है। मौलिकता नयी सृष्टि रचने में उतनी नहीं होती जितनी पुरानी सृष्टि को नूतन चमत्कार प्रदान करने में। कालिदास की सभी रचनाएँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं।

कालिदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा उन्हें विश्व-साहित्य में असाधारण स्थान प्रदान करती है। उन्होंने महाकाव्य, गीतिकाव्य तथा नाट्य-रचना सभो में अपनी प्रखर प्रतिभा का समान रूप से परिचय दिया है। कोई भी एक कवि इन सबमें उनकी बराबरी नहीं कर सकता। संभव है कि शेक्शपियर एकमात्र नाट्य-नैपुण्य अथवा चरित्र-चित्रण में कालिदास से कुछ बढ़कर हों, किन्तु भारतीय आदर्श के अनुसार काव्य की अन्तरात्मा—'रस'—की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति कालिदास के काव्यों में हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

कालिदास की लोकप्रियता का प्रधान कारण है उनकी प्रसादपूर्ण, लालित्ययुक्त और परिष्कृत शैलो। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थ वैदर्भी रीति में लिखे है—'वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।' दण्डी ने वैदर्भी रीति की उद्‌भावना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही मानी है।१ वैदर्भी रीति का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार दिया है—

मधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

१—लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥

ललित पदविन्यास के माधुर्य से तथा क्लिष्टता और कृत्रिमता के सर्वथा परिहार से कालिदास की रचनाएँ स्वाभाविक और सहज-सुन्दर हैं, सर्वत्र सरल, सुबोध एवं प्रसादयुक्त हैं।

किसी भाव का चित्रण करते समय कालिदास एक अनूठी शैली का उपयोग करते है। वे उसे स्पष्ट शब्दों में कहने की अपेक्षा व्यंजनावृत्ति का आश्रय ले उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना पर्याप्त समझते हैं—

एवं वादिनी देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ कु० ६।८४

जब अङ्गिरा ऋषि गिरिराज हिमालय से शङ्कर के लिये पार्वती की मँगनी की प्रार्थना कर रहे थे, उस समय पास ही बैठी हुई पार्वती की मानसिक दशा का इसमें चित्रण है। इस श्लोक में एक भी अलङ्कार नहीं है, तथापि कवि ने कमलपत्र की गिनती के वर्णन से पार्वती की सहज लज्जाशीलता, आंतरिक प्रेम तथा आनन्दातिरेक के गोपन की प्रवृत्ति की बड़ी रुचिर एवं मार्मिक व्यञ्जना की है। जहां बाण और भवभूति किसी रमणीय कल्पना का अति-विस्तृत वर्णन करते हैं, वहां कालिदास कतिपय चुने हुए शब्दों में ही उसकी बांकी झांकी दिखा देते हैं। कालिदास का यह शब्दलाघव उनकी कलात्मक अभिरुचि का परिचायक है। उनकी कवि-कल्पना नित्य नूतन चित्रों की सृष्टि करने में निपुण है। उनकी रसमयी रुचिर रचनाओं पर 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' वाली लोकोक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है।

कोमल एवं सुकुमार भावों की व्यंजना में कालिदास अद्वितीय हैं। इसीलिये 'प्रसन्नराघव' के कर्ता कालिदास को 'कविताकामिनी का विलास' कहते हैं। शृङ्गार रस के सम्भोग एवं विप्रलम्भ, इन

दोनों पक्षों का जैसा सूक्ष्म-एवं मार्मिक उद्घाटन कालिदास ने किया है वैसा संसार के किसी और कवि ने किया होगा, इसमें सन्देह है। उनका करुण रस भी कम मार्मिक नहीं। कुमारसम्भव का रति विलाप तथा रघुवंश का अज-विलाप उनके करुणारस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पति के भस्मीभूत शरीर को देख कर रति विलाप कर रही है—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमेव दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥ कु० ४।३०

'हे वसन्त, तुम्हारे वे प्रिय सखा (कामदेव) हवा के झोंके से बुझे दीपक की भांति, कभी न लौटने के लिये, चले गये और देखो मैं उस बुझे दीपक की काली बत्ती के समान असह्य शोकान्धकार से आवृत्त बची हुई हूँ।' पत्नी के वियोग पर अज की कैसी दशा हो गई है—

विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु॥ रघु० ८।४३

'अज अपना सहज धैर्य छोड़ कर सिसकियों से अवरुद्ध हुई वाणी से फूट-फूट कर विलाप करने लगे। अधिक ताप से लोहा भी पिघल जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या?' इसके विपरीत नवबधू के प्रेम का क्या ही मनोरम चित्र कवि ने खींचा है—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः॥ कु० ७।२२

'जब पार्वती ने अपने दीर्घ नेत्रों से दर्पण में अपना रमणीय रूप देखा तब वह शीघ्रता से शिव के समीप पहुँचने के लिये आतुर हो गईं, क्योंकि स्त्रियों के लावण्य की सफलता प्रियतम की स्नेहासिक्त दृष्टि में ही निहित है।' करुण एवं शृङ्गार, इन दोनों

रसों की व्यंजना में कवि के पद्यों का नाद सौन्दर्य और सुकुमार वर्णविन्यास विशेष सहायक हुए हैं।

अलङ्कारों के प्रयोग में कवि ने अपनी सूक्ष्म मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनकी कविता अत्यधिक अथच अनावश्यक अलङ्कारों के भार से आक्रांत कामिनी की भांति मंद-मंथर गति से चलने वाली नहीं है, अपितु 'स्फुटचन्द्रतारका विभावरी' की भांति अपने सहज-सौन्दर्य से सहृदयों के चित्त को आकृष्ट करने वाली है। उनके अनुप्रास उनकी काव्यधारा में सर्वत्र अप्रयास ही आ गये हैं, कहीं भी जबरदस्ती ठूंस-ठूंस कर नहीं बिठाये गये हैं, जैसे—'प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि,' 'मायूरी मदयति मार्जना मनांसि,' निर्ममे निर्ममो र्थेषु' आदि। यमक से रस-भंग होने की आशंका रहती है इसलिये कवि ने उसका क्वचित् ही उपयोग किया है, जैसे—'वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः,' 'मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्'। श्लेष के अधिक प्रयोग से काव्य में क्लिष्टता या कृत्रिमता आ जाती है, अतः कवि ने उसका कम ही प्रयोग किया है। उन्होंने शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों पर विशेष ध्यान दिया है। स्वाभावोक्ति में वे सिद्धहस्त हैं। उनके शाब्दिक चित्र सजीव एवं स्वाभाविक हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों के प्रयोग में उनकी बहुश्रुतता एवं व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है।

कालिदास की उपमाओं की विलक्षणता तो विश्व-विख्यात है—'उपमा कालिदासस्य'। वास्तव में उनकी उपमाएँ अद्वितीय हैं। अनुरूपता, सरसता तथा अपूर्वता की दृष्टि से वे बे जोड़ हैं[१]।

१—*P. K. Gode: Psychological study of* कालिदास*'s* उपमा*'s Proceedings of the 1st Oriental conf. 1919 vol. II p. 205*

नन्दिनी गाय राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच वैसी ही शोभा पा रही है जैसी दिन और रात के मध्य में होने वाली रक्तवर्णा संध्या—'दिनक्षपामध्यगतेव संध्या'। पौरस्त्रियां राजकुमार अतिथि का अपने नेत्रों द्वारा उसी प्रकार अनुसरण कर रही थीं, जिस प्रकार चमकते हुए तारों वाली शरद ऋतु की रात्रियां ध्रुव नक्षत्र का अनुगमन करती हैं—'शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इवध्रुवम्।' रमणीय होने के साथ ही कालिदास की उपमाएँ यथार्थ हैं—स्वयंवर के समय इन्दुमती जिस राजा को छोड़ती जाती है, उसके चेहरे पर निराशा की ऐसी कालिमा छा जाती है जैसी राजमार्ग के उन महलों पर जिन्हें रात्रि के समय आगे बढ़ने वाली दीपशिखा पीछे छोड़ती चली जाती है। उपमाओं की विविधता भी दर्शनीय है। मदनदाह के उपरांत शोक से व्याकुल रति की, पानी सूख जाने पर तालाब में अकेली बची शोभाहीन कमलिनी से, मूर्त उपमा दी गई है। शास्त्रीय उपमाएँ भी कई मिलती हैं—ब्राह्म सरोवर से निकलने वाली सरयू सांख्य-शास्त्र के अव्यक्त मूल-प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धितत्त्व की तरह है। नन्दिनी के पीछे चलने वाले दिलीप की, श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति से, उपमा अध्यात्मिक है—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।' अमूर्त कल्पनाओं से भी कवि ने उपमाएँ ली हैं—माता की गोद को शोभित करने वाले भरत की उपमा लक्ष्मी की शोभा बढ़ाने वाले विनय से दी गई है। व्यवहार और अनुभव से सूझी हुई उपमाएँ भी मिलती हैं—दुष्यन्त को सौंपी गई शकुन्तला सुपात्र शिष्य को दी गई विद्या के समान है। सभी उपमाएँ स्वाभाविक और अपने-अपने प्रसंग के सर्वथा अनुकूल हैं—पेटू विदूषक चन्द्रमा को मक्खन का गोला समझता है।

सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण मेघदूत में भरे पड़े हैं। पके पीले आमों के वृक्षों से अच्छादित आम्रकूट पर्वत की चोटी पर जब

काले मेघ छा जाते हैं तब वह पर्वत ऐसा दिखाई पड़ता है मानो 'मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः' हो अर्थात् वसुन्धरा के गौरवर्ण उन्नत उरोज के मध्य भाग में श्यामवर्ण कुचाग्र शोभित हो रहा हो। इसी प्रकार कैलाश पर्वत की शुभ्र धवल हिमाच्छादित चोटियां ऐसा शोभित हो रहीं हैं मानो भगवान् शङ्कर के प्रतिदिन अट्टहास की राशियाँ इकट्ठी हों। दृष्टान्त भी कविका प्रिय अलंकार है—'सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति', 'क इदानीं सहकारमुज्झित्वाऽतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते'—दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम को लक्ष्य में रखते हुये ये दृष्टान्त बड़े ही अनुरूप हैं। अर्थान्तरन्यास में कवि का व्यवहारिक ज्ञान बड़े रसीले रूप में प्रकट हुआ है—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ,' 'क्लेशः फलेन हि पुन र्नवतां विधत्ते,' 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता', 'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्'—इत्यादि।

अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति के कारण कालिदास अपने शब्द-चित्रों को बड़ी खूबी से खींच सके हैं। वे मानवहृदय की कोमल भावनाओं के, उसको उत्सुकता और विह्वलता के, उसके विविध भावावेशों के सच्चे पारखी थे। अन्तर्जगत् के साथ बाह्य जगत् के भी वे सूक्ष्म मर्मज्ञ थे। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का, उसके अनुपम दृश्यों का, सच्चा चित्र उनके काव्यों में सर्वत्र मिलेगा।

चरित्र-चित्रण में भी कालिदास अद्वितीय हैं। 'दीपशिखा' के तुल्य इन्दुमती, 'कृशाङ्गयष्टि' सीता, 'संनतगात्री' पार्वती, 'तन्वी श्यामा' यक्ष-पत्नी, 'मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' शकुन्तला के जीते-जागते चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अपनापन लिये हुये है। वे हमारी कल्पना-नगरी में हजारों वर्षों से निवास करते हुए भी नित्य-नूतन एवं चिर-सुन्दर हैं। भारतीय साहित्य में उनका स्थान अमर हो गाय है।

कालिदास की कृतियों में कहीं-कहीं अश्लीलता, च्युतसंस्कृति, औचित्य-भङ्ग एवं रस-दोष की त्रुटियाँ पाई जा सकती हैं, पर 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' के अनुसार वे सर्वथा नगण्य एवं उपेक्षणीय हैं। प्रसाद की प्रचुरता, माधुर्य का समुचित संनिवेश, भावों का सौष्ठव, अलङ्कारों की अपूर्वता एवं रमणीयता तथा भाषा का लालित्य—इन सब गुणों ने कालिदास की कविता को विश्ववन्द्य वना दिया है। कालिदास के विषय में किसी आलोचक की उक्ति है—

पुरा कवीना गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

'प्राचीनकाल में कवियों की गणना करने का प्रसंग आने पर कालिदास का नाम सर्वप्रथम कनिष्ठिका अंगुली पर रखा गया। किन्तु कालिदास की बराबरी करने वाले अन्य किसी कवि ने न होने के कारण दूसरी अंगुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं, इसीलिये उस अंगुली का नाम अनामिका पड़ा। आज भी कालिदास के समक्ष को और कवि न होने के कारण उस अंगुली का 'अनामिका' नाम सर्वथा सार्थक हो रहा है।'

बाणभट्ट पूछते हैं कि कविवर कालिदास की आम्रमञ्जरी के समान सरस-मधुर सूक्तियों को सुन कर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता ?—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते ॥

प्रसिद्ध आलङ्कारिक आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में एक स्थान पर कहा है—'अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते' अर्थात् इस संसार में अनेक कवि पैदा होते हैं, फिर

भी उनमें से कालिदास के समान दो, तीन या अधिक से अधिक पांच-छः व्यक्तियों को ही 'महाकवि' की उपाधि दी जा सकती है। पीथूषवर्ष जयदेव ने कालिदास को 'कविकुलगुरु' पद से विभूषित किया है। सोड्ढल ने 'रघुवंशकार' की प्रशंसा इस प्रकार की है—

ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधास्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः प ' पारमवाप कीर्तिः॥

धन्य हैं वे कवि कालिदास जिनकी कीर्ति उनकी कविता के समान ही निर्दोष, अमृततुल्य एवं मधुर है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्यवंश का पूरा वर्णन कर सकी वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुँची है।' श्रीकृष्ण कवि अपने 'भरत-चरित्र' के आरम्भ में कालिदास की भाषा का इस तरह वर्णन करते हैं—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी॥

'कमलिनी की तरह अस्पृष्ट दोष वाली (रात में विकास न पाने वाली, दूसरे पक्ष में दोषरहित), मुक्ताहार की तरह गुणसमूहयुक्त (अनेक सूत्रों वाली, दूसरे पक्ष में गुण-समुदाय से युक्त), प्रिया की गोद की तरह विमर्द से (संवाहन से, परीक्षण से) आह्लादकारक भाषा कालिदास के सिवा अन्य किसी कवि की नहीं है।' गोवर्धनाचार्य ने भी कालिदास की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उनकी सूक्ति साभिप्राय, मधुर तथा कोमल रति-विलासिनी के कण्ठस्वर की तरह है, जो शिक्षा देते समय भी हमें आनन्द से विभोर कर देती है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ति॥

मम्मट का यह कथन कि कविता कान्ता के कोमल उपदेशों के समान शिक्षा देती है—'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'—कालिदास की कविता पर पूर्णतया घटित होता है।

अश्वघोष

संस्कृत के बौद्ध-कवियों में अश्वघोष का स्थान सबसे ऊँचा है। परम्परा के अनुसार ये ईसा की प्रथम शताब्दी में राजा कनिष्क (७८ ई०) के गुरु और आश्रित-कवि थे। इनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। इनके महाकाव्यों में वेद और शास्त्रों की अनेक बातें मिलती हैं, जिनसे इनका एक सुशिक्षित ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना सिद्ध होता है। बौद्धधर्म में दीक्षित होने पर अश्वघोष ने बौद्धधर्म के प्रचार मे अपनी सारी शक्ति लगा दी। उन्होंने साधारण जनता को बौद्धधर्म के गूढ़ रहस्यों को काव्य की मधुर भाषा में समझाने का बीड़ा उठाया। दार्शनिक होने के साथ ही अश्वघोष एक उच्चकोटि के कवि तथा संगीतज्ञ भी थे।

पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वघोष को ही संस्कृत का सर्वप्रथम महाकवि स्वीकार किया है। सौन्दरनन्द उनका प्रथम महाकाव्य है। इसके १८ सर्ग हैं। इसमें बुद्ध के उपदेश से उनके छोटे भाई नन्द अपनी प्रिय पत्नी सुन्दरी तथा सांसारिक सुखों को त्याग कर बौद्धधर्म की दीक्षा लेते हैं। किन्तु वास्तव में कवि का उद्देश्य रोचक काव्यशैली द्वारा जनता को बौद्धधर्म के उच्च सिद्धांतों को समझाना तथा ऐहिक भोगों का त्याग करवा कर पूर्ण वैराग्य की ओर उन्मुख करना था। इस काव्य की शैली शुद्ध वैदर्भी है। भाषा की सरलता, भावों की कोमलता तथा वर्णन की सजीवता दर्शनीय है। उदाहरण के लिये दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ॥ ४।७

इसमें सुन्दरी और नन्द के वियोग की तुलना रात्रि और चन्द्रमा के वियोग से की गई है।

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ॥ ४।४२

नन्द की अवस्था का क्या ही स्वाभाविक चित्रण है! 'एक ओर वे बुद्ध के उपदेशों से आकृष्ट हो रहे हैं तो दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। इस अनिश्चय के कारण वे न तो वहां से जा सकते थे और न रुक ही सकते थे, ठीक वैसे ही जैसे कि नदी की धारा के विरुद्ध तैरता हुआ हंस न तो आगे ही बढ़ता है और न पीछे ही हट सकता है।

बुद्धचरित इनका दूसरा महाकाव्य है। इसके २८ सर्गों में से केवल १७ सर्ग उपलब्ध होते हैं पर सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक चीनी अनुवाद (४०४ ई०) और एक तिब्बती अनुवाद (८०० ई०) अवश्य उपलब्ध होता है। उसमें गौतमबुद्ध के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। भाषा-शैली अत्यन्त सरल तथा मधुर है। उपमाएँ बड़ी सुन्दर और रोचक हैं। स्थान-स्थान पर प्राकृतिक वर्णन अत्यन्त सजीव हैं। अश्वघोष की यह कृति सचमुच एक कलाकार की कृति है। कथा की उत्कृष्टता एवं उसके निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कथा के प्रवाह में बीच-बीच में बौद्धधर्म के सिद्धांतों का आकर्षक रूप से प्रतिपादन किया गया है। हाँ, कहीं-कहीं गूढ़ दार्शनिक तत्वों को काव्य रूप में प्रस्तुत करने के फलस्वरूप शैली में शिथिलता एवं दुरूहता आगई है। नीचे दिये दो पद्यों में इनकी रचना-चातुरी का परिचय मिलेगा।

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तहितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपक्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥

एक सोती हुई सुन्दरी का चित्र है। 'उसके हाथ एक वीणा पर पड़े हुए थे। उसका श्वेत अंचल उसके वक्षःस्थल से खिसक गया था। जान पड़ता था कि मानो वह एक ऐसी नदी है जिसके फेनल तरङ्गों से तट हास्य का प्रसार कर रहे हों तथा जिसकी कमल-श्रेणियों पर भ्रमरों की पंक्ति शोभित हो रही हो।' यशोधरा वन में गये अपने पति की चिन्ता कर रही हैं कि—

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥

राजसी वैभव में पले वे वनवास की कठोर यातनाओं को किस प्रकार सह सकेंगे।

ये अश्वघोष के ग्रंथ निश्चय ही संस्कृत काव्य के भूषण हैं। कालिदास के पूर्व के काव्य-ग्रन्थ जहाँ लोगों की अभिरुचि न प्राप्त कर सकने के कारण समय के प्रवाह में लुप्त हो गये, वहां अश्वघोष की कृतियां सुरक्षित रहीं। उनके काव्य जनता के लिये अधिक हृदयग्राही सिद्ध हुए। उनके ग्रन्थ यह प्रमाणित करते हैं कि ईसा कि प्रथम शताब्दी में संस्कृत काव्य का इतना विकास हो चुका था कि अश्वघोष जैसे बौद्धधर्म के आचार्य भी संस्कृत में रचना करने के लिये बाध्य हुए। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तो यहां तक कहते कि कविकुलगुरु कालिदास ने भी अश्वघोष के भावों को अपनाया है। किन्तु आधुनिक भारतीय मत के अनुसार कालिदास का ही प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। कथानक की सृष्टि, वर्णन-शैली, अलंकार-प्रयोग तथा छन्दों के चुनाव मे अश्वघोष, कालिदास से अवश्य प्रभाविक हुये हैं।

अश्वघोष के काव्यों की शैली शुद्ध वैदर्भी है। उनकी वर्णन-शैली स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त उनकी कविता धाराप्रवाह से प्रवाहित होती है। रूखे-सूखे दार्शनिक तत्त्व मधुर भाषा में घरेलू परिचित दृष्टान्तों के द्वारा समझाये गये हैं। अतः वे अनायास ही हृदयंगम हो जाते हैं। युक्तियों की अपूर्वता, उपमाओं की अनुरूपता, उदाहरणों की अनुकूलता, भावों की सुन्दरता तथा भाषा की मधुरता—इन सब गुणों के कारण उनके काव्य आकर्षक और रोचक हुए हैं। मानव-मनोभावों का सूक्ष्म वर्णन उनके प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण के समान ही मनोमुग्धकारी हुआ है। शृङ्गार के साथ करुण रस का पुट होने के कारण उनकी कविता सहृदयों को अधिक आकृष्ट करती है। किन्तु उनके काव्यों में शान्त रस प्रधान है। यद्यपि अश्वघोष की रचनाओं में कालिदास की सी रोचकता और चारुता पाई जाती है तथापि उनमें वह निखरा हुआ वाग्विलास और प्रबन्ध की प्रौढ़ता नहीं पाई जाती। फिर भी कालिदास की अपेक्षा उनकी शैली अधिक सरल है। शब्दालङ्कारों के उपयुक्त प्रयोग से जो पद-लालित्य उत्पन्न हो जाता है वह अश्वघोष की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।

कालिदास के बाद के महाकाव्य

कालिदास तथा अश्वघोष के बाद जिन महाकाव्यों की रचना हुई उनका कथानक अधिकतर रामायण अथवा महाभारत से लिया गया है। इन काव्यों में शृङ्गाररसात्मक वर्णन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई। धीरे-धीरे भाषा ने अपनी सरलता छोड़ कर क्लिष्ट शब्दों और दीर्घ समासों का आश्रय लिया। इनमें कालिदास और अश्वघोष की सी सरलता और स्वाभाविकता की कमी है। इन उत्तरकालीन कवियों ने काव्य का उद्देश्य बाह्य शोभा—अलंकार श्लेषयोजना एवं शब्द-विन्यासचातुरी—तक ही सीमित कर दिया।

अलंकार-कौशल का प्रदर्शन करना तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के नियमों के पालन में अपनी निपुणता सिद्ध करना ही उनका प्रधान लक्ष्य हो गया। काव्य का विषय गौण हो गया तथा भाषा और शैली को अलंकृत करने की कला प्रधान हो गई।

इन काव्यों के रचयिता प्रायः राजाओं के आश्रित हुआ करते थे। राजा स्वयं साहित्यिक रुचि के व्यक्ति होते थे और उनमें वास्तविक गुणों की परीक्षा करने की क्षमता होती थी। राजसभाओं के इस प्रभाव के कारण तत्कालीन संस्कृत महाकाव्यों पर राजकीय जीवन की—उसकी विलासिता तथा कृत्रिमता की—स्पष्ट छाप देख पड़ती है। भावप्रदर्शन का स्थान वैदग्ध्य-प्रदर्शन ने ले लिया, तथा कल्पना ने रस को आक्रांत कर लिया।

राजकीय प्रभाव के साथ ही इन काव्यों पर दो अन्य शास्त्रों—कामशास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र—का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' से कवियों को नायक और नायिका के आहार-विहार, हाव-भाव, कटाक्ष-भ्रूविलास आदि समस्त शृङ्गारिक विषय कवि के लिये 'कामसूत्र' में प्रस्तुत हैं। अलङ्कारशास्त्र ने काव्य सम्बन्धी नियमों को निर्धारित किया।

महाकवि कालिदास ने अपनी लेखनी तथा कल्पना को कामशास्त्र और अलङ्कारशास्त्र की संकीर्ण परिधि में नियन्त्रित नहीं रखा; दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बन्द नहीं कर दिया। तभी उनकी कृतियां कलात्मक हैं और पाठक उनको पढ़ने में वैरस्य का कभी अनुभव नहीं करते। किन्तु उत्तरकालीन कृतियों में भावों का वह सुन्दर गुम्फन नहीं, स्वाभाविकता, सरसता, तथा नवीनता नहीं। नियमों की शृंखला में आबद्ध होकर उनके रचयिता काव्य के प्रमुख प्रयोजन, रस की अभिव्यक्ति, से पराङ्मुख हो गये। शास्त्रीय सिद्धान्त की

प्रधानता ने इन परवर्ती कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना-शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया। उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अन्तःप्रेरणा या स्वानुभूति को गौण मान लिया, इसलिये स्वाधीन चिन्ता के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।

उपर्युक्त कारणों से कालिदास के अनन्तर रचे गये काव्यों में सच पूछिये तो सूक्तियां अधिक हैं, काव्य कम। 'जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु अथवा तथ्य की मार्मिक भावना से लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढङ्ग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।'

भारवि

महाकाव्यकारों में कालिदास और अश्वघोष के बाद भारवि का नाम लिया जाता है। इनके समय का ज्ञान हमें बहिरङ्ग प्रमाणों से मिलता है। भारवि के काव्य में कालिदास की रचनाओं का बहुत-कुछ अनुकरण है जिससे भारवि का कालिदास के बाद में होना सूचित होता है। माघ (७०० ई०) पर भारवि का प्रभाव स्पष्ट है। बाण (६५० ई०) अपने 'हर्ष-चरित्र' में भारवि का उल्लेख नहीं करते, अतः अनुमान होता है कि उनके समय में भारवि की विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई थी। ऐहोल के ६३४ ई० के शिलालेख में चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय की प्रशस्ति है। इसमें भारवि के नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

इस उल्लेख से पता चलता है कि भारवि का स्थितिकाल ६३४ ई० से पूर्व का है तथा उस समय वे दक्षिण-भारत में प्रसिद्ध हो चुके थे। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के आधार पर भारवि दक्षिण-भारत के रहने वाले थे और पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभा-पण्डित थे। कुछ विद्वानों ने भारवि को त्रावणकोर प्रदेश का निवासी सिद्ध किया है१। विष्णुवर्धन का शासनकाल ६१५ ई० के लगभग था। अतः भारवि का समय ६०० ई० के आस पास होना चाहिए।

भारवि की कीर्ति उनके सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय पर अवलंवित है। उनका यही एकमात्र ग्रन्थ है। महाकाव्य में आलंकारिकों ने जिन-जिन वस्तुओं के वर्णन को आवश्यक माना है उन सबका वर्णन इसमें है। किरातार्जुनीय का कथानक महाभारत के वनपर्व से लिया गया है। द्यूतक्रीड़ा में हार कर पाण्डव द्वैतवन में रहने लगे। उनका एक गुप्तचर आकर दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन का वर्णन करता है। इस पर भीम और द्रौपदी युधिष्ठिर को युद्ध के लिये उत्तेजित करते हैं, परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़ कर समर छेड़ने की बात स्वीकार नहीं की। महर्षि वेदव्यास के परामर्श से अर्जुन पाशुपतास्त्र पाने के लिये इन्द्रकील पर्वत पर गये। उनकी कठोर तपस्या को सुराङ्गनाएं भी भङ्ग न कर सकीं। अन्त में अर्जुनने किरातवेशधारी शिव से युद्ध करके उन्हें अपने बाहुबल और साहस से प्रसन्न किया तथा उनसे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्राप्त किया। यही इस काव्य की कथा का सार है।

१—*N. C. Chatterji : Home of Bharavi, Proceedings of Or, Conf. 1944.*

किरातार्जुनीय महाकाव्य ने अपने प्रशस्त गुणों के कारण संस्कृत साहित्य में विशिष्ट पद प्राप्त कर लिया है। संस्कृत महाकाव्यों की 'बृहत्त्रयी' (किरात, माघ और नैषध) में इसका प्रमुख स्थान है। समस्त संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के समान दूसरा कोई ऐसा ओजपूर्ण तथा उग्र काव्य नहीं मिलता। इसमें १८ सर्ग हैं। बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के लक्षणानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन करके काव्य का बहुत विस्तार कर दिया है। अर्जुन की तपस्या, सुरांगना-विहार तथा किरात-अर्जुन-युद्ध आदि के विशद वर्णन से उनकी अद्भुत वर्णनाशक्ति सिद्ध होती है। किरात में प्रधान रस वीर है, जिसकी अभिव्यक्ति करने में कवि को अद्वितीय सफलता मिली है। शृङ्गार तथा अन्य रस गौण रूप से वर्णित है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द (श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्) से होता है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भारवि का काव्य अपने 'अर्थ-गौरव' के लिये—अल्प शब्दों में विपुल अर्थ के सन्निवेश के लिये—प्रसिद्ध है—'भारवेरर्थ-गौरवम्'। कृष्णकवि ने ठीक ही कहा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥

भारवि ने अपने काव्य को रुचिर अलंकारों से विभूषित करने में बड़ी कुशलता दिखाई है चतुर्थ सर्ग में शरद् ऋतु का जो नैसर्गिक और हृदयग्राही वर्णन वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उपमा, श्लेष, यमक आदि अलंकारों का प्रयोग भी उचित मात्रा में किया गया है। चरित्र-चित्रण अतिशय प्रभावपूर्ण है। अपमान की ज्वाला से जलती हुई द्रौपदी, प्रचण्ड पराक्रमी भीम, शान्तिमूर्ति युधिष्ठिर, अप्रतिम वीर अर्जुन आदि सभी प्रधान

पात्र बड़ी सजीवता से चित्रित किये गये हैं। व्यास गुप्तचर तथा दूत आदि गौण पात्र भी वास्तविक प्रतीत होते हैं। भारवि की काव्यशैली के कुछ नमूने देखिए—

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः शिखाः पिशंगीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥४।३६

शरद् का सुहावना समय है। 'शिरीषपुष्प की भाँति कोमल हरे तोतों की पाँत मूंगे के टुकड़ों के समान लाल-लाल चोंचों में धान की पीली बालियों को लेकर आकाश में उड़ रही हैं। शुकों का हरा शरीर, उनकी लाल चोंचों, उन चोंचों में पीली बालियाँ—इन रङ्गों की मिलावट से प्रतीत होता है कि आकाश में इन्द्रधनुष उगा हो।' कैसी नयी एवं संश्लिष्ट रूपयोजनात्मक कल्पना है! जलक्रीड़ा करती हुई अप्सराओं का कैसा चारु चित्रण है—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृंदान्तरितैः सरोरुहैः ॥ ८।४७

'जल में अवगाहन करते समय उन दिव्य ललनाओं की दीर्घ केशराशि ने अस्तव्यस्त हो जाने के कारण उनके मुख को ढक लिया। ऐसी प्रतीत होती थी कि उनके वे मुख मानो भ्रमपंक्ति से आच्छादित कमल हों।' भारवि ने दीर्घकाय समासों का प्रयोग नहीं किया है। दुर्योधन के प्रति लोगों की राजभक्ति का कैसा सुबोध वर्णन है।

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥१।१९

'तेजस्वी, स्वाभिमानी, ऐश्वर्यवान्, धनुर्धारी, रणशूर तथा राजभक्त योद्धागण अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी दुर्योधन का प्रिय कार्य करने के लिये उत्सुक हैं।'

किन्तु भारवि किसी स्थान पर अनावश्यक अलंकारप्रियता का प्रदर्शन भी कर बैठते हैं। उदाहरणार्थ, चित्र-काव्य लिखने में

अपना कौशल दिखाने के लिये उन्होंने एक समग्र सर्ग (पंद्रहवां सर्ग) ही लिख डाला है। इसमें सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्यान्य चित्रकाव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक ही अक्षर वाला भी एक श्लोक लिखा है जिसमें एक मात्र 'न' व्यंजनवर्ण का ही प्रयोग हुआ है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ १५।१४

'नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जाने वाला पुरुष पुरुष नहीं और न वही पुरुष कहलाने योग्य है जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचो तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल मनुष्य को मार डालने वाला भी अपराधी नहीं है।' एक ही अक्षर में भारवि ने क्या ही अनूठे विचार भर दिये हैं! किन्तु साथ ही यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के चित्रकाव्य के प्रयोग से उनका काव्य कठिन सा हो गया है। आरम्भ के तीन सर्ग विशेष कठिन हैं, इसलिये वे 'पाषाणत्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतएव मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य को नारिकेल फल के समान बतलाया है जिसका वाह्य रूप रूक्ष तथा विषम है, पर अन्तर में काव्य का मधुर रस निहित है—

नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

अन्तिम चार सर्गों में युद्ध-वर्णन के विस्तार के कारण कहीं-कहीं पुनरुक्ति-दोष भी आगया है। अप्सराओं की क्रीड़ा के वर्णन में तथा अर्जुन को मोहित करने के लिये उनके प्रयत्नों के वर्णन में भी यही दोष प्रवेश कर गया है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी भारवि की कविता में एक विचित्र चमत्कार है उनका अर्थगाम्भीर्य पाठकों के हृदय को अपनी ओर

बरबस खींच लेता है। संवादों की सहायता से कथानक को आगे बढ़ाने का उनका ढङ्ग अनूठा है। किरातार्जुनीय का अधिकांश भाग रोचक संवादों से भरा पड़ा है। भारवि नीति-शास्त्र, अलंकारशास्त्र तथा व्याकरणशास्त्र के पूर्ण पंडित थे। क्षेमेन्द्र ने उनके वंशस्थवृत्त की बड़ी प्रशंसा की है१। उनके पूरे काव्य में नीतिविषयक सूक्तियां भरी पड़ी हैं—'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः,' 'न वंचनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः,' 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः,' 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्', 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः', 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः' इत्यादि। राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन किरातार्जुनीय में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीम और युधिष्ठिर का संवाद राजनीति के गूढ़ तत्वों से भरा पड़ा है। युधिष्ठिर भीम के भाषण की प्रशंसा करते हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ २।२७

ये ही शब्द भारवि की कविता के विषय में भी अक्षरशः चरितार्थ होते हैं।

किरातार्जुनीय कहीं-कहीं काव्यमय होने की अपेक्षा पांडित्यपूर्ण भले ही हो पर हमारे लिये तो वह साहित्य-सौन्दर्य का आगार ही है तथा कालिदास और अश्वघोष के काव्यों के पश्चात् आदरणीय स्थान पाने के सर्वथा योग्य है। उसमें अर्थगांभीर्य के साथ रुचिर एवं परिष्कृत पदावली का प्रयोग मणिकांचन-संयोग का आदर्श उपस्थित करता है!

१—वृत्तच्छत्रस्य सा काऽपि वंशस्थस्य विचित्रता। प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

महाकाव्यों के इतिहास में भारवि अलंकृत काव्य-शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं। काव्य को अलंकारों, प्राकृतिक वर्णनों तथा शाब्दिक चमत्कारों से भूषित करने की पद्धति के सर्व-प्रथम दर्शन किरातार्जुनीय में ही होते हैं। कथानक लघु होने पर भी कवि उसमें चमत्कार, कमनीयता और व्यापकता का समावेश कर देता है। इस अलंकृत वर्णन-शैली का अनुसरण भारवि के परवर्ती कवियों ने बहुलता से किया है।

भट्टि

रावण-वध अथवा भट्टिकाव्य के लेखक भट्टि के कथनानुसार इस महाकाव्य की रचना श्रीधरसेन के राज्यकाल में सौराष्ट्र की वलभी नगरी में हुई। पर शिलालेखों में इस नाम के चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०२ ई० है और अन्तिम राजा का ६४१ ई० है। श्रीधरसेन द्वितीय के ६१० ई० के शिलालेख में किसी भट्टि नामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। अतएव भट्टि का समय ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सातवीं शताब्दी का आरम्भ सिद्ध होता है।

भट्टिकाव्य में २२ सर्ग और १,६२४ श्लोक हैं। इसमें विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के जाने की घटना से आरम्भ करके रामायण की कथा वर्णित है। पर भट्टि का मुख्य लक्ष्य रामकथा-वर्णन के साथ व्याकरण के जटिल नियमों का उदाहरण भी उपस्थित करना था। इस प्रकार यह एक 'शास्त्रकाव्य' है। व्याकरण जानने वालों के लिये यह ग्रन्थ दीपक की भाँति है, पर व्याकरण न जानने वालों के लिये यह उसी प्रकार है जैसे अन्धे के हाथ में दर्पण—

दीपतुल्यःप्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥ २२।२३

भट्टि अपने समय के अलंकारशास्त्र से पूर्ण परिचित हैं। उनके काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का खूब प्रयोग हुआ है। एक सुन्दर यमकावली देखिए—

न गजा नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम् ।
प्रमदा प्रमदामहता महतामरणं मरणं समयात् समयात् ॥ १०।६

आग से जलती हुई लंका का वर्णन है। 'पर्वतों में उत्पन्न होने वाले इन प्यारे हाथियों की रक्षा कोई भी नहीं कर रहा है। ये विशालकाय हाथी अग्नि में भस्म हो रहे हैं। पक्षियों का आनन्द खेल अब नष्ट हो गया। प्यारी वस्तुएँ पीड़ित देख पड़ती हैं। स्त्रियों का मद अब नष्ट हो गया है तथा वे आम (रोग) से पीड़ित हैं। बिना युद्ध के ही बड़े-बड़े योद्धाओं का मरणकाल आ पहुंचा है।' पद्य का चमत्कार दर्शनीय है।

कुछ आलोचकों ने भट्टिकाव्य पर कृत्रिमता और आडम्बर की अधिकता का दोषारोपण किया है। पर उनके काव्य के विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि उसमें वास्तविक काव्य के गुणों की कमी नहीं। पहले तो उन्हें व्याकरण के जटिल से जटिल नियमों के उदाहरण उपस्थित करने थे और दूसरे अपने काव्य के सर्वजनविदित कथानक में मौलिकता का संनिवेश करना था। इसमें संदेह नहीं कि इन उभय उद्देश्यों का एक साथ निर्वाह करना किसी भी कवि के लिये नितान्त कठिन कार्य है। इस कठिनाई के रहते हुए भी भट्टि ने २२ सर्गों का जो विपुलकाय महाकाव्य प्रस्तुत किया है उसमें रोचकता, मधुरता और काव्योचित सरसता का अभाव नहीं है। उनके प्रभावशाली संवाद, प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम

चित्रण, प्रौढ़ व्यंजनाप्रणाली तथा वस्तु-वर्णन उत्कृष्ट कोटि के हैं। उनके वस्तुविन्यास में प्रबन्धात्मक प्रौढ़ता की न्यूनता होते हुए भी उनकी भाषा में प्रसाद और प्रांजलता है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥२।१९

'इस सुहावनी शरद् ऋतु में ऐसा कोई सरोवर नहीं है, जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भ्रमर न बैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं जो गूँज न रहा हो और ऐसी कोई गुञ्जार नहीं जो मन को हर न लेती हो।' एकावली अलंकार का कैसा सुन्दर उदाहरण है!

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतंगः कुमुद्वतीं तीरतरु र्दिनादौ॥ २।४

'प्रभात का आरम्भ होते ही चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर बेचारी कुमुदिनी संकुचित हो गई है। उसकी दुःखद अवस्था अचेतन या जड़ वृक्ष को भी रुला रही है। वृक्ष की आंखें उसकी कोमल पत्तियाँ हैं। उनकी कोरों से टपकती ओस की बूँदें आंसुओं की तरह मालूम होती हैं। चहकती हुई चिड़ियों की आवाज मानो वृक्ष के रोने का स्वर है। इस प्रकार यह तीरस्थ वृक्ष पक्षियों के कलरव के व्याज से मानो कुमुदिनी की दयनीय दशा पर करुण क्रन्दन कर रहा है।'

कुमारदास

कुमारदास-रचित जानकी-हरण भी संस्कृत का एक अनति-प्रसिद्ध महाकाव्य है। सिंहल की जनश्रुति के अनुसार कुमारदास ५१७–५२६ ई० तक वहाँ के राजा थे। इतना तो निश्चित है कि कुमारदास कृत जानकी-हरण पर कालिदास की कृतियों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। जानकी-हरण में कई स्थलों पर कालिदास के

रघुवंश की स्पष्ट छाप देख पड़ती है। एक ओर तो कुमारदास पाणिनीय व्याकरण की प्रसिद्ध टीका काशिकावृत्ति (६५० ई०) से अपना परिचय प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वामन (८०० ई०) ने अपने ग्रन्थ में इनके जानकी-हरण से उद्धरण दिये हैं। अतः उनका स्थितिकाल (६५० ई० से ७५० ई०) के बीच माना जा सकता है।

जानकी-हरण के २५ सर्गों में केवल १५ सर्ग उपलब्ध हैं। इसमें चिरपरिचित रामायण की कथा वर्णित है। फिर भी कुमारदास ने इस पुरानी कथा को नवीन कलेवर प्रदान करने का प्रयास किया है। मौलिकता अधिक न रहते हुए भी उनकी वर्णनशैली सुन्दर है। कालिदास की भाँति वे वैदर्भी-रीति का अनुसरण करते हैं। अनुप्रास कवि का प्रिय अलंकार है। प्रसाद और सुकुमारता कुमारदास की कृति के शेष गुण हैं। शब्दसौष्ठव तथा छन्दों के नाद सौंदर्य के कारण इनकी कविता में अपूर्व माधुर्य का संचार हुआ है। उदाहरण के लिये उनके दो पद्य नीचे दिये जाते हैं। प्रेम की शिथिलता का वर्णन देखिए—

तस्य हस्तमबला व्यपोहितुं मेखलागुणसमीपसंगिनम् ।
मन्दशक्तिररतिं न्यवेदयल्लोलनेत्रगलितेन वारिणा ॥

शिशिर के उपरान्त वसन्त-ऋतु में रात छोटी क्यों होने लगती है तथा दिन क्यों बढ़ जाता है, इस पर कवि कुमारदास की कल्पना देखिए—

प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद ।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण ॥

'अपने प्रियतम शिशिर के वियोग से दुखी होकर बेचारी रात्रि क्रमशः क्षीण होती जा रही है। उधर बसन्त की कठोर धूप से थककर दिन भी अब रुक-रुक कर चलने लगा'। राजशेखर ने (९०० ई०) कुमारदास की प्रशंसा इस प्रकार की है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ॥

'रघुवंश के मौजूद रहते जानकी-हरण करने की क्षमता या तो रावण में थी या कवि कुमारदास में ।'

माघ

सुप्रसिद्ध महाकाव्य शिशुपाल-वध के रचयिता माघ अपने विषय में केवल यही कहते हैं कि उनके पिता दत्तक सर्वाश्रय थे और उनके पितामह सुप्रभदेव, वर्मलात नानक राजा के मन्त्री थे। माघ के समय-निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई उन्हें सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानता है तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य में। नीचे दिए प्रमाणों के अनुसार पहला समय अधिक समीचीन जान पड़ता है।

माघ के समय की नीचे की सीमा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर निर्धारित होती है। सोमदेव अपने 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०) में माघ का उल्लेख करते हैं। श्री आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने अपने 'ध्वन्यालोक' शिशुपाल-वध के दो श्लोकों (३।५३, ५।२६) को उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। इससे पहले, राष्ट्रकूटों के राजा नृपतुंग (८१४ ई०) ने अपने कन्नड़ी भाषा के ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में माघ को कालिदास का समकक्ष स्वीकार किया है। इससे यह स्पष्ट है कि नृपतुंग के समय में, अर्थात् नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में; माघ ने साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया था। अतएव यह निश्चित है कि माघ का अविर्भावकाल ८०० ई० के बाद का नहीं हो सकता।

६२५ ई० के एक शिलालेख के आधार पर माघ का समय लगभग १०० वर्ष और पूर्व का सिद्ध होता है। यह शिलालेख वर्मलात राजा का है जो माघ के पितामह सुप्रभदेव के आश्रय-

दाता थे। सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आस-पास का था और उनके पौत्र माघ का समय ६५०—७०० ई० तक रहा होगा।

माघ का समय निर्धारित करने के लिये एक महत्त्वपूर्ण अंत-रङ्ग प्रमाण मिलता है। वह शिशुपाल-वध के द्वितीय सर्ग का नीचे लिखा श्लोक है जिसमें श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्दविद्या (व्याकरणशास्त्र) से की गई है—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ २।११२

इस श्लोक में 'काशिकावृत्ति' और 'न्यास' नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। मल्लिनाथ और वल्लभदेव दोनों टीकाकारों ने इस संकेत का स्पष्ट उल्लेख किया है। 'काशिकावृत्ति' की रचना वामन और जयादित्य ने ६५० ई० में की थी। अतः यह निश्चित है कि माघ इस समय के बाद ही हुए होंगे। किन्तु उक्त श्लोक में 'न्यास' शब्द से किस ग्रन्थ-विशेष की ओर संकेत है इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। पाठक[१] महोदय का कहना है कि उक्त 'न्यास' से अभिप्राय 'काशिकावृत्ति' की जिनेन्द्रबुद्धि-रचित 'न्यास' नामक टीका से है जिनकी रचना लग-भग ७०० ई० में हुई। उनके मतानुसार माघ का समय इस आधार पर ७५० ई० के आस-पास सिद्ध होता है। पर यह कहना उचित नहीं है कि माघ उक्त श्लोक में जिनेन्द्रबुद्धि के ही 'न्यास' ग्रन्थ की ओर संकेत कर रहे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि के पहले भी 'न्यास' नामक ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी। काणे[२] महोदय ने दिखाया है कि बाण (६२० ई०) ने अपने 'हर्षचरित' में 'न्यास' का उल्लेख किया है (कृतगुरुपदन्यासा लोक

१—Ind. Ant. 1912, p. 235 and JBBRAS Vol. 23, p. 18

२—*History of Alankara Literature p. 36*

इव व्याकरणेऽपि)। संभव है कि बाण के समान माघ ने भी इसी 'न्यास' की ओर संकेत किया हो, न कि जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' की ओर। अतः माघ का समय जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०) के पीछे नहीं माना जा सकता और सम्भवतः वे सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हुए थे।

माघ के महाकाव्य की गणना 'बृहत्त्रयी' में होती है। शिशुपालवध को छोड़ कर माघ की किसी अन्य रचना का अभी तक पता नहीं लगा। सूक्ति-संग्रहों में अवश्य कई एक ऐसे पद्य[१] माघ के नाम से दिये गये हैं जो शिशुपालवध में नहीं मिलते। संभव है कि माघ की और भी कोई रचना रही हो जो अब उपलब्ध नहीं होती।

माघ का आदर्श भारवि-कृत किरातार्जुनीय था, यह बात दोनों ग्रन्थों की पारस्परिक तुलना करने से स्पष्ट विदित हो जाती है:—(१) दोनों महाकाव्यों की मुख्य कथा महाभारत से ली गई है। (२) दोनों ग्रंथों का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है, किरात के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपत्य पालिनीम्' है, तो माघ के प्रारम्भ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। (३) दोनों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है, किरात में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के प्रति, माघ में नारद के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति। (४) किरात के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर, भीम और द्रौपदी के बीच राजनीतिविषयक संवाद होता है तो शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग में बलराम, श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच इसी विषय पर परामर्श होता है। (५) किरात में महर्षि वेदव्यास पाण्डवों

१—बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः॥
(औचित्यविचारचर्चा)

को मार्ग सुझाते हैं तो माघ में देवर्षि नारद ऐसा ही उपदेश करते हैं। (६) किरात में अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये जाते हैं तो माघ में श्रीकृष्ण रैवतक पर्वत के समीप ठहरते हैं। (७) किरात में यदि हिमालय का यमकालंकारों के द्वारा वर्णन हुआ है तो माघ में इसी प्रकार रैवतक का वर्णन है। (८) दोनों में अप्सराओं के विहार का चारु चित्रण है। (६) किरात में किरातवेशधारी शिव अर्जुन का अपमान करने के लिये दूत भेजते हैं तो माघ में शिशुपाल, श्रीकृष्ण का अनादर करने के लिये दूत भेजता है। (१०) किरात के १३ में तथा १४वें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में वाद-विवाद हुआ है तो माघ में १६वें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत सात्यकि में हुआ है। (११) किरात के १५वें और माघ के ११वें सर्ग में चित्र-बन्धों द्वारा युद्ध-वर्णन है। (१२) दोनों में संध्या-काल, रात्रि, चन्द्रोदय, ऋतुओं एवं यात्रा का यथास्थान वर्णन हुआ है। (१३) भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है तो माघ ने इसी प्रकार अपने काव्य के सर्गांत पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है। (१४) दोनों के वर्णन-क्रम में भी समानता है। (१५) दोनों काव्यों में द्वन्द्वयुद्ध के पूर्व विपक्षियों की सेनाओं में संघर्ष होता है।

शिशुपालवध में २० सर्ग और १६५० श्लोक हैं। उसकी कथा का सार इस प्रकार है। देवर्षि नारद इन्द्र की ओर से श्रीकृष्ण को देवताओं के विरोधी शिशुपाल का नाश करने के लिये प्रेरित करते हैं। बलराम तुरन्त युद्ध छेड़ने का परामर्श देते हैं और उद्धव युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जाने का। श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में उनका सारथि दारुक रैवतक पर्वत का वर्णन करता है।

रात्रि हो जाने पर सेना पड़ाव डाल देती है। यादव लोग अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा और वनविहार में मग्न हो जाते हैं। सूर्योदय होने पर सेना सहित यमुना पार करके श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचते हैं। युधिष्ठिर उनको अग्रिम पूजा करके उन्हें सम्मानित करते हैं। शिशुपाल इसका विरोध करता है और लड़ाई के लिये सेना तैयार करता है। अपने दूत द्वारा दर्पपूर्ण सन्देश भेज कर शिशुपाल युद्ध को अवश्यम्भावी बना देता है। दोनों सेनाओं में युद्ध होता है, अन्त में श्रीकृष्ण सुदर्शनचक्र से शिशुपाल का सिर काट डालते हैं, और उसका तेज उनमें लीन हो जाता है।

माघ वास्तव में उच्च कोटि के कवि हैं। उनका सारा काव्य प्रौढ़ एवं उदात्त शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलङ्कारों से विभूषित भाषा में प्रकट किया गया है। इस कारण सम्पूर्ण काव्य आदि से अन्त तक अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो गया है। शैली की असाधारणता सर्वत्र झलकती है। प्रत्येक सर्ग में ओजोगुणमयी कविता का विकास दिखाई पड़ता है। प्रायः प्रत्येक सर्ग में कुछ ऐसे पद्य हैं जो वर्णन सौन्दर्य, भाव-सौष्ठव अथवा विचारगांभीर्य की दृष्टि से अद्वितीय कहे जा सकते हैं।

माघ-काव्य के वर्णन बड़े सजीव एवं सालंकार हैं। माघ की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति अद्भुत एवं प्रभावपूर्ण हैं। उनके प्रकृति के शब्दचित्र बड़े ही मनोरम हैं। रैवतक पर्वत को क्या ही विशाल हाथी का रूप दिया गया है।

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥ ४।२०

रैवतक पर्वत की प्रातःकालीन सुषमा का यह वर्णन है। 'ऊपर फैली हुई रज्जुरूपी किरणों से युक्त सूर्य एक ओर उदय हो रहा

है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है। जान पड़ता है कि यह रैवतक उस गजेन्द्र की शोभा धारण कर रहा है जिसके दोनों ओर दो उज्ज्वल घण्टे लटक रहे हों।' इसी कल्पना के कारण माघ को 'घण्टामाघ' कहा गया है। एक और कल्पना की बहार देखिए—

उदयशिखरिशृंगप्रांगणेष्वेव रिंगन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥११।४७

'जैसे कोई बालक आंगन में खेल रहा है: स्नेहशील मां उसे पुकार रही है, और वह हंसते हुए अपने कोमल हाथ फैला कर उसकी गोद में जा गिरता है; उसी प्रकार यह बालसूर्य उदयाचल के शिखररूपी आंगन में थिरकता हुआ, खिले कमलमुखों से हंसती हुई पद्मिनियों के देखते-देखते अपने कोमल करों (किरणों) को फैला कर, पक्षियों के कलरव के व्याज से पुकारती हुई अपनी आकाशरूपी माता की गोद में लीलापूर्वक उचक रहा है।'

माघ के संवाद बड़े ही सरल एवं ओजःपूर्ण होते हैं। किस कटुता तथा ओजस्विता के साथ शिशुपाल, श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम सम्मानित करने के कारण, युधिष्ठिर से अपना विरोध प्रदर्शित कर रहा है—

अनृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यते।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतिः तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता॥१५।१६

'डंके की चोट से संसार में घोषणा की जाती है कि तुम असत्य-भाषण नहीं करते, पर इस निन्दनीय कृष्ण की पूजा कर तुम अपने असत्याचरण का खुला विज्ञापन कर रहे हो।'

माघ की कविता की सरसता, अलंकारों की नवीनता, श्लेष की उपयुक्तता तथा चित्रालंकारों की विचित्रता दर्शनीय है। माघ ने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर मुग्धकारिणी स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति' उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि का समुचित सन्निवेश किया है। रैवतक पर्वत के वर्णन में कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा व्यवहृत हुई है—

अपशंकमंक परिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥ ४।४७

कन्या की विदाई का करुण दृश्य है। रैवतक पर्वत की कन्याएँ (नदियां) जो अपने पिता की गोद में निःशङ्क भाव से लोटती थीं, आज पति-समागम (सागर-मिलन) के लिये जा रही हैं। पिता का स्नेहमय हृदय कन्याओं का वियोग देखकर पक्षियों के करलव के रूप में क्रन्दन कर रहा है।' अनुरूप दृष्टान्त देने में भी माघ कुशल है—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी॥ १६।२५

'जिस समय शिशुपाल श्रीकृष्ण को गालियां सुना रहा था उस समय श्रीकृष्ण ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। सिंह मेघों का गर्जन सुनकर ही हुँकार करता है, शृगालों का रूदर सुनकर नहीं।'

माघ की उपमाएं भी रोचक हुई हैं। प्रातःकाल की चहकती चिड़ियों का कलरव घड़े को जल में डुबोने के समय होने वाले कुल-कुल शब्द के समान है। प्रभात-वेला में गृहों के दीपों की मन्द कान्तिवाली शिखा ऊंघते हुये गृहों के नेत्रों के समान है। शिशुपाल की सेना का श्रीकृष्ण की सेना से भिड़ना वैसा ही है जैसे नदियों के जल का महासागर की गगनचुम्बी ऊर्मियों से टकराना।

अनुप्रासों में माघ का पदलालित्य रमणीय है—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकरांगनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥ ६।२०

माघके शृङ्गारिक पदोंकी स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥ ३।१६

'जिस-जिस प्रिया को प्रियतम (श्रीकृष्ण) ने देखा उसने लज्जा से अपना मुंह नीचा कर लिया। इस पर दूसरी युवतियों ने उस प्रियतम को ईर्ष्यावश, निर्भय होकर, एक साथ अपने नयन-बाणों से घायल कर दिया।'

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥ १३।४०

'प्रलय के समय जिस कृष्ण के उदर में सारा संसार समा गया था, उसी कृष्ण को एक उत्कंठित युवती ने अपने अधखुले नेत्र के एक कोने से ही पी लिया।'

भारतीय आलोचकों ने एक मत से माघ पर प्रभूत प्रशंसा की वृष्टि की है। उनमें कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव तथा दण्डी का पदलालित्य, इन तीनों गुणों का एकत्र सन्निवेश बताया गया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

पर यह माघ के किसी अनन्य भक्त की अत्युक्तिपूर्ण उक्ति मात्र है। पहले तो माघ में मौलिकता की ही कमी है। उनके काव्य का आदर्श किरातार्जुनीय है। भाव और भाषा दोनों में भारवि की छाया स्पष्ट देख पड़ती है। दूसरे, माघ की कविता में प्रतिभा

की अपेक्षा पांडित्य का प्राधान्य है। उनकी शाब्दिक क्रीड़ा १६ वें सर्ग में पराकाष्ठा को पहुंच गयी है। अधिक पांडित्यपूर्ण होने के कारण माघ की शैली श्रमसिद्ध प्रतीत होती है। उसमें श्लिष्ट शब्दों का चमत्कार अधिक है। चौदहवें सर्ग में शिशुपाल के दूत की उभयार्थक चतुर उक्त देखिए—

अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः।
भवतोऽभिमनाः समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम् ॥ १७१२

आपके अप्रसन्न हो जाने की बात सुन कर शिशुपाल को बड़ा दुःख (क्रोध) हुआ है। वह बड़ी उत्सुकता से (निर्भयता से) आपका सम्मान करने के लिये (काम तमाम करने के लिये) आपके समक्ष आना चाहता है।' कभी-कभी माघ प्रायः अत्यन्त अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे पाठकों को कविता का अर्थ हृदयङ्गम करने में बड़ी कठिनाई होती है। कभी वे व्याकरणात्मक उपमाओं के प्रयोग में अपनी प्रवीणता दिखाने के लिये अथवा किसी विशेष शब्द या चरण के प्रयोग में अपनी निपुणता प्रकट करने के हेतु पद्यों का निर्माण करते हैं। संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं की ओर भी वे प्रायः संकेत करते हैं। अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों तथा कल्पनाओं की ऊँची उड़ानों से उनकी कविता भरी पड़ी है। कभी-कभी प्रभाव उत्पन्न करने की भावना से शब्दों के बाह्य सौन्दर्य के फेर में पड़ कर वे अर्थ की स्पष्टता का निर्वाह नहीं कर पाते। पाठक उनके लम्बे वर्णनों को पढ़ कर ऊब जाते हैं। उनके परम्परा-भुक्त प्रकृति-वर्णन अलंकारों से लदे होने के कारण स्वाभाविक नहीं लगते। कालिदास, बाण और भवभूति की अपेक्षा उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण कम बिम्बग्राही है।

सौभाग्यवश माघ के अनुपम गुणों के उज्ज्वल प्रकाश में उनके दोषान्धकार का परिहार हो जाता है। यद्यपि उनमें भारवि

की परिमितता एवं गांभीर्य नहीं है, तथापि उनकी व्यंजना-प्रणाली अनुपम और कल्पना अपरिमित है। माघ में कालिदास की सी उपमाएँ भले ही न मिलें, फिर भी उनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थ-गौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निस्सन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

माघ का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार है। नवीन शब्दावली का तो उनका काव्य आगार ही है। संस्कृत समालोचकों ने तो यहां तक कह डाला है कि प्रथम नौ सर्गों में माघ ने संस्कृत शब्दों का खजाना खाली कर दिया है—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'। शब्द-भण्डार ही नहीं, उनका ज्ञान-भण्डार भी विचक्षण। उनमें सर्वशास्त्रों का परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है। दर्शनों का भी उन्हें विशिष्ट ज्ञान है। सांख्य-दर्शन के सिद्धांतों का कई जगह वर्णन मिलता है१। बौद्ध दर्शन से भी वे भली-भाँति परिचित थे।२ नाट्य-शास्त्र३, व्याकरण४, संगीतशास्त्र५, अलंकारशास्त्र६, राजनीति७, सभी के वे पंडित थे।

आश्चर्य नहीं यदि पुराने आलोचक माघ के पांडित्य एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर भावातिरेक में उनकी इस प्रकार प्रशंसा करें—

कृत्स्नप्रबोधकृद्वाणी भारवेरिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते॥ (राजशेखर)

'जहां भारवि की कविता सूर्य-किरणों की भांति समग्र ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है, वहां माघ मास के समान माघ का

१—१।२३, ४।४५, १४।१९.
२—२।२८. ३—पुर्वरंगः प्रसंजाय नाटकीयस्य वस्तुनः। ४—१९।७५.
५—११।१. ६—२।८६, ८७. ७—२।११२.

नाम सुनकर किस कवि को कंपकंपी नहीं बंध जाती ?' धनपाल ने भी इसी कथन का समर्थन किया है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे ।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा ॥

'जिस प्रकार माघ के ठिठुरते जाड़े में बन्दर सूर्य का स्मरण करते उछल-कूद नहीं मचाते, उसी प्रकार माघ की रचना के सामने बड़े-बड़े कवियों का पद-योजना करने में उत्साह ठण्डा पड़ जाता है, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण करें ।'

रत्नाकर

संस्कृत महाकाव्यों में सबसे अधिक बृहत्काय महाकाव्य रत्नाकर-विरचित हरविजय है । किन्तु इसकी प्रसिद्धि या पठन-पाठन अधिक नहीं है । रत्नाकर काश्मीरी कवि थे । इनके पिता का नाम अमृतभानु था । रत्नाकर काश्मीरी-नरेश चिप्पटजयापीड़ (७७६-८१३ ई०) के आश्रित कवि थे । जयापीड़ अद्भुत मेधावी होने के कारण 'बालबृहस्पति' कहलाते थे । परन्तु कल्हण की 'राजतरंगिणी' से विदित होता है कि रत्नाकर ने राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५५-८८४) में प्रसिद्धि पाई थी—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥५।३६

यदि रत्नाकर, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, बालबृहस्पति के आश्रित थे, तो वे अवन्तिवर्मा के शासनकाल में काफी वृद्ध हो गये होंगे। संभव है कि रत्नाकर के गुणों को पहले जयापीड़ ने आंका हो किन्तु उनकी ख्याति अवन्तिवर्मा के समय में जाकर हुई हो । हरविजय के अतिरिक्त रत्नाकर ने वक्रोक्तिपंचाशिका और ध्वनिगाथापंजिका नामक दो ग्रन्थ और लिखे हैं ।

हरविजय में ५० सर्ग और ४,३२० श्लोक हैं इसमें शिव द्वारा अन्धकासुर–वध की कथा वर्णित है। पार्वती ने शिव के नेत्रों को लीलावश अपने हाथों से ढक लिया, इसलिये शिव से उत्पन्न अन्धक दृष्टिहीन हुआ। किन्तु तपस्या करके उसने शिव से दृष्टि पाई और तीनों लोकों का स्वामी बन बैठा। अन्त में शिव को उसे मार डालना पड़ा। कथानक छोटा होते हुये भी कवि ने वर्णन का अत्यधिक विस्तार करके ग्रन्थ को विपुलकाय कर दिया है। अन्धकासुर का नाश करने के लिये शिव के सचिवों में परामर्श ११ सर्गों में जाकर समाप्त होता है। १३ सर्गों में शिवगणों के विहार का वर्णन है। ७ सर्गों में शिव के दूत और अन्धकासुर में संवाद ही होता रहता है। शिव-सेना की युद्ध के लिये तैयारी का ही वर्णन ४ सर्गों में हुआ है। रत्नाकर ने बाण का अनुकरण करने का दावा किया है। माघकाव्य का भी प्रभाव हरविजय पर स्पष्ट देख पड़ता है। माघ की भाँति रत्नाकर ने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में एक शब्द-विशेष—'रत्न'—का प्रयोग किया है। माघ ने अपने काव्य को लक्ष्मी-पतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहा है तो शिवभक्त रत्नाकर ने अपने काव्य हरविजय को 'चन्द्रार्धचूडचरिताश्रयचारु' की पदवी प्रदान की है।

कवि ने अपनी काव्य-शैली के विषय में जो गर्वोक्ति की है वह अनेक अंशों में यथार्थ है—

ललितमधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहरा
विकटयमक श्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गलाः।
असदृशगती श्चित्रं मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरपि शङ्कते॥

शैव दर्शन, नीतिशास्त्र, कामसूत्र तथा इतिहास—पुराण का सम्यक्ज्ञान इस महाकाव्य में सर्वत्र लक्षित होता है। साथ ही,

उसमें नाट्य, संगीत, अलंकार तथा चित्रकला जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है[१]। हरविजय काव्य से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। समरभूमि में हाथी का वर्णन है—

युधि धावतः प्रतिगजाभिमुखं पुनरप्यधाद्गजपतेः सरुषः।
दलिताश्रयः सपदि केतुपटः पतितो मुखे पृथुमुखच्छदताम्॥४२।११

'एक भीमकाय हाथी कुपित होकर शत्रु-पक्ष के हाथी का सामना करने के लिये वेग से दौड़ा। शत्रु-पक्ष के हाथी की टूटी हुई ध्वजा का वस्त्र गिर पड़ा जिससे जान पड़ने लगा कि मानो उसने लज्जित होकर एक बड़े पर्दे से अपना मुंह ढक लिया हो।'

क्षेमेन्द्र ने रत्नाकर की 'वसन्ततिलका' की इस प्रकार प्रशंसा की है—

वसन्ततिलका रूढ़ा वाग्वल्ली गाढसंगिनी।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने॥

'अलंकार-विमर्श' में रत्नाकर की इस प्रकार प्रशंसा की गई है—

माघः शिशुपालवधं विदधत् कविमदवधं विदधे।
रत्नाकरः स्वविजयं हरविजयं वर्णयन् व्यवृणोत्॥

राजशेखर के अनुसार तो ब्रह्मा ने चार रत्नाकरों (समुद्रों) को पर्याप्त न समझ कर इस पाँचवे रत्नाकर (कवि) की सृष्टि की—

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव सत्कृतो धात्रा कवी रत्नाकरोऽपरः॥

१—*C. Shivaramamurti: Art Tit-bits from Ratnakar's* 'हरविजय' *Krishnaswami Aiyangar Com. vol. pp. 425-432.*

हरिचन्द्र

जैन महाकाव्यों में धर्मशर्माभ्युदय नामक २१ सर्ग का महाकाव्य विशेष उल्लेखनोय है। इसके रचयिता हरिचन्द्र का समय निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। इनका जन्म 'नोमक' वंश में हुआ और ये कायस्थ जाति के थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव तथा माता का रथ्यादेवी था। बाण ने हर्षचरित के आरम्भ में जिन भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, वे इनसे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि भट्टार हरिचन्द्र गद्य के लेखक थे, महाकाव्य के नहीं। हरिचन्द्र के नाम से 'जीवनधर-चम्पू' नामक ६०० ई० का ग्रन्थ भी मिलता है कर्पूरमंजरी की प्रथम जवनिका में हरिचन्द्र का नाम उल्लिखित है। एक और वैद्य हरिचन्द्र भी मिलते हैं, जो साहसांक नामक राजा के प्रधान वैद्य थे तथा जिन्होंने चरकसंहिता पर टीका लिखी है। वाक्पतिराज (८ वीं शताब्दी ई०) ने अपने 'गौडवहो' काव्य में भास, कालिदास और सुबन्धु के साथ हरिचन्द्र का भी उल्लेख किया है[१]। कुछ लोग हरिचन्द्र को तथा प्रयाग के अशोकस्तम्भ वाली प्रशस्ति के लेखक हरिषेण को एक ही व्यक्ति मानते हैं[२]। इन कवियों और ग्रन्थकारों में किसी से भी धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता का ऐक्य निःसन्दिग्ध रूप से नहीं सिद्ध किया जा सकता। किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि ये भी एक प्राचीन कवि हैं। इनके ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का समय १२८७ वि० संवत् है। अतः उनका स्थितिकाल इस समय से पूर्व ही रहा होगा। इसके अतिरिक्त वाग्भट के नेमिनिर्वाण काव्य (१२०० ई०) पर

१—भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हरियन्दे अ आणन्दो॥

२—*Indian Culture Vol. VI P. 208.*

धर्मशर्माभ्युदय का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार हरिचंद्र का समय ११ वीं शताब्दी ही ठहरता है। सुभाषित-संग्रहों में हरिचन्द्र उद्धृत किये गये हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में उन्हें महा-कवियों की श्रेणी में रखा गया है—

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः सूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

धर्मशर्माभ्युदय में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की जन्म से निर्वाण पर्यन्त कथा वर्णित है। यह काव्य वैदर्भी-रीति में लिखा गया है। भारवि और माघ के समान हरिचन्द्र ने भी अपने काव्य (१६ वें सर्ग) में चित्रालंकारों[१] की भरमार की है। कवित्व का माधुय एवं प्रसाद दर्शनीय है—

सकर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं विधत्ते॥

कविराज

राघवपाण्डवीय महाकाव्य के कर्ता कविराज का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी था। वे जयन्तपुरी के कदम्ब राजा कामदेव (११८२–६७) के सभा-पण्डित थे। उनका नाम माधवभट्ट था और कविराज सूरि, पंडित आदि इनकी उपाधियाँ थीं। राघवपाण्डीव एक अद्भुत महाकाव्य है। इसके प्रत्येक श्लोक में श्लेष द्वारा रामायण और महाभारत की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है। उदाहरण स्वरूप नीचे लिखे पद्य का अवलोकन कीजिए—

१—रैरेऽरी रोरुररुरत्काकुकं केकिकङ्किकः।
चञ्चच्चञ्चूच्चचिच्चोचे ततताततीति तं ततः॥ १९।३२ (चतुरक्षरः)

के समुचित निर्वाह में, कल्पना की ऊंची उड़ान में तथा प्रकृति के सजीव चित्रण में यह महाकाव्य काव्य-जगत् में अपना सानी नहीं रखता। उनकी स्वभाव-मधुर कविता किस सहृदय के मन को हर नहीं लेती? शब्द और अर्थ की नवीनता उसे सचमुच 'एकार्थमत्यजतो नवार्थघटनाम्' बना देती है। नैषध में एक ही विषय पर कई श्लोकों में वर्णन मिलेगा, पर सर्वत्र नवीन शब्दावली एवं अभिनव पदशय्या उपलब्ध होती है। शब्द और अर्थ का मनोहर सामंजस्य नैषध में है। श्रीहर्ष की अलोक-सामान्य प्रतिभा से जाज्वल्यमान नैषध-रूपी हीरक के सामने किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध आदि काव्यों की आभा फीकी पड़ जाती है—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः'।

श्रीहर्ष ने अपनी भारती को अलंकारों द्वारा इस प्रकार विभूषित किया है कि उसकी भव्यमूर्ति देखते ही बनती है। अतिशयोक्ति की मनोहर उद्भावना में, उपमा, रूपक, यमक, अनुप्रास, विरोधाभास, श्लेष के समुचित प्रयोग में श्रीहर्ष अद्वितीय हैं। यमक की छटा द्वारा कन्दर्प की कैसी स्तुति की गई है—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मदं वः॥११।२५

'जिसने शृङ्गारिक भावों से ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भी शान्तभाव को जर्जर कर दिया है और अपने पांचों बाणों से जिसने संसारी जीवों की पांचों इन्द्रियों को क्षुब्ध किया है, वे पंचसायक कामदेव आपको प्रमुदित करें।' एक उत्प्रेक्षा का भी अवलोकन कीजिए—

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे॥ ३।३३

दमयन्ती से नल की प्रशंसा करते हुए हंस कहता है कि जब, चन्द्रमा ने अपने मुख को जीतनेवाले नल के मुख का वर्णन मुझसे सुना तो वह अत्यन्त लज्जित होकर कभी सूर्यमंडल में प्रवेश कर जाता है, कभी समुद्र में कूद पड़ता है और कभी मेघमाला के पीछे छिप जाता है !'

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को 'शृङ्गारामृतशीगुः'—शृङ्गार-रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है। रमणीरूप के वर्णन में, शृङ्गार-रस की मधुर व्यंजना में कवि ने विलक्षण सहृदयता का परिचय दिया है। दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य का क्या ही अनूठा चित्रण है—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २।२५

'जान पड़ता है, दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड़ कर उसका सार भाग खींच लिया है। इसी कारण बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ती है१।' दमयन्ती के उरोजों के ऊपर क्या ही अच्छी कल्पना है—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतो गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ २।३१

'दमयन्ती का शरीर कान्ति के झरनों से अथाह हो गया है, अतः उसमें चलने वालों को डूबने का भय सदा बना रहता है। पर

१—इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—
कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा ॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परछांहीं ॥
—रामचरित मानस, लङ्का काण्ड ।

दमयन्ती के अङ्ग-प्रत्यंग में काम और यौवन का संचार है। वे दोनों अपने को डूबने से कैसे बाचावें ? डूबते को तिनके का भी सहारा काफी है, इनको भी तैरने के लिये दो घड़े मिल गये हैं—ये ही दमयन्ती के दोनों उरोज हैं। इन्हीं के सहारे काम तथा यौवन उसके शरीर रूपी सरोवर में स्वच्छन्द सन्तरण कर रहे हैं।'

दमयन्ती नल को वरण करने की इच्छा को कैसे चमत्कार-पूर्ण ढङ्ग से व्यक्त करती है—

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥ ३।५९

'जिस मनोरथ को मन नहीं छोड़ता, जिसे मैंने हृदय में धारण कर रखा है, वह मनोरथ मेरे कंठपथ में कैसे आ सकता है ? मन की बात वाणी से कैसे कही जाय ? हे हंस ! कौन कुलांगना राजा (नल) से पाणिग्रहण होने की अभिलाषा स्वयं अपने मुख से व्यक्त करने की धृष्टता कर सकती है ? (या, कौन विवेकवती बाला चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा कर कर सकती है ?)' नल के विरह से व्याकुल दमयन्ती की मनोदशा का वर्णन कर विप्रलंभ शृङ्गार का सुन्दर वर्णन किया गया हैं। अग्नि से उत्पन्न हुई दाहव्यथा कोई व्यथा नहीं। वियोगाग्नि से उत्पन्न हुई व्यथा ही उत्कट व्यथा है। नहीं तो स्त्रियाँ मृत पति के साथ प्रत्यक्ष अग्नि में क्यों भस्म हो जातीं (४।४६) ? चन्द्रमा विरहिणी स्त्रियों का निर्दय घातक ही है—

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।
शिति निशादृषदि स्फुटमुत्पतत् कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥४।४६

'इस चन्द्रमा ने अनेक निरपराध विरहिणी स्त्रियों को मार कर पाप कमाया है। इसी से यह घुमा कर रात्रिरूपी चट्टान पर

आकाश से पटका जाता है। पटके जाने पर खण्ड-खण्ड हो जाने से इसके जो कण चारों ओर बिखर गये, वे ही मानो आकाश में तारों के रूप में चमक रहे हैं।'

नैषध में कहीं-कहीं विस्तार की अधिकता पाई जाती है। तभी तो जो कथा महाभारत के 'नलोपाख्यान' के कुछ अध्यायों में ही समाप्त हो जाती है, वही नैषध में २२ लंबे-लंबे सर्गों में अति विस्तीर्ण कर दी गई है। समालोचकों का यह कहना बहुत-कुछ ठीक है कि कालिदास के पीछे के बने काव्यों में कृत्रिमता का समावेश हुआ है। उनमें मुख्य विषयों की ओर कम, परन्तु आनुषंगिक विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। द्वितीय सर्ग में हंस के मुख से श्रीहर्ष दमयन्ती का वर्णन कर चुके हैं, फिर भी पूरा सातवां सर्ग दमयन्ती के नख-शिख वर्णन से ही भरा है। यही नहीं दसवें सर्ग में भी स्वयंवर के समय इस वर्णन का पिष्टपेषण हुआ है। महाभारत में नल-दमयन्ती के प्रेम का पवित्र एवं सात्विक रूप दर्शित है, पर श्रीहर्ष ने उसे विलास और वासना के रंग में रंग कर चित्रित किया है। साथ ही, महाभारत में नल के निर्वासित जीवन की जिन कारुणिक एवं मार्मिक दशाओं का चित्रण हुआ है, नैषध में उनका उल्लेख तक नहीं किया गया। नैषध की विलास-वाटिका में मानो जीवन के जटिल वट-वृक्षों को कोई स्थान ही नहीं था।

किंवदन्ती है कि 'काव्यप्रकाश' के कर्त्ता मम्मट ने नैषध की यह आलोचना की थी कि काव्यप्रकाश के सप्तम (दोष) उल्लास को लिखने के पहले ही यदि यह ग्रन्थ मुझे मिल गया होता तो काव्य-दोषों के उदाहरण ढूँढ़ने में मुझे इतना प्रयास न करना पड़ता, क्योंकि काव्य के सारे दोषों के उदाहरण मुझे इसी में एकत्र मिल गये होते। इस आलोचना में अवश्य ही अत्युक्ति है,

किन्तु यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि नैषध आदर्श महाकाव्य नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि उसका कथानक मानवजीवन की समग्रता का अङ्कन नहीं करता, केवल शृङ्गार का एकदेशीय चित्र उपस्थित करता है। चरित्र-चित्रण में तथा कथानक की कलात्मक सृष्टि में श्रीहर्ष निपुण नहीं कहे जा सकते। मौलिक भावों के अभाव में, एक ही भाव दो पद्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, नैषध के प्रथम दो श्लोकों को ही लीजिए। पहले श्लोक में जो भाव व्यक्त किया गया है, दूसरे श्लोक में उसी की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति है। आदि से अन्त तक काव्य विलक्षण अत्युक्तियों और दुरूह कल्पनाओं से जटिल हो गया है। कहीं-कहीं श्रीहर्ष अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाते हैं। श्लेष का प्रयोग कर वे बड़ी क्लिष्टता पैदा कर देते हैं। नैषध की पंचनली प्रसिद्ध ही है। इस वर्णन में श्रीहर्ष ने अपनी अपूर्व श्लेष-चातुरी व्यक्त की है। प्रत्येक श्लोक से दमयन्ती को पाने की इच्छा से आए हुए देवता तथा राजा नल दोनों का अर्थ निकलता है। एक नमूना देखिये—

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलःखलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरःकतरः पुनस्ते॥१३।३४

नल के संमुख दमयन्ती खड़ी है। इस श्लोक में देवता और नल दोनों का अर्थ व्यंजित कर सरस्वती उसे मोह में डाल रही है—'हे विदुषि ! यह तो देवता है, पृथ्वीपति नहीं। क्या तू इसे वरमाला नहीं पहनाना चाहती ? मैं सच कहती हूँ, यह तेरा नल नहीं है, किन्तु नल की आभा मात्र है। यदि तू इसे छोड़ देगी तो फिर और कौन तेरा वर होगा ?' पर इसी शब्दावलि में नल की भी ध्वनि निकलती है—'हे विदुषि ! नैषधराज के भेष में अपने पति

इस राजा को तू क्यों नहीं पहचानती और क्या तू इसे जयमाल पहनाना नहीं चाहती ? यदि तू इसे छोड़ देगी तो तेरी बड़ी हानि होगी, फिर और कौन तेरा वर होगा ?'

किन्तु इस प्रकार काव्य को क्लिष्ट करना तो श्रीहर्ष का प्रयोजन ही था—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिति मास्मिन्खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥

'पण्डित होने का दर्प करने वाला कोई दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को हठपूर्वक जानने का चापल्य न कर सके, इसीलिये हमने जान-बूझ कर कहीं-कहीं इस ग्रन्थ में ग्रन्थियाँ लगा दी हैं। जो सज्जन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु को प्रसन्न करके इन गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में हिलोरें ले सकेंगे।'

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी नैषध का 'बृहत्त्रयी' में आदर से नाम लिया जाता है। नैषद में पदविन्यास और छन्दःकौशल के समस्त वैभव का प्रवीण प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। शब्दों के भावार्थ से यथेच्छ क्रीड़ा करने वाले, प्रकृति का सूक्ष्म एवं स्निग्ध चित्रण करने वाले (२२।५, ६, १२) तथा उससे उत्पन्न मनोभावों का प्रभावशाली निरूपण करने वाले श्रीहर्ष वास्तविक कवि हैं और महाकवि हैं। शब्दों के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अर्थों के विपर्यास से कविता का प्रभाव द्विगुणित हो जाता है। शास्त्रों के अर्थ का भी बड़े ही मार्मिक ढङ्ग से सन्निवेश किया गया है। बड़े ही मजेदार व्यंग से वे शास्त्रकारों को फबतियाँ सुनाते हैं—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥ १७।७०

'स्त्री प्रकृति और पुरुष प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसकों) के लिये है। पाणिनि ने भी 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बना कर इस बात को स्वीकार किया है।' पाणिनि पर कवि ने कैसा मार्मिक व्यंग किया है !

श्रीहर्ष बड़े भारी दार्शनिक भी थे। नैषध का सत्रहवां सर्ग दार्शनिकता से ओतप्रोत है। वे अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी थे। उनका मत है कि सब मतों में अद्वैत-तत्व ही श्रेष्ठ है। अन्य मतों की सत्यता पर वे सन्देह नहीं करते, किन्तु उनके मतानुसार वेदान्तप्रतिपादित अद्वैत-तत्व ही सत्यतर है (१३।२६)।

श्रीहर्ष को अपनी विद्वत्ता का अतिशय गर्व था। अपने विषय में उनकी यह उक्ति है—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥ २२।१५४

'जिसे कान्यकुब्जनरेश के यहाँ से सन्मानसूचक दो पान तथा आसन मिलते हैं; जो समाधिस्थ होकर अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करता है; जिसका काव्य मधु के समान मधुर है; जिसकी तर्कशास्त्र-सम्बन्धिनी उक्तियों को सुनकर प्रतिपक्षी परास्त होकर भाग जाते हैं, उस श्रीहर्ष नामक कवि की यह कृति पुण्यवानों के लिये आनन्दप्रद हो। अपनी कविता के लिए श्रीहर्ष ने 'महाकाव्य', 'निसर्गोज्ज्वल', 'चारु', 'नव्य', 'अतिनव्य' इत्यादि

पदों का प्रयोग किया है। अपने नैषधीय को उन्होंने 'अतिशय स्वादिष्ट अर्थों को उत्पन्न करने वाला', 'शरत्कालीन चन्द्रना की चन्द्रिका के समान उज्ज्वल उक्तियों से भरा', 'अत्यन्त सरस और अत्यन्त स्वादिष्ट', 'एक भी नवीन अर्थ या घटना को न छोड़ने वाला' तथा 'अभूतपूर्व रसमयी उक्तियों से युक्त' कहा है। आत्मश्लाघा की पराकाष्ठा तो वहां हो गई है जहां श्रीहर्ष ने अपने को अमृत आदि चौदह रत्न उत्पन्न करने वाला क्षीरसागर बताया है और शेष सब कवियों को दो-चार दिन में सूख जाने वाली नदियों को उत्पन्न करने वाले छोटे-छोटे पहाड़!

नैषध के उपरान्त संस्कृत में कोई उल्लेखनीय महाकाव्य नहीं मिलता। इस समय के बाद काव्य-साहित्य में गीति, शतक, स्रोत और संग्रह आदि का ही प्राधान्य रहा।

संस्कृत साहित्य के जिन प्रमुख महाकवियों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है, उनकी नामावली कालक्रमानुसार नीचे दी जाती है:—

आदौ श्रीकालिदासः स्यादश्वघोषस्ततः तरम्।
भारविश्च तथा भट्टिः कुमारश्चापि पञ्चमः ॥

माघरत्नाकरौ पश्चाद् हरिचन्द्रस्तथैव च।
कविराजश्च श्रीहर्षः प्रख्याताः कवयो दश ॥

४

नाटक

उत्पत्ति—संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। परम्परानुसार 'नाट्यवेद' की सृष्टि ब्रह्मा ने की थी तथा उसका पृथ्वी पर प्रचार भरत मुनि ने किया। भरत मुनि अपने 'नाट्यशास्त्र'[१] में लिखते हैं कि ब्रह्मा जी ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लेकर नाट्यवेद का निर्माण किया। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर नाटक की उत्पत्ति के विषय में कई विचारधाराएं[२] उपस्थित की हैं। नाटक के प्रधानतम अङ्ग संवाद, संगीत, नृत्य एवं अभिनय हैं। वैदिक साहित्य की समीक्षा से विदित होता है कि वैदिक काल में इन सभी अङ्गों का किसी न किसी रूप में अस्तित्व था। ऋग्वेद में यम और यमी, उर्वशी और पुरूरवा, सरमा और पणि आदि के संवादात्मक सूक्तों में नाटकीय संवाद का तत्त्व उपलब्ध होता है। सामवेद में संगीत का तत्त्व है ही। विद्वानों का अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तर में परिमार्जित एवं परिष्कृत होकर नाटकों के रूप में परिणत हुए होंगे। वैदिक

१—जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ १।१७

२—Keith: *Sanskrit Drama pp. 12-77.*

अनुष्ठानों में कुछ ऐसे भी क्रिया-कलाप होते थे जिनमें अभिनय का पुट था। इसके आधार पर हिलोब्रांड और कोनो जैसे पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेदों में यज्ञयागादि विषयक नाटक मौजूद थे। परन्तु यह मत सर्वथा समीचीन नहीं, क्योंकि उक्त वैदिक क्रियाकलापों में अभिनय का पुट भले ही हो, किन्तु उन्हें हम यज्ञीय नाटक कदापि नहीं कह सकते। वैदिक कर्मकाण्ड से धार्मिक नृत्यों के प्रचार का भी पता चलता है, जिनमें मूक आंगिक अभिनय का समावेश था। अतः वैदिक साहित्य में एक प्रकार से नाटक के मूल तत्त्व प्रस्तुत थे और इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। पर वास्तविक नाटक के विकसित रूप का आभास वेदों में कहीं लक्षित नहीं होता।

रामायण—महाभारत-काल में आकर नाटक का कुछ और स्पष्ट उल्लेख मिलता है। विराट् पर्व में रंगशाला का उल्लेख पाया जाता है। 'नट' शब्द का भी प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ श्रीधरस्वामी के अनुसार 'नवरसाभिनयचतुर' है। 'हरिवंश' में रामायण की कथा पर आश्रित एक नाटक के खेले जाने का उल्लेख है। रामायण में भी 'नट', 'नर्तक', 'नाटक' एवं 'रंग' अर्थात् रङ्गमंच का कई स्थलों पर वर्णन मिलता है। उसमें 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग भी नट या अभिनेता के अर्थ में हुआ है। नाटक पर धर्म का प्रभाव भी खूब पड़ा। यात्राओं (धार्मिक महोत्सवों) के अवसर पर लोगों के मनोरंजन के लिये खुले स्थानों में राम तथा कृष्ण की लीलाओं का अभिनय किया जाता था। पिशेल का यह मत निराधार है कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के खेल से हुई।

पाणिनि ने अपने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।११०) इस सूत्र में नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्र का उल्लेख

किया है। स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में या उनके पूर्व ही अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधार पर इन नटसूत्रों का निर्माण हुआ, क्योंकि लक्षण-ग्रन्थों की रचना लक्ष्य-ग्रन्थोंके उपरान्त ही होती है। इसके बाद संस्कृत नाटकों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि और परिष्कार होता गया। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में जाकर नाटकों की बहुसंख्यक रचना होने लगी थी, जैसा कि भास के उपलब्ध नाटकों से प्रकट है। पतंजलि के महाभाष्य (३।२।१११) में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख है। हाल में द्वितीय शताब्दी ई० पू० की एक प्राचीन नाट्यशाला छोटा नागपुर की पहाड़ियों में पाई गई है जो नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृहों से बिल्कुल मेल खाती है। संस्कृत नाटकों का सर्वश्रेष्ठ परिमार्जन एवं परिष्कार प्रथम शताब्दी ई० पू० के कालिदास के नाटकों में जाकर उपलब्ध होता है।

संस्कृत नाटकों में रंगमंच के पर्दों के लिये कहीं कहीं 'यवनिका' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके आधार पर कोनो आदि पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति ग्रीक नाटकों के प्रभाव से हुई। किन्तु यह मत सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त प्रमाणित हो चुका है। 'यवनिका' शब्द का प्रयोग केवल इसलिये होता था कि यवन (Ionia) देश से आये वस्त्रों से वे पर्दे बनाये जाते थे। संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति तथा विकास स्वतंत्ररूप से हुआ।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक ने अपने क्रमिक विकास में कुछ तत्त्व वैदिक साहित्य से लिये, कुछ इतिहास-पुराणों से तथा कुछ लोकगीतों से। धार्मिक एवं सामूहिक उत्सवों से भी उसे प्रेरणा मिली। पतंजलि के समय में तो उसका पूर्ण विकसित रूप में अभिनय

भी होने लगा था। इस प्रकार भारत में संस्कृत नाटक का पूर्ण विकास कई शताब्दियों में जाकर हुआ और उसकी उत्पत्ति तथा अभ्युदय में अनेक तत्त्वों या उपादानों का उपयोग हुआ।

भास

सन् १६०६ में स्वर्गीय महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री को त्रावणकोर राज्य में भास के तेरह नाटक खोज में मिले थे। उनके अनुसार इन नाटकों के रचयिता वही महाकवि भास हैं, जिनका उल्लेख कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की प्रस्तावना में किया है[१]। इसमें सन्देह नहीं कि ये तेरहों नाटक एक ही व्यक्ति की कृतियां हैं, क्योंकि इन सबमें अत्यधिक सादृश्य पाया जाता है—सभी आकार में लघु हैं; सभी की भाषा और शैली एक-सी सरल और प्रांजल है; सभी में संस्कृत के कुछ अपाणिनीय आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं; सभी में एक ही सुन्दर भाव या विचार की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति की गई है तथा अनेक मुहावरे, वाक्य, पद्य और श्लोकों के चरण समान हैं; सभी की प्राकृतों में समानता है तथा पात्रों के नामों तक में अनुरूपता है; सभी में नाटककार के नामोल्लेख का अभाव है; सभी 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' के नाटकीय निर्देश से प्रारम्भ होते हैं; सभी में 'प्रस्तावना' के स्थान पर 'स्थापना' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा सभी के भरतवाक्य भी प्रायः समान हैं।

भास-विषयक विवाद—इस प्रश्न पर बड़ा मतभेद है कि ये नाटक भास के ही हैं अथवा नहीं। बहुत से विद्वान्

१—'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः'।

इन्हें भास-कृत मानते हैं और बहुत से इनके भास-कृत होने में सन्देह करते हैं। इन नाटकों के भास कृत होने के पक्ष में ये प्रमाण दिये जाते हैं—(१) त्रावणकोर में मिले हुए १३ नाटकों में एक का नाम 'स्वप्नवासवदत्त' है। इस नाटक को राजशेखर१ (६०० ई०) ने भास रचित माना है। 'स्वप्नवासवदत्त' की विशेषताएँ अन्य नाटकों में भी पाई जाती हैं, अतः वे भी भास कृत ही हैं। (२) वाक्पतिराज (७५० ई०) ने अपने 'गौडवहो' में भास को 'जलणमित्त'२ (ज्वलनमित्र)—अग्नि का मित्र—कहा है। यह विशेषण इन नाटकों के रचयिता के लिये बड़ा उपयुक्त है क्योंकि कई नाटकों में भास ने कथानक में अग्निदाह का दृश्य उपस्थित किया है। (३) 'प्रसन्नराघव' के कर्त्ता जयदेव (१२०० ई०) ने भास को 'कविता-कामिनी का हास' कहा है। इन नाटकों में हास्य-रस का स्थल-स्थल पर सुन्दर चित्रण हुआ है, अतः इनके कर्त्ता भास के लिये 'हास' का विशेषण उपयुक्त ही है। (४) भास ने एक से अधिक नाटकों की रचना की, इसका भी यथेष्ट प्रमाण मिलता है। दण्डी३ (६००ई०) और बाण४ (६५० ई०) ने भास की जो प्रशंसा की है उससे

१—भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोभून्न पावकः॥ सूक्तिमुक्तावली

२—भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीपुत्ते तहावि रघुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो॥ गौडवहो

३—सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः॥ अवन्तिसुन्दरी कथा

४—सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥ हर्ष चरित

प्रतीत होता है कि भास के अनेक नाटक प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त भामह (६५० ई०), वामन (८०० ई०), राजशेखर (६०० ई०), अभिनवगुप्त (१००० ई०) आदि ने अपनी कृतियों में भास द्वारा कई नाटक लिखे जाने का उल्लेख किया है। इसलिये उपलब्ध तेरहों नाटक भास-प्रणीत माने जा सकते हैं।

जो विद्वान् इन नाटकों को भास-कृत नहीं मानते वे निम्न-लिखित खण्डनात्मक तर्क उपस्थित करते हैं—(१) राजशेखर के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थकार ने 'स्वप्नवासवदत्त' को भासरचित नहीं लिखा है। १२ वीं शताब्दी के रामचन्द्र और गुणचन्द्र-कृत 'नाट्य-दर्पण' में 'स्वप्नवासवदत्त' को भास कृत बताकर उसका जो एक श्लोक[१] उद्धृत किया गया है, वह उपलब्ध 'स्वप्नवासवदत्त' में नहीं पाया जाता। इस आधार पर प्रो० सिल्वन लेवी का कथन है कि प्रस्तुत 'स्वप्नवासवदत्त' भास की रचना नहीं है। किन्तु संम्भव यही है कि किसी प्रतिलिपिकर्ता ने दृष्टिदोषवश उपर्युक्त श्लोक छोड़ दिया हो, क्योंकि प्रस्तुत नाटक में इस श्लोक का उपयुक्त स्थान चतुर्थ अङ्क के प्रथम दृश्य के बाद प्रतीत होता है। काले महोदय द्वारा सम्पादित 'स्वप्नवासवदत्त' में यह श्लोक यथास्थान रखा गया है। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि राजशेखर के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, भोजदेव (११०० ई०), सर्वानन्द (११५६ ई०) और शारदातनय (१२०० ई०) जैसे ग्रन्थकारों ने अपनी रचनाओं में 'स्वप्नवासवदत्त' की जिन घटनाओं या विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे सब प्रस्तुत 'स्वप्नवासवदत्त' में पाई जाती हैं[२]।

१—यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमवलोक्य वत्सराजः—

पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥

२—*Kale's Intro. to his edn. of* स्वप्नवासवदत्त।

(२) अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की अपनी टीका में, कवियों द्वारा रस की उपेक्षा के उदाहरण रूप में, 'स्वप्नवासवदत्त' की एक आर्या[१] को उद्धृत किया है, जो प्रस्तुत 'स्वप्नवासवदत्त' में उपलब्ध नहीं होती। अतः भास-मत के विरोधियों का कहना है कि वर्तमान 'स्वप्नवासवदत्त' भास की रचना नहीं है और वह किसी अन्य 'स्वप्नवासवदत्त' का परिवर्तित संस्करण मात्र है। गणपति शास्त्री के मतानुसार यह आर्या 'स्वप्नवासवदत्त' की कथा-वस्तु के लिये अनावश्यक और असंगत प्रतीत होती है, और संभवतः टीकाकार ने उक्त आर्या के मूल ग्रन्थ का संकेत करने में भूल कर दी हो। किसी अन्य 'स्वप्नवासवदत्त' का अस्तित्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं। विंटरनिट्ज महोदय के अनुसार उक्त आर्या का समुचित स्थान 'स्वप्नवासवदत्त' के ५ वें अङ्क के ९ वें और १० वें पद्य के बीच का है, किन्तु यह असंभव नहीं कि आलंकारिकों के विरोध के कारण बाद के संस्करणों में वह छोड़ दी गई हो[२]।

(३) डा० बार्नेट कहते हैं कि महेन्द्रविक्रम वर्मा (६२० ई०) नामक पल्लव राजा के 'मत्तविलास' प्रहसन में एक पद्य[३] पाया जाता है जिसको सोमदेव (९५९ ई०) ने भासरचित बतलाया है, किन्तु जो भास के किसी नाटक में नहीं पाया जाता।

१—संचितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडनेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥

२—*Winternitz : Bhasa —'What do we really know of him & his works', Woolner Com. Vol.*

३—पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

संस्कृत के अन्य नाटकों में मङ्गलाचरण के श्लोक के बाद 'नान्द्यन्ते' यह नाटकीय निर्देश पाया जाता है, किन्तु भास के इन तेरह नाटकों में तथा 'मत्तविलास' प्रहसन में मङ्गलाचरण-श्लोक के पहले ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। अतः 'मत्तविलास' के समान ही इन नाटकों की रचना भी किसी केरल देश निवासी कवि द्वारा हुई होगी। किन्तु यह कथन अनुचित है, क्योंकि 'मत्तविलास' और इन नाटकों की भाषा तथा भरत-वाक्य में बहुत भेद है। 'मत्तविलास' की प्रस्तावना में उसके रचयिता के नाम का स्पष्ट उल्लेख है, पर इन नाटकों में ऐसा नहीं है।

(४) यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं कि ये नाटक केरल देश के 'चाक्यार' नामक नटों की रचनाएँ हैं, जिन्होंने इन नाटकों को रङ्गमंच की उपयुक्तता की दृष्टि से अन्य ग्रन्थों से संगृहीत या परिवर्तित-परिवर्धित किया। विस्तार-भय से यहाँ इस विवाद का विस्तृत विवेचन करना वांछनीय न होगा, अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्वानों ने बहुमत से इन तेरह नाटकों को भास-विरचित मान लिया है१।

भास का स्थिति-काल—भास के स्थितिकाल का प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं। इतना तो निःसन्दिग्ध है कि वे कालिदास के पूर्ववर्ती एक प्राचीन नाटककार थे। इसकी पुष्टि उनकी शैली से, जो बाद के काव्यों की अलंकृत शैली से सर्वथा भिन्न है, उनकी भाषा में प्रयुक्त अनेक आर्ष एवं अपाणिनीय प्रयोगों से तथा उनके नाटकों में चित्रित पुरातन वातावरण से भी होती है। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में भास का

१—विस्तार के लिये देखिए—*A. D. Pusalkar : Bhasa—A Study, pp. 23-60.*

जो उल्लेख किया है, उससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय भास एक यशस्वी प्राचीन नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० निश्चित-सा हो चुका है, अतः इस समय के लगभग १०० वर्ष पूर्व भास की स्थिति मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार भास का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता। यूरोपीय विद्वान्, जो कालिदास को गुप्तकालीन मानते हैं, भास का समय तृतीय या चतुर्थ शताब्दी ईसवी निर्धारित करते हैं।

भास के नाटकों को खोज के पूर्व संस्कृत का सबसे प्राचीन उपलब्ध नाटक शूद्रक का 'मृच्छकटिक' माना जाता था। किन्तु अब भास के 'चारुदत्त' नाटक की खोज के बाद 'मृच्छकटिक' उसके अनुकरण पर विरचित एक परिवर्धित नाटक के रूप में स्वीकृत हो चुका है[१]। विंसेन्ट स्मिथ के अनुसार शूद्रक का शासन-काल २२०–१६७ ई० पू० था। इस प्रकार 'मृच्छकटिक' द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई० पूर्व की रचना है और 'चारुदत्त' की रचना इसके पूर्व अवश्य हो चुकी होगी।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रमाण रूप से एक श्लोक[२] उद्धृत किया है, जो भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में पाया जाता है। कौटिल्य जैसे प्रखर राजनीतिज्ञ द्वारा भास का प्रमाण

१—*S. K. Belvalker: 'The Relationship of Shudraka's Mrichchhakatika to the Charudatta of Bhasa'. Pro. of Ist. Oriental Conf. 1919 Vol. II, pp, 189–204.*

२—नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥
—अर्थशास्त्र १०।३

रूप से उद्धृत किया जाना इस बात का सूचक है कि भास कौटिल्य के समय—चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध—में एक प्रामाणिक ग्रन्थकार के रूप में विख्यात हो चुके थे। इसके अतिरिक्त भास ने अपने 'प्रतिमा' नाटक में बृहस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है, पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र का नहीं। इससे प्रतीत होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना भास के समय नहीं हुई थी। इस प्रकार भास कौटिल्य के पूर्ववर्ती हैं और उनका समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता।

भास के नाटकों का सामाजिक चित्रण छठी से चौथी शताब्दी ई० पू० के भारत की ओर संकेत करता है। उनके नाटकों के भरत-वाक्यों में भी नन्दवंश के किसी राजा की ओर संकेत जान पड़ता है। अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रमाणों के आधार पर भास का स्थितिकाल चौथी या पांचवीं शताब्दी ई० पू० निश्चित होता है।

भास के नाटक—भासकृत १३ नाटकों में से ६ नाटकों के कथानक महाभारत से लिये गये हैं, दो नाटक रामायण पर आश्रित हैं तथा शेष पांच की कथा प्राचीन अर्ध-ऐतिहासिक घटनाओं या दन्तकथाओं पर अवलम्बित है। किन्तु इन सब में भास की मौलिक एवं अनूठी कल्पनाशक्ति तथा अद्भुत नाट्यकला-कुशलता का परिचय मिलता है। भास के नाटकों का संक्षिप्त परिचय उनके रचनाक्रम के अनुसार[१] इस प्रकार है—

(१) दूतवाक्य—यह एक एकाङ्की 'व्यायोग' है। इसमें पाण्डवों की ओर से सन्धि प्रस्ताव लेकर श्रीकृष्ण का दुर्योधन के शिविर में जाना और विफल मनोरथ होकर लौटना वर्णित है।

१—*A. D. Pusalkar : Bhasa-A Study, p.p. 119.*

(२) कर्णभार—यह एक अंक का 'उत्सृष्टिकाङ्क' है, इसमें कर्ण ब्राह्मण-वेशधारी इन्द्र को अपना कवच-कुण्डल दान में दे डालते हैं। इसमें समय और स्थान की अन्विति (Unity of Time and Place) का पूर्णतया पालन किया गया है। (३) दूतघटोत्कच और (४) ऊरुभङ्ग ये दोनों एकाङ्की 'उत्सृष्टिकाङ्क' हैं। दूतघटोत्कच में अभिमन्यु-वध के पश्चात् अर्जुन जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करते हैं। श्रीकृष्ण घटोत्कच को दूत बना कर कौरवों के सन्निकट विनाश की सूचना धृतराष्ट्र के पास भेजते हैं; दुर्योधन आदि घटोत्कच का अपमान करते हैं और दोनों पक्षों में भयङ्कर युद्ध छिड़ जाता है। ऊरुभङ्ग में भीम और दुर्योधन के अन्तिम गदायुद्ध का तथा दुर्योधन की मृत्यु का करुणापूर्ण वर्णन है। संस्कृत का यही एक मात्र दुःखान्त नाटक है। 'कर्णभार' की भांति ऊरुभङ्ग में भी समय और स्थान की अन्विति का पूर्ण पालन किया गया है। (५) मध्यम व्यायोग—यह एक अंक का व्यायोग है। इसमें मध्यम पाण्डव भीम ने एक ब्राह्मणपुत्र की रक्षा एक भयंकर राक्षस से की है। (६) पंचरात्र—यह तीन अंकों का एक 'समवकार' है। इसमें महाभारत की एक घटना भिन्न प्रकार से वर्णित है। द्रोण ने दुर्योधन से पाण्डवों को आधा राज्य दे देने के लिये कहा। दुर्योधन ने कहा कि यदि पांच रात के भीतर ही पाण्डव (जो उस समय अज्ञातवास कर रहे थे) मुझसे मिल जायं तो मैं आधा राज्य दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न से पाण्डव मिल जाते हैं और दुर्योधन उन्हें आधा राज्य दे देता है। (७) अभिषेक नाटक—इसमें ६ अंक हैं। इसमें बालि-वध, हनूमान का लङ्का में पहुँच कर सीता को सान्त्वना देना और रावण को खरी-खोटी सुनाना, रावण का सीता के सम्मुख राम और लक्ष्मण के कटे मस्तकों को दिखाकर असफल

छल करना और अंत में रावण-वध तथा राम-राज्याभिषेक वर्णित है (८) बालचरित—यह ७ अंकों का एक नाटक है। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा वर्णित है। (६) अविमारक—यह ६ अंकों का एक नाटक है। इसमें राजा कुन्ति-भोज की रूपवती कन्या कुरंगी का अविमारक नामक राजकुमार से प्रच्छन्न विवाह वर्णित है। (१०) प्रतिमा—यह सात अंकों का नाटक है। इसमें राम-वनवास से लेकर रावण-वध तक की घटनाओं का वर्णन है। महाराज दशरथ की मृत्यु के बाद ननिहाल से लौटते हुए भरत मार्ग में अयोध्या के समीप प्रतिमा-मन्दिर में जब अपने दिवंगत पूर्वजों के साथ दशरथ की भी प्रतिमा देखते हैं तब उन्हें दशरथ की मृत्यु का पता चलता है। इसी घटना के आधार पर इस नाटक का नाम 'प्रतिमा' रखा गया। (११) प्रतिज्ञायौगन्धरायण—यह ६ अंकों में समाप्त होने वाला एक नाटक है। इसमें मन्त्री योगन्धरायण के प्रयत्न से वत्सराज उदयन और अवन्तिकुमारी वासवदत्ता के रहस्यमय विवाह का वर्णन है। (१२) स्वप्नवासवदत्त—इस नाटक में ७ अंक हैं। इसमें मन्त्री यौगन्धरायण की दूरदर्शिता से वासवदत्ता का अग्नि में जल कर भस्म हो जाने का प्रवाद प्रचारित कर, उदयन का विवाह मगधराजकुमारी पद्मावती के साथ सम्पन्न होता है। इसमें भास की नाट्यकलाकुशलता का चूड़ान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण' का उत्तरार्ध समझना चाहिए। (१३) चारुदत्त—इस 'प्रकरण' के केवल ४ अंक उपलब्ध हुए हैं। प्रतीत होता है कि भास की मृत्यु हो जाने के कारण यह सम्पूर्ण नहीं हो सका। इसमें निर्धन किंतु सदाशय ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुण-ग्राहिणी वेश्या वसन्तसेना के प्रेम का उपक्रम मात्र है। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' इसी के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है।

कुछ विद्वानों ने अन्य कई रचनाओं को भासकृत सिद्ध करने का प्रयास किया है। इनमें से दो उल्लेखनीय हैं। (१) वीणा-वासवदत्ता—इस नाटक का पता 'शाकुन्तल' की एक टीका से चलता है। इसके आठ अंकों में प्रथम चार अंक ही उपलब्ध होते हैं। इसकी कथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के ही समान है। इसमें तथा भास के नाटकों में बहुत कुछ साहश्य होने के कारण डा० कुन्हन राजा इसे भास की रचना मानते हैं१। किंतु इस नाटक का वस्तु-विन्यास भास के नाटकों से भिन्न है, शैली में भी कृत्रिमता अधिक है, पात्र भी अधिक रूढ़ि-सम्मत हैं, अतः इसे भास की रचना मानना उचित नहीं। (२) १६४१ में गोंडल से पं० कालिदास शास्त्री ने यज्ञफलम् नामक नाटक प्रकाशित किया है और उसे भास रचित बतलाया है। इसकी कथा रामायण के बालकाण्ड पर आश्रित है। इसमें मुख्यतः वैदिक यज्ञों का गौरव सिद्ध किया गया है। यद्यपि भास के १३ नाटकों की अनेक विशेषताएं इसमें भी देख पड़तीं हैं, फिर भी यह भास की मौलिक रचना के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि इसकी भाषा उतनी उत्कृष्ट नहीं, इसमें श्लोकों का बाहुल्य है तथा कालिदास के 'शाकुन्तल' का अनुकरण देख पड़ता है। सम्भवतः यह ११ वीं या १२ वीं शताब्दी की रचना है।२

संस्कृत के सुभाषित-ग्रन्थों में भास के नाम से कई पद्य मिलते हैं जो भास की उपलब्ध रचनाओं में नहीं पाये जाते। संभव है कि ये पद्य भास की नष्ट हो गई रचनाओं में रहे हों। क्योंकि

—१'A New Drama of Bhasa', *Proceedings of VI Oriental Conf. 1930, p. 593.*

२—A. S. P. Ayyar: *Bhasa*.p. 8.

अनुश्रुति के अनुसार भास ने ३० से अधिक ग्रन्थ लिखे थे१, अथवा ये भास की स्फुट रचना मात्र हों।

भास की नाट्यकला—भास के नाटकों की अनेकता तथा विविधता से भास की मौलिकता एवं नाट्यकलाकुशलता का परिचय मिलता है। नाट्यशास्त्र के नियमों का अक्षरशः पालन न करने पर भी उनके नाटक श्रेष्ठ और रोचक हुए हैं। महाभारत के आधार पर जिन नाटकों की रचना हुई है, उन्हें भास ने अपनी अनूठी कल्पना-शक्ति से अत्यन्त रोचक बना दिया है। जहां संस्कृत के अधिकांश नाटक अभिनय के लिये प्रायः अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं, वहां भास के सभी नाटक रङ्गमंच के सर्वथा उपयुक्त हैं। संस्कृत में सर्वप्रथम एकाङ्की नाटकों के प्रणयन का श्रेय भास को ही प्राप्त है।

किसी भी सफल नाटक के लिये निम्नलिखित ६ गुण आवश्यक होते हैं–(१) घटना का ऐक्य, (२) घटना की सार्थकता (३) घटनाओं की घात-प्रतिघात-गति, (४) कवित्व, (५) चरित्र-चित्रण और (६) स्वाभाविकता। भास के नाटकों में उन सभी गुणों का समावेश पाया जाता है। उनके कथानक घटना-प्रधान और अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं। प्रत्येक नाटक की कथावस्तु कतिपय सार्थक घटनाओं द्वारा इस प्रकार उद्घाटित एवं विकसित की गई है कि क्रियाशीलता के साथ उसमें रस की पुष्टि भी समुचित मात्रा में उत्तरोत्तर होती गई है। अपने वर्णन-चातुर्य और नाट्य-नैपुण्य द्वारा भास अनुपस्थित पात्रों या परोक्ष घटनाओं को रङ्गमञ्च पर उपस्थित या घटित किये बिना ही प्रेक्षकों के मन में उनका ऐसा आभास करा देते हैं, मानो उनका प्रत्यक्ष चित्रण हो रहा है।

१—A. D- Pusalkar: Two 17th. century works of Bhasa, *Poona Orientalist* *Vol. VIII*

उदाहरणार्थ, 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में वासवदत्ता और उदयन रङ्गमंच पर कभी नहीं आते, किन्तु दर्शकों को उनकी उपस्थिति का निरन्तर आभास बना रहता है। भास के नाटकों में नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की मनोहारिणी शृंखला देख पड़ती है। उदयन जैसे राजा को कैद में डलवा कर, वैभवशालिनी वारवनिता वसन्तसेना को दरिद्र ब्राह्मण चारुदत्त के प्रति अनुरक्त दिखला कर तथा अर्जुन और अभिमन्यु, भीम और घटोत्कच जैसे पिता-पुत्रों में परस्पर युद्ध कराकर भास ने अपनी कृतियों में मनोरंजन तथा शिक्षा की प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है।

भास चरित्र-चित्रण में भी निपुण हैं। अपने पौराणिक पात्रों को उन्होंने वास्तविकता, मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता के साथ चित्रित कर उन्हें सर्वथा नवीन एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है। भास के नाटकों के संवाद बड़े चुस्त, संक्षिप्त, अनायासपूर्ण तथा नाटकीय दृष्टि से प्रभावजनक हैं। 'स्वप्नवासवदत्त', 'अविमारक' और 'ऊरुभङ्ग' के संवाद इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। पद्यों का आश्रय लेकर अपने पात्रों में संवाद कराने का भास का ढङ्ग अनूठा है। किसी पद्य को पादों या उपपादों में विभाजित कर भास उन्हें विभिन्न पात्रों के मुख से कहलाते हैं१। शीघ्र उत्तर प्रत्युत्तर तथा चुभते हुए संवादों के लिये ऐसे प्रयोग नितांत सफल हुए हैं। अनेक नाटकों के प्रमुख पात्रों का उल्लेख मङ्गलाचरण-श्लोकों में ही कर देना (जिसे 'मुद्रालंकार' कहते हैं) भास को विशेष रुचिकर मालूम देता है। 'पताकास्थानक' का स्थल-स्थल पर उपयोग कर वे अपने नाटकों में चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। उनके नाटकों में शिष्ट एवं परिष्कृत हास्य का पुट पाया जाता है। हां, यह अवश्य है कि कहीं कहीं भास

१—उदाहरणार्थ—प्रतिमा ३।१, पंचरात्र १।५७, ऊरुभङ्ग २१ आदि।

'आकाश-भाषित' के प्रयोग से, 'निष्क्रम्य प्रविश्य' जैसे द्रुत नाटकीय निर्देशों से, समय की अन्विति के भंग से तथा असूचित पात्रों को उपस्थिति से दर्शकों के मन में अवास्तविकता का भान करा देते हैं१। फिर भी संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार होने के नाते भास की ये त्रुटियां नगण्य हैं और वे निश्चित ही नाट्यकला के श्रेष्ठ और सफल आचार्य हैं। संस्कृत के अनेक परवर्ती नाटककार भास द्वारा प्रभावित हुए हैं।

भास की शैली—ओज, प्रसाद एवं माधुर्य भास की शैली के विशेष गुण हैं। विकट बन्ध, क्लिष्ट कल्पना और समासभूयस्त्व का उसमें अभाव है; स्वाभाविक पदविन्यास के साथ भाव-सौष्ठव और प्रवाह भी उसमें प्रचुर है। भास ने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे सरल और प्रचलित अलंकारों का ही अधिकतर प्रयोग किया है। रस और अवसर के अनुरूप वे अपनी शैली मे भी परिवर्तन कर देते हैं। वाग्विस्तार करने के स्थान पर वे शब्दों के परिमित प्रयोग द्वारा अपने भावों की मार्मिक व्यंजना कर देते हैं। 'अनुकृत्वैव वनं गताः (प्रतिमा२।१७) जैसी संक्षिप्त उक्ति द्वारा उन्होंने राम-लक्ष्मण-सीता के अकथनीय हृद्गत भावों का कैसा हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित किया है। शैली की इस परिमितता के कारण भास के भाव कभी-कभी अस्पष्ट और दुर्बोध हो जाते हैं। भास का प्रकृति-चित्रण भी सुन्दर, स्वाभाविक और रोचक है। उन्होंने बाह्य प्रकृति को अन्तःप्रकृति के अनुरूप ही चित्रित किया है। अपनी प्रियतमा से पुनः मिलन न होने की संभावना से हताश राजकुमार अविमारक को पृथिवी कृशकाय, लता-वृक्ष आदि शुष्क और सारा संसार मूर्छित होता जान पड़ता है—'लोकोऽयं

१—*Bhasa—A Study, pp. 102-4.*

रविपाकनष्टहृदयः संयाति मूर्च्छामिव' (अवि० ४।४)। भास ने अपनी उपमाओं के लिये प्रायः प्रकृति से उपादान चुने हैं—

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्य दिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता॥ प्रतिमा २।७

साथ ही भास की उपमाएँ बड़ी सरल, मार्मिक एवं बोधगम्य होती हैं—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
*एवं लोकस्तुल्यधर्मा वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च॥*स्वप्न० ६।१०

'मृत्यु के समय कौन किसकी रक्षा कर सकता है? रस्सी टूट जाने पर घड़े को गिरने से कौन सम्हाल सकता है? यह संसार वन के समान है। जिस प्रकार वन में वृक्ष काटे जाते हैं और फिर उगते हैं उसी प्रकार इस संसार में मनुष्य मरता है और फिर पैदा होता है।' किसी घटना, स्थल या दृश्य का वर्णन करते समय भास, कालिदास या भवभूति की भाँति कल्पना का पुट चढ़ाकर उसे अधिक रंगीला या चटकीला बनाने का प्रयास नहीं करते, अपितु उसके नैसर्गिक स्वरूप का ब्यौरेवार वर्णन कर उसका हृदयग्राही दृश्य उपस्थित कर देते हैं। सायंकाल का एक नैसर्गिक दृश्य देखिए—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥ स्वप्न० १।१६

'पक्षी अपने घोंसलों में चले गये। मुनिगण जलाशयों में स्नान कर रहे हैं। प्रज्वलित अग्नि शोभित हो रही है। यज्ञ का धुआँ तपोवन में चारों ओर फैल रहा है। सूर्य भी दूर की यात्रा से

थक कर, अपनी किरणों को समेट कर तथा रथ को मोड़ कर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर प्रवेश कर रहे हैं।' कन्या के विवाह पर माता दुविधा में पड़ जाती है—

अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः ।

धर्मस्नेहान्तरे न्य स्ता दुःखिताः खलु मातरः ॥ प्रतिज्ञा० २।७

अलंकारों के चुनाव में तथा नवों रसों के चित्रण में भास सिद्धहस्त हैं। कहीं-कहीं वे अनुप्रास और यमक-पूर्ण शैली का भी उपयोग करते हैं—'रघुकुलप्रदीपस्य सर्वलोकनयनाभिरामस्य रामस्य च सुविपुलमहाग्रीवस्य सुग्रीवस्य च' (अभिषेक०)। एक ही ध्वनिवाले अक्षरों के प्रयोग की ओर उनकी विशेष रुचि है—'सजलजलधर', 'सनीरनीरद', 'कुचद्वयं हन्ति मदेन नारी, कूलद्वयं क्षुब्धजला नदीव'। व्यंग का प्रयोग स्वप्नवासवदत्त में खूब देख पड़ता है। मार्मिक लोकोक्तियों का प्रयोग भी बड़ा प्रभावोत्पादक है, जैसे—'प्रियनिवेद्यमानानि प्रियाणि प्रियतराणि भवन्ति', 'सर्वमलंकारो सुरूपाणाम्', 'वाचानुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः', "अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते', 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः', 'न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि' आदि।

भास के उपर्युक्त गुणों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि कालिदास जैसे महाकवि उनका आदरपूर्वक उल्लेख करें तो कोई आश्चर्य नहीं।

शूद्रक

प्रसिद्ध प्रकरण मृच्छकटिक के रचयिता राजा शूद्रक को कुछ विद्वान् एक कल्पित व्यक्ति मानते हैं। शूद्रक के व्यक्तित्व पर अभी तक प्रामाणिक रूप से कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। इस

विषय में ऐतिहासिक अनुसन्धान की आवश्यकता है। संस्कृत साहित्य में शूद्रक के विषय में अनेक दन्तकथाएं प्रचलित हैं। कादम्बरी, कथासरित्सागर, वेतालपंचविंशतिका, हर्षचरित, राजतरंगिणी, स्कन्दपुराण आदि ग्रन्थों में शूद्रक का उल्लेख मिलता है१। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में शूद्रक का परिचय दो श्लोकों में दिया गया है। उसमें उनकी मृत्यु का भी वर्णन है। किन्तु किसी कवि का अपनी ही रचना में स्वयं अपनी मृत्यु का उल्लेख करना असम्भव है। अतः प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। फिर भी उससे दो तथ्य निश्चित रूप से ज्ञात होते हैं—(१) शूद्रक या उनकी ओर से किसी अन्य कवि ने मृच्छकटिक की रचना की और (२) शूद्रक एक राजा थे। वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में मृच्छकटिक के दो पद्यों (१।६, २।६) को उद्धृत कर शूद्रक को ही उसका रचयिता स्वीकार किया है। कीथ का मत है कि किसी अज्ञात कवि—रामिल या सौमिल्ल या दोनों—ने भास के चारुदत्त नाटक को परिवर्धित कर उसे मृच्छकटिक का नाम दिया और प्रसिद्ध राजा शूद्रक के नाम से उसे प्रचारित किया।

रचनाकाल—मृच्छकटिक के रचनाकाल का विचार करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) कालिदास के नाटकों में मृच्छकटिक की कुछ छाप देख पड़ती है। कलिदास का समय लगभग १०० ई० पू० है, अतः मृच्छकटिक की रचना इससे कुछ पूर्व अवश्य हो चुकी होगी। प्रश्न होता है

१—*A. D. Pusalkar. 'Authorship and Date of* मृच्छकटिक' *Proceedings of IX Oriental Conf. 1937 pp. 436-444*

कि फिर कालिदास शूद्रक के प्रति मौन क्यों हैं, जब उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भास का उल्लेख किया है। कारण यह है कि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति अशान्तिमय होने के कारण कविगण प्रायः किसी उपलब्ध नाटक के परिष्कार एवं परिवर्धन में अपना कौशल प्रदर्शन करते थे। किसी समकालीन या पूर्वकालीन राजनीतिक क्रान्ति के आधार पर वे मूल रचना में दर्शकों की रुचि के अनुसार परिवर्तन करते थे। कालिदास को संभवतः यह पता रहा होगा कि मृच्छकटिक न कोई मौलिक रचना है और न शूद्रक ही उसके लेखक हैं। कालिदास के अनुसार मृच्छकटिक के रचयिता रामिल और सौमिल्ल रहे होंगे क्योंकि इन्हीं का उल्लेख उन्होंने अपने मालविकाग्निमित्र में किया है। (२) मृच्छकटिक में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग वस्तुतः एक 'पुलिस के अधिकारी' के अर्थ में हुआ है। किन्तु बाद के साहित्य में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग 'राजा के साले' के अर्थ में हुआ है। कालिदास ने 'राष्ट्रिय' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। अतः मृच्छकटिक कालिदास के पूर्व की रचना है। (३) मृच्छकटिक में आठ प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। प्राकृत के व्याकरण-ग्रन्थों में जो नियम पाये जाते हैं उनका पालन मृच्छकटिक में नहीं किया गया है। अतः मृच्छकटिक की रचना इन ग्रन्थों के पहले ही हुई होगी। (४) मृच्छकटिक भास के चारुदत्त नाटक का परिवर्धित रूप जान पड़ता है। अतः इसकी रचना भास के बाद अर्थात् तृतीय शताब्दी ई० पू० में हुई होगी।

मृच्छकटिक की कथा—मृच्छकटिक १० अंकों का एक 'प्रकरण' है। उसके कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है। उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या वसंतसेना चारुदत्त नामक ब्राह्मण पर

अनुरक्त है। उधर राजा का साला (शकार) वसन्तसेना को अपने वश में करना चाहता है। एक दिन अंधेरी रात में वह उसका पीछा करता है, किंतु वसन्तसेना उसे चकमा देकर चारुदत्त के घर में घुस जाती है। शकार से बचने के लिये वसन्तसेना अपने आभूषण चारुदत्त के घर रख आती है। वसन्तसेना की दासी मदनिका को मुक्त कराने के लिये उसका प्रेमी शर्विलक चारुदत्त के घर में सेंध लगाता है और वसंतसेना के उन्हीं आभूषणों को चुरा लाता है। उन आभूषणों से मदनिका सेवामुक्त हो जाती है। चारुदत्त की पतिव्रता स्त्री धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उन आभूषणों के बदले में वसन्तसेना को देती है। जब चारुदत्त का पुत्र रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी लेकर वसन्तसेना के घर जाता है तो वसन्तसेना अपने गहनों से उसकी मिट्टी की गाड़ी भर देती है और उससे कहती है कि इनसे सोने की गाड़ी खरीद लेना। 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) यह नाम इसी घटना से सम्बन्ध रखता है। सुहावनी वर्षा के समय वसन्तसेना प्रणय-मिलन के लिये चारुदत्त के घर आती है। दूसरे दिन चारुदत्त पुष्पकरंडक नामक बगीचे में जाता है। वसन्तसेना उससे मिलने वहां जाती है, किन्तु भ्रम से चारुदत्त की गाड़ी के स्थान पर समीप खड़ी हुई शकार की गाड़ी में जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की इस भविष्यद्वाणी पर विश्वास करके कि उसके बाद गोपाल का पुत्र आर्यक राजा बनेगा, आर्यक को कैद में डाल देता है। कैद से भाग कर आर्यक चारुदत्त की गाड़ी में जा बैठता है। लौह-शृंखला की आवाज को आभूषणों की झनकार समझ गाड़ीवान गाड़ी हांक देता है। रास्ते में पुलिस के दो सिपाही गाड़ी रोक देते हैं। उनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा का वचन देता है और अपने साथी से झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त

से मिलकर गायब हो जाता है। उधर जब वसन्तसेना पुष्पकरंडक उद्यान में पहुंचती है तो उसे वहां चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार मिलता है। वसन्तसेना उसके अनुचित प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती है। वह वसन्तसेना का गला घोंट देता है। संवाहक नामक एक बौद्ध भिक्षु उपचार करके उसे पुनरुज्जीवित करता है। इधर शकार न्यायालय में चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है। किन्तु उधर चारुदत्त का मित्र आर्यक पालक को मार स्वयं राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को मुक्त कर मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है। किन्तु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। अन्त में वसन्तसेना और चारुदत्त का विवाह हो जाता है।

संस्कृत नाटकों में मृच्छकटिक अपने ढङ्ग का अनूठा नाटक है, उसमें नाटककार ने बड़ी कुशलता से प्रेम के कथानक को राजनीतिक घटनाओं के साथ सम्बद्ध किया है। संस्कृत में यही एकमात्र चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटक कहा जा सकता है। शूद्रक ने अपनी कृति में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि कर तत्कालीन समाज का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। संस्कृत के अन्य नाटकों के समान हमारे समाज के केवल उच्च या संभ्रान्त वर्ग का ही चित्रण इसमें नहीं हुआ, अपितु समाज की सभी श्रेणियों का यथार्थ निरूपण हुआ है। चोर, जुआरी, धूर्त, क्रांतिकारी, कुट्टनी, वेश्या, पुलिस के अधिकारी, राजा, ब्राह्मण आदि सभी प्रकार के पात्र अपने व्यस्त व्यापारों से सारे नाटक को रोचक बना देते हैं।

मृच्छकटिक में सामाजिक जीवन की अपूर्व रोचकता, घटनाओं का घात-प्रतिघात तथा कथानक का क्रमिक विकास

पाया जाता है। उसमें जीवन की घटनाओं का जो विविध एवं वास्तविक स्वरूप उपस्थित किया गया है वह उसे रंगमञ्च के लिये सर्वथा उपयुक्त बना देता है। उसकी विविधता का परिचय उसके विभिन्न अंकों के नामों से ही मिलता है। कहीं जुआ खेलने वाले मूर्ख संवाहक का वर्णन है तो कहीं ब्राह्मण-चोर शर्विलक अपनी प्रेमिका के लिये सेंध लगाता है; कहीं प्रवहणों का विपर्यय होता है तो कहीं नगर के बाहर उद्यान में वसन्तसेना की हत्या का प्रयत्न किया जाता है; कहीं न्यायालय का दृश्य है तो कहीं वधस्थल का। एक ओर पति-भक्ति, करुणा, गुण-ग्राहकता और उदारता हैं तो दूसरी ओर कपट, पाखण्ड, मूर्खता और निर्दयता है।

संस्कृत के अन्य किसी नाटक में मृच्छकटिक की भांति इतने विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग नहीं हुआ है और न हास्यरस का ऐसा अनूठा चित्रण ही। शूद्रक की शैली सरल एवं प्रवाहयुक्त है तथा नाटक के गतिशील कथानक के सर्वथा उपयुक्त है। उनकी भाषा में अवश्य ही कालिदास की चारुता तथा भवभूति की उदात्तता नहीं है। 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाण मन्तःकरणप्रवृत्तयः' या 'अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया' जैसे जीवन के महान् सत्यों का भी उल्लेख शूद्रक नहीं करते। फिर भी वे किसी भाव का मार्मिक चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। उनकी भाषा तथा शैली की सरलता एवं स्पष्टता नाटक की रोचकता में वृद्धि करती है। बड़े-बड़े छन्दों का प्रयोग उन्होंने बहुत कम किया है। नये-नये भाव स्थान-स्थान पर मिलते हैं। कहीं करुणरस की फल्गु धारा प्रवाहित हो रही है (८।३८), कहीं शृङ्गाररस की स्निग्ध व्यंजना है तो कहीं प्रकृति के दृश्यों का मनोरम चित्रण। पहले अंक में दरिद्रता का तथा पांचवें अंक में वर्षाऋतु का वर्णन बड़ा हृदयग्राही हुआ

है। सारे नाटक में यत्र-तत्र सुन्दर भाव, रमणीय उपमाएं तथा रोचक कल्पनाएं देखने को मिलती हैं। कथोपकथन भी बड़े मनोहर हुए हैं, विशेषकर उन स्थलों पर जहां वसन्तसेना, मदनिका, विट, मैत्रेय या शकार उपस्थित रहते हैं। शूद्रक ने विट के मुंह से जो पद्य कहलाये हैं वे कवित्व की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से शूद्रक की शैली का परिचय प्राप्त होगा। दरिद्रपुरुष की स्थिति कैसी दयनीय होती है—

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते,
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते,
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते॥ १।३६

'निर्धन व्यक्ति की बात उसके बन्धुगण नहीं मानते। उसके प्रिय से प्रिय मित्र शत्रु बन जाते हैं। आपत्तियों का तांता बंध जाता है। उसका तेज क्षीण हो जाता है। उसके शीलरूपी चन्द्रमा की कान्ति म्लान पड़ जाती है। दूसरों द्वारा भी किये गये अपराधों का दोष दरिद्र पुरुष के ही मत्थे मढ़ दिया जाता है।' नीचे के पद्य में चन्द्रोदय का क्या ही विचित्र वर्णन है—

उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डुर्ग्र-
हगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्यगौराः
स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति॥ १।५७

'प्रेमी के विरह में पड़ी हुई प्रेमिका के कपोलों की भाँति पीला यह चन्द्रमा अनेक नक्षत्रों से घिरा हुआ उदय हो रहा है, मानो वह इस राजमार्ग का दीपक हो। उसकी श्वेत किरणें जब अन्धकार के पटल पर पड़ती हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है मानो

सूखे काले कीचड़ में दूध की पतली सफेद धाराएं गिर रही हों।'

कालिदास

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट नाटककार माने जाते हैं। उनका स्थितिकाल, जैसा कि पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है, प्रथम शताब्दी ई० पू० में उज्जयिनी के परमारवंशी सम्राट् विक्रमादित्य के राज्यकाल में माना गया है।

कालिदास ने तीन नाटक लिखे हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान-शाकुन्तल। भारतीय नाट्य-साहित्य का पूर्ण परिपाक हमें सर्वप्रथम कालिदास की कृतियों में ही मिलता है। अपनी अनूठी कल्पनाशक्ति और विलक्षण नाट्यनैपुण्य के कारण कालिदास संसार के नाटककारों में अग्रगण्य माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति का जैसा समुज्ज्वल, मनोरम और भव्य चित्र उन्होंने अपने नाटकों में अंकित किया है वैसा किसी अन्य देश के लेखक ने अपने देश की संस्कृति का नहीं। कालिदास की प्रतिभा अलौकिक एवं सर्वतोमुखी थी। जैसे सरस और हृदयग्राही उनके महाकाव्य हुए हैं, जैसी मौलिक और अनूठी कल्पनाशक्ति उनके 'मेघदूत' में देख पड़ती है, वैसी ही अद्भुत और अनुपम रचना-चातुरी उनके नाटकों में प्रस्फुटित हुई है। नाटककार कलिदास, कवि कालिदास से किसी प्रकार कम नहीं हैं। उनका नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल विश्वसाहित्य का एक अमूल्य रत्न स्वीकृत हो चुका है।

रचनाक्रम के अनुसार मालविकाग्निमित्र कालिदास का पहला नाटक है जैसा कि इसकी प्रस्तावना से प्रतीत होता है—'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्'। इस स्थल पर कवि ने अपनी नवीन कृति को उपस्थित करते हुए यह

तर्क दिया है कि प्राचीन होने से ही कोई काव्य उत्कृष्ट नहीं होता और न नवीन होने से ही निकृष्ट। साथ ही उसकी अपरिपक्वशैली से भी यही बात सिद्ध होती है। विक्रमोर्वशीय रचनाक्रम से कालिदास की द्वितीय कृति है। इसमें उनकी प्रतिभा का अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ है। अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास का अंतिम नाटक तथा उनकी प्रतिभा का प्रौढ़तम निदर्शन है।

मालविकाग्निमित्र के पांच अङ्कों में राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय-कथा वर्णित है। राजमहिषी की परिचारिका मालविका अपने अनुपम सौन्दर्य से राजा के चित्त को आकृष्ट करती है। रानी उससे ईर्ष्या करने लगती है। राजा अपनी प्रेमिका मालविका से मिलने के लिये अनेक प्रयत्न करता है। अंत मे यह प्रकट हो जाता है कि मालविका जन्मना राजकुमारी है और तब उसका विवाह अग्निमित्र से हो जाता है।

मालविकाग्निमित्र का नायक अग्निमित्र एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसका शासनकाल कालिदास के कुछ समय पूर्व ही रहा होगा। इतिहास के अनुसार अग्निमित्र मौर्य राजा बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। पुष्यमित्र ने अपने स्वामी की हत्या कर उसका राज्य हस्तगत कर लिया और १८३ ई० पू० के लगभग शुङ्गवंश की स्थापना की। उसने यूनानियों को हरा कर अश्वमेध यज्ञ किया। इन पिछली दोनों घटनाओं का मालविकाग्निमित्र में उपयोग किया गया है।

मालविकाग्निमित्र कालिदास की प्रथम कृति होने पर भी नाट्यकला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है। नाटक के सारे पात्र, सारी घटनाएं एवं अवस्थाएं एक ही उद्देश्य—अग्निमित्र की प्रणय-सिद्धि—की पूर्ति में सहायक हैं। कथानक की विभिन्न घटनाएं बड़े कौशल से कल्पित हैं। कथानक के रचना-संकोच

कालिदास ने बड़ी कुशलता दिखाई है[१]। कथानक का कोई भी अंग मुख्य कथा-वस्तु से असम्बद्ध नहीं है। वैचित्र्यपूर्ण प्रसंगों की कमी नहीं है। राजा और मालविका का मिलन कराने में तथा मालविका के कैद हो जाने पर उसे मुक्त कराने में 'कामतंत्रसचिव' विदूषक की युक्तियां विशेषरूप से अवलोकनीय हैं। नाटक में काव्यसौन्दर्य भले ही कम हो, पर नाटकीय क्रियाशीलता प्रचुर मात्रा में देख पड़ती है। उसकी भाषा प्रसादपूर्ण और मनोहर है। नाटक के संवाद बड़ी चतुरता से रचे गये हैं और प्रेक्षकों की रुचि को बनाये रखते हैं। चटकीले और चुभते उत्तर-प्रत्युत्तर, सरस विनोद तथा सामयिक श्लेषोक्तियों से नाटक के संवादों में सजीवता आ गई है। किन्तु रोचक होने पर भी मालविकाग्निमित्र में भावों या चरित्र-चित्रण का गाम्भीर्य नहीं पाया जाता। उसका कथानक जटिल है तथा पात्रों के मनोविकारों के विश्लेषण में कवि का विशेष प्रयत्न नहीं देख पड़ता। उसकी कथा अन्तःपुर के प्रणय षड्यन्त्रों तक ही सीमित है तथा जीवन की अधिक व्यापक समस्याओं को स्पर्श नहीं करती। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति भी अभी पूर्णतया प्रस्फुटित नहीं हुई है। वह राजमहल के दृश्यों तक ही सीमित देख पड़ती है। ग्रीष्म का वर्णन देखिए—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥ २।१२

'राजमहल के भीतर बावलियों में कमलपत्रों की छाया में हंस आंखें बन्द किये ऊंघ रहे हैं। अत्यधिक ताप के कारण कबूतर

१—*G. C. Jhala : Kalidasa—A Study, p. 104.*

महलों के छज्जों से उड़-उड़ पड़ते हैं। जलकणों को पीने की इच्छा से मोर चक्कर काटने वाले फौवारे के पास आ बैठता है। सूर्य अपनी समस्त किरणों से उसी प्रकार प्रचण्ड रूप से उद्भासित हो रहे हैं, जैसे हे राजन्! आप अपने प्रशस्त गुणों से।'

विक्रमोर्वशीय—यह पांच अंकों का एक 'त्रोटक' (उपरूपक) है। इसमें राजा पुरूरवा तथा उर्वशी अप्सरा की प्रणयकथा वर्णित है। पुरूरवा केशी नामक दैत्य से उर्वशी का उद्धार करते हैं। राजा उर्वशी के सौन्दर्य पर मोहित हो जाते हैं। भरत मुनि के शाप से उर्वशी को मृत्युलोक में आना पड़ता है और तब वह राजा के साथ कुछ समय तक रहती है। एक बार मंदाकिनी के तट पर खेलती हुई किसी विद्याधर कुमारी की ओर राजा देखने लगा। इस पर उर्वशी रूठ कर कार्तिकेय के गन्धमादन उपवन में चली जाती है। कार्तिकेय ने ऐसा नियम बना रखा था कि जो स्त्री उपवन में घुसेगी वह लता के रूप में परिणत हो जायगी। उर्वशी भी लता हो जाती है। इधर उर्वशी के विरह में राजा जङ्गल-जङ्गल भटकता और प्रलाप-विलाप करता है। संगमनीय-मणि के प्रभाव से उर्वशी पुनः अपने पूर्वरूप को प्राप्त हो जाती है। दोनों राजधानी को लौट आते हैं। पर जब उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न अपने कुमार को राजा देख लेता है तब उर्वशी इन्द्र की आज्ञानुसार स्वर्ग लौट जाती है। इस पर राजा कुमार का राज्याभिषेक कर वन में जाने का निश्चय करता है। किंतु इंद्र उसे ऐसा करने से रोकते हैं और आश्वासन देते हैं कि उर्वशी जन्म भर तुम्हारी सहधर्मिणी होकर रहेगी।

कला की दृष्टि से विक्रमोर्वशीय का स्थान मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञान-शाकुन्तल के बीच का है। उर्वशी और पुरूरवा के अत्यधिक प्राचीन वैदिक आख्यान को कवि ने भाव, भाषा

और शैली की मौलिकता से अत्यंत रमणीय रूप दिया है। कवि की कल्पनाशक्ति इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है। भरत मुनि का शाप, कार्तिकेय का नियम, उर्वशी का रूप-परिवर्तन, पुरूरुवा का उन्मत्त प्रलाप इत्यादि प्रसंग और समग्र पांचवां अंक—ये सब कालिदास की कल्पनाशक्ति के फल हैं। मालविकाग्निमित्र की तुलना में विक्रमोर्वशीय में नाटकीय क्रियाशीलता की न्यूनता है। दूसरे और तीसरे अंकों की कुछ घटनाएं कथानक की प्रगति के लिये आवश्यक नहीं जान पड़तीं। चौथे अंक में विप्रलंभ का इतना मात्रातीत चित्रण हुआ है कि नाटकीय व्यापार में शिथिलता आ गई है। फिर भी विक्रमोर्वशीय में संभोग और विप्रलंभ शृङ्गार का उत्तम परिपोष हुआ है। पात्रों की संख्या कम होने पर भी उनका चित्रण मार्मिकता से किया गया है। यद्यपि विक्रमोर्वशीय की भाषा उतनी मँजी हुई और मुहावरेदार नहीं है जितनी अभिज्ञान-शाकुन्तल की, तथापि वह प्रासादिक, सौष्ठवयुक्त एवं अलंकृत है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी स्थान-स्थान पर रमणीय है। इसके लघु छन्दों की मधुरता और विविधता दर्शनीय है। उर्वशी का अप्रतिम रूप देख कर राजा अपने चित्त में सोचता है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चंद्रो नु कांतिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलः
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ १।८

'इस सुन्दरी का निर्माण करने वाला विधाता स्वयं रमणीय कांति वाला चन्द्रमा रहा होगा अथवा शृङ्गाररसमय कामदेव अथवा स्वयं कुसुमाकर वसन्त। निरन्तर वेदाभ्यास के कारण शुष्क हृदय और सांसारिक विषय-वासनाओं से उदासीन जरठ नारायण

ऋषि भला इतने मनोहर रूप की सृष्टि कैसे कर सकते हैं ?' कालिदास का उपमा-कौशल१ इस नाटक में विशेषरूप से प्रस्फुटित हुआ है। उर्वशी का मूर्छित दशा से धीरे-धीरे होश में आने का कैसा मार्मिक एवं मूर्तिमान् वर्णन है—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगारोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम् ॥ १।७

'जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर रात्रि शनैः शनैः अंधकार से मुक्त होने लगती है, सन्ध्याकाल में धुएं के निकल जाने पर अग्नि की ज्वाला धीरे-धीरे स्पष्ट देख पड़ने लगती है, और कगारों के गिरने से कलुषित जलवाली गंगा क्रमशः निर्मल होने लगती है, उसी प्रकार यह सुवदना उर्वशी भी अपनी मूर्च्छा से धीरे-धीरे होश में आरही है।' चौथे अंक में कालिदास की कवित्वशक्ति का खूब चमत्कार दिखाई पड़ता है पुरूरुवा उन्माद में सोचता है कि उर्वशी कहीं नदी के रूप में तो परिणत नहीं हो गई—

तरङ्गभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥ ४।२८

'अवश्य ही उर्वशी मेरे अपराधों को न सह सकने के कारण, उनका बारम्बार स्मरण करती हुई, नदी के रूप में परिणत हो

१—१।१०, १२; २।१; ३।६; ४।२५, ३८; ५।१९, २२

गई है—तरंगें ही उसकी टेढ़ी भौंहें हैं, कलरव करते हुए पक्षिगण ही उसके कटिसूत्र हैं। देखो, कोप से खिसक पड़े अपने फेनरूपी वस्त्रांचल को समेटती हुई वह चली जा रही है।' नहीं, इस हंस ने ही उर्वशी का अपहरण किया होगा—

हंस प्रयच्छ मे कांतां गतिरस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते॥ ४।१७

'हे हंस, मेरी प्रियतमा को लौटा दे, जिसकी बांकी चाल तूने चुरा ली है। जिसके पास चोरी के धन का कुछ भी अंश मिल जाता है उसे सारा धन लौटाने को वाध्य होना पड़ता है।' काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से *विक्रमोर्वशीय* का चौथा अंक अप्रतिम है। उसके प्राकृतपद्यों का गीति-सौन्दर्य प्रकृति-वर्णन, तथा प्रेमी की विरह-व्यथा—इन सबने एकत्र हो मेघदूत का एक पूर्व चित्र उपस्थित कर दिया है।

अभिज्ञान-शाकुन्तल महाकवि कालिदास का—या यों कहिए कि समग्र संस्कृत साहित्य का—सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें कुल सात अंक हैं। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त मृगया करते हुए संयोगवश कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँच जाते हैं, जहाँ उनका शकुन्तला से साक्षात्कार होता है। उसके जन्म की कथा सुन लेने के बाद उनके हृदय में उस मुनिकन्या के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। शकुन्तला भी आभिजात्य और पौरुष की प्रत्यक्ष प्रतिमा महाराज दुष्यन्त के प्रति आकर्षित होती है। दोनों गांधर्व विधि से विवाहसूत्र में बंध जाते है। प्रणयमिलन के बाद आवश्यक कार्यवश दुष्यन्त को हस्तिनापुर लौटना पड़ता है। जाते समय अपनी नामांकित अंगूठी शकुन्तला को यह कहकर देते हैं कि जितने अक्षर इस अङ्कित नाम में हैं, उतने ही दिनों

के अन्तर्गत मैं तुम्हें हस्तिनापुर बुला लूँगा। इधर कण्व तीर्थ यात्रा से लौटते हैं और शकुन्तला को गर्भवती जान उसे पतिगृह भेजने का आयोजन करते हैं। शकुन्तला अपने शैशव के सहचर लता, पादप, पशु, पक्षी, मृगशावक, सखियाँ—सभी से स्नेहपूर्वक विदा होकर हस्तिनापुर के लिये प्रस्थान करती है। वहाँ दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त उसे न पहचान कर उसका प्रत्याख्यान करते हैं। तब विलाप करती हुई शकुन्तला को एक दिव्य ज्योति आकाश में उड़ा ले जाती है। हेमकूट पर्वत पर महर्षि मारीच के आश्रम में अपनी माता मेनका के साथ वह अपने वियोग के दिन काटती है। इधर एक मछुए को राजा की वह नामांकित अंगूठी एक मछली के पेट में मिलती है। ज्यों ही राजा उस अंगूठी को देखते हैं, उन्हें शकुन्तला के साथ अपने प्रणय का स्मरण हो आता है, और वे शकुन्तला से मिलने के लिये व्याकुल हो उठते हैं। अन्त में इन्द्र की सहायता कर स्वर्ग से लौटते समय दुष्यन्त का मारीच आश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन और शकुन्तला से पुनर्मिलन होता है। वहाँ से हस्तिनापुर लौट कर दुष्यन्त शकुन्तला के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं।

शाकुन्तल नाटक का मूल कथानक महाभारत के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान से लिया गया है। किन्तु उस सीधी-सादी पौराणिक कथा को कालिदास ने अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति के द्वारा अनुपम नाटकीय रूप दे दिया है। महाभारत में शकुन्तला अपने जन्म की कथा स्वयं कहती है। कालिदास ने ये सब बातें नायिका के मुख से न कहला कर उसकी दो सखियों—प्रियंवदा और अनसूया—से कहलाई हैं, जिससे शकुन्तला के शील और मुग्धत्व की रक्षा की गई है। महाभारत में शकुन्तला विवाह करने के पहले शर्त रखती है—

मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम् ।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥

किन्तु शाकुन्तल में वह अपनी सखियों से कहती है—'तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथा यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि।' महाभारत की शकुन्तला प्रगल्भ, स्पष्टवादिनी और निर्भीक तरुणी है। किन्तु कालिदास ने जिस शकुन्तला की सृष्टि की है वह एक लज्जाशील, प्रेमपरायण और मुग्ध बालिका है। शाकुन्तल में कण्व महाभारत की भांति फल-मूलादि लाने वन में नहीं जाते, वरन् शकुन्तला के किसी भावी अनिष्ट को टालने सोमतीर्थ गये हुए हैं। कण्व को आश्रम में दीर्घ समय तक अनुपस्थित रख कर कवि ने अनेक घटनाओं की स्वाभाविक पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। तपस्वियों का दुष्यन्त से आश्रम की रक्षार्थ ठहरने की प्रार्थना करना, फलतः नायक-नायिका के प्रणय की उद्भूति, विकास और परिणति तथा दुर्वासा का शाप—ये घटनाएं कण्व की दीर्घकालीन अनुपस्थिति में ही सम्भव थीं। दुर्वासा के शाप के शमन में भी कण्व द्वारा सोमतीर्थ में किये गये उपचार ही कारणभूत थे। इस प्रकार कण्व के सोमतीर्थ-गमन की नई कल्पना पर कालिदास ने अनेक नाटकीय घटनाओं को आश्रित कर दिया है। महाभारत में शकुन्तला के गर्भ से आश्रम में ही पुत्र उत्पन्न होता है। जब वह बालक छः वर्ष का हो जाता है तब शकुन्तला पतिगृह को जाती है। कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह भेजकर भारतीय मर्यादा का पालन किया है। महाभारत का दुष्यन्त कामुक, भीरु और स्वार्थी प्रतीत होता है, किन्तु कालिदास का दुष्यन्त एक अत्यन्त परिष्कृत रुचिसम्पन्न 'धीरोदात्त' नायक है। महाभारत का दुष्यन्त लोकापवाद के भय से शकुन्तला के साथ गन्धर्व विवाह

की बात, स्मरण रहने पर भी, अस्वीकार कर देता है और आकाशवाणी होने पर ही उसे स्वीकार करता है। कालिदास ने दुर्वासा के शाप और अंगूठी की कल्पना करके दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा की है।

पद्मपुराण की कथा शाकुन्तल के कथानक से मिलती-जुलती है। इस आधार पर विंटरनिट्ज महोदय का कहना है कि कालिदास ने अपनी कथावस्तु पद्मपुराण से ली होगी। किन्तु पद्मपुराण के शकुन्तलोपाख्यान वाले अंश की रचना कालिदास के बाद प्रतीत होती है। क्योंकि उसमें कई स्थलों पर शाकुन्तल की शब्दावली ज्यों की त्यों उद्धृत की गई है। अतः अनेक विद्वानों की धारणा है कि पद्मपुराण का यह प्रसंग शाकुन्तल नाटक के आधार पर रचा जाकर पद्मपुराण में बाद में जोड़ दिया गया होगा। कुछ विद्वानों का मत है कि शाकुन्तल पर भास के नाटकों का कुछ प्रभाव देख पड़ता है। प्रतिमा नाटक की वल्कल तथा वृक्षसेचन की घटनाएं, स्वप्नवासवदत्त की काव्य-कल्पनाएं तथा उसका तपोवन-दृश्य तथा अविमारक का शृङ्गारिक तत्व—ये सब शाकुन्तल में बड़े हृदयग्राह रूप में एकत्र हैं। शाकुन्तल के तीसरे अङ्क तथा अविमारक के तीसरे अङ्क में घटनाओं और शब्दावली का जो साम्य पाया जाता है उससे भी भास का कालिदास पर प्रभाव द्योतित होता है। यह सम्भव है कि कालिदास ने भास से कतिपय भाव और घटनाएं ली हों, किन्तु साथ ही उन्हें अपनी प्रतिभा द्वारा सर्वथा मौलिक सा बनाकर चित्रित किया है।

शाकुन्तल कालिदास की नाट्यकला/कुशलता का चूडान्त निदर्शन है। सम्पूर्ण जगत् का वह हृदयहार बन चुका है। संसार के चुने हुए सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में उसे आदरणीय स्थान प्राप्त

है। कालिदास की इस अनुपम कृति में उनकी नाट्यप्रतिभा, कल्पना-प्रचुरता, भाषा लालित्य, रस-परिपाक तथा मानव-मनोविकारों के मार्मिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता अत्यन्त विशद रूप से प्रकट हुई है। भारतीय समालोचकों की सम्मति में यह संस्कृत साहित्य का सर्वोत्तम नाटक है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।' स्वयं कालिदास के ग्रन्थों में भी शाकुन्तल सर्वश्रेष्ठ है—'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्।'

शाकुन्तल की लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। शृङ्गार-प्रधान होने पर भी उसमें सभी रसों की मार्मिक और मनोहर व्यंजना हुई है। उसका कथानक मालविकाग्निमित्र के कथानक की भांति जटिल नहीं है। उसके विभिन्न प्रसंगों का मेल इस कौशल से कराया गया है कि प्रेक्षकों को उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है। उसमें विविध घटनाओं का उत्तरोत्तर विकास बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित है। प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक प्रसंग सहैतुक है; उसका एक शब्द भी अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त नहीं है।

नाटक का प्रारम्भ मृगयादृश्य से होता है, जो वर्णनात्मक और कवित्वमय अधिक है, नाटकीय कम। कण्व के आश्रम का दृश्य कैसा कमनीय और शोभापूर्ण है! तीनों युवतियों का आमोद-प्रमोद, सरल स्वभाव तथा कन्योचित शिष्टाचार कैसी सुकुमारता के साथ अङ्कित किया गया है! शकुन्तला के हृदय में प्रणय की उद्भूति का चित्रण बड़े कौशल से किया गया है, जिसका अन्तिम दृश्य वल्कल के उलझने की घटना से होता है, जिससे लाभ उठाकर वह राजा पर अपनी प्रणयभरी दृष्टि डालती है।

द्वितीय अङ्क प्रथम अङ्क का ही परिणाम (sequel) है, जिसमें हमें प्रणयदग्ध राजा के मुख से प्रथम अङ्क की शकुन्तला

की शारीरिक और मानसिक अवस्था का आभास मिलता है। इस अङ्क में क्रियाशीलता कम है और हम उसे प्रथम और तृतीय अङ्क को मिलाने वाला एक विस्तृत विष्कम्भक मान सकते हैं।

तृतीय अङ्क में प्रणय-विधुरा शकुन्तला के तीव्र मानसिक ताप का परिचय मिलता है। वह प्रियतम को प्रणय-पत्र लिखती है। प्रेमी उपस्थित होता है, प्रेमिका को अपना हृदय समर्पित करता है—और दोनों एकान्त में छोड़ दिये जाते हैं। पूर्ण औचित्य के साथ नाटककार गौतमी के आगमन की सूचना देता है और शकुन्तला राजा को कुंजों के पीछे छिप जाने को कहती है। प्रेमी के साथ एकान्त में होने पर यद्यपि लज्जावश वह उसके प्रेमाग्रह का प्रतिकार करती है, फिर भी प्रणय ने उसे इतना मुखर बना दिया है कि वह 'लताकुंज को पुनः विहार के लिये आमन्त्रित करते हुए' उससे विदा लेती है। नायक-नायिका के प्रणय का विकास निर्बाध रूप से अङ्क की समाप्ति तक होता है, जिसे हम नाटक के प्रथम भाग की समाप्ति कह सकते हैं। तीसरे अङ्क तक नाटक का द्वन्द्व मुख्यतः आन्तरिक रहा है। शकुन्तला के सौन्दर्य से आकृष्ट दुष्यन्त के हृदय में पहले यह उथल-पुथल मचती है कि वह उपभोग के योग्य है अथवा नहीं। किन्तु वास्तविक अन्तर्द्वन्द्व तो, एक ओर शकुन्तला के मुग्ध स्वभाव, तपस्विगत संस्कार तथा कन्योचित लज्जा के आधिक्य (overpowering sense of maidenly propriety) में और दूसरी ओर उसके हृदय में उठने वाले प्रणयावेग के बीच में है, जिसे दबाने का वह असफल प्रयास करती है।

चौथे अङ्क का विष्कम्भक कथानक में आमूल परिवर्तन का सूत्रपात करता है। भावी विपत्ति का यह प्रथम सूचक है।

प्रातःकाल का वर्णन—'सूर्य-चन्द्रमा के एक साथ उदय-अस्त द्वारा मानो संसारियों का भाग्य-चक्र नियंत्रित हो रहा है'—यह सूचित करता है कि जीवन अथवा प्रणय निरा आनन्दमय ही नहीं है। कालिदास ने दुर्वासा के शाप जैसी महत्त्वपूर्ण घटना को विष्कम्भक में उल्लिखित कर अपने अपूर्व नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। शकुन्तला के प्रयाण का दृश्य अपने कवित्वमय वर्णन में, कन्या के गमन पर पितृहृदय की भावनाओं के चित्रण में तथा सामाजिक और नैतिक आदर्शों के निरूपण में अनुपम है। कण्व की व्यग्रता, अनसूया और प्रियंवदा की आनन्द में परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम सन्देश और भावी गृहलक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता में विविध भाव और घटनाएं ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुई हैं कि प्रतीत होता है कि यह अङ्क मानो शब्दनिर्मित मानवहृदय ही हो।

करुणा की यह भावना पांचवें अंक के हंसपदिका के गीत से तीव्रतर हो जाती है। इस अंक में नाटक का कथानक शकुन्तला के प्रत्याख्यान से अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। यदि चौथा अंक अधिक कवित्वमय है तो पांचवाँ अंक अधिक नाटकीय है। दुर्वासा का शाप कार्यरूप में परिणत हो चुका है। पर शकुन्तला ने न पहिचाने जाने की दशा में अपनी अँगूठी पर ही सारी आशाएँ लगा रक्खी हैं। फिर हम देखते हैं कि इस अंक में एक प्रेमी पति पूर्णतया अपरिचित बन जाता है, और उसकी गर्भवती पत्नी उससे शरण और आश्रय की याचना करती है। एक ओर बेचारी शकुन्तला का अपने प्रेमी की स्मृति जागृत करने का करुण प्रयास और दूसरी ओर राजा का राजोचित गर्व और निर्मम व्यवहार। शारद्वत राजा के प्रति शकुन्तला की ओर से जो उत्तेजनात्मक शब्द कहता है, उससे शकुन्तला

की निःसहाय स्थिति का आभास और भी तीव्र हो जाता है। अन्त में शकुन्तला को एक दिव्य ज्योति उठा ले जाती है।

छठे अंक के प्रवेशक में कवि ने पुलिस अधिकारियों और धीवर के बीच वार्तालाप द्वारा लोक-जीवन का कैसा वास्तविक और स्वाभाविक चित्रण किया है। छठा अंक पांचवे अंक का ही परिणाम है, जो प्रत्यभिज्ञान—अंगूठी—की उपलब्धि से होता है। उसमें दुष्यन्त के अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान-जनित मानसिक परिताप का प्रगाढ़ अङ्कन है। समुद्र-वणिक की मृत्यु की घटना से राजा का अपनी प्रियतमा के प्रति आग्रह हटकर अपने पुत्र के प्रति हो जाता है, और यह भी दर्शनीय है कि पुत्र के अभावज्ञान से ही प्रियतमा का प्रत्यभिज्ञान होता है। यह करुण दृश्य मातलि-विदूषक के संवाद द्वारा अकस्मात् आश्चर्य, क्रोध और विनोद के दृश्य में परिणत हो जाता है।

अंतिम अंक का घटनास्थल पृथिवी के उपरिवर्ती लोकों में है। मारीच-आश्रम की अलौकिक पवित्रता और सुन्दरता के बीच चरम नाटकीय अवस्था का शनैः शनैः उद्घाटन होता है—राजा का अपने पुत्र और पत्नी से मिलन होता है। ऋषि और उनकी पत्नी राजा और उनके कुटुम्ब पर आशीर्वाद की वृष्टि करते हैं—ऐसे पावन और शान्त वातावरण में नाटक समाप्त होता है।

शाकुन्तल की भाषा अत्यन्त प्रांजल, परिमार्जित, परिष्कृत और प्रसादपूर्ण है। उसमें कहीं भी क्लिष्टता या दूरान्वय का दोष नहीं। बीच-बीच में ऐसे चुस्त और मुहावरेदार वाक्यों का प्रयोग हुआ है जिनसे भाषा में एक अपूर्व सजीवता आ गई है। उदाहरण के लिये जब अनसूया प्रियंवदा से यह कहती है कि दुर्वासा के शाप की बात शकुन्तला के कानों तक न पहुँचने पाये

तो प्रियंवदा उत्तर देती है—'क इदानीमुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति'—'भला कौन ऐसा होगा जो जूही की लता को खौलते जल से सींचेगा ?' इसी प्रकार के कुछ चुने हुए वाक्य नीचे दिये जाते हैं—'अयि आत्मगुणावमानिनि, क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति', 'आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्', 'हला, पश्य नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति दुष्करमहं करोमीति', 'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशांकलेखामनुवर्तेते', 'दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरं वर्जयित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते', 'एष नाम अनुग्रहो यत् शूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः', 'हा धिक, हा धिक सति खलु दीपे व्यवधानदोषेण एषोऽन्धकारदोषमनुभवति', 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः', 'सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावपि युवामारण्यकौ।', 'क इदानीमन्यो धर्मकंचुकप्रवेशिनस्तृणाच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।'

कालिदास ने प्रत्येक पात्रके मुख से उसके अनुरूप ही कथोपकथन कराया है। यज्ञयागादि तथा अध्यापन-कार्य में सदा संलग्न रहने वाले महर्षि कण्व के मुख से ऐसी ही उक्तियां निकलती हैं जो उनके पद के सर्वथा अनुरूप हैं। दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का अनुमोदन करते हुए वे कहते हैं—'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता'—'हर्ष है कि धूम से आकुल दृष्टि वाले यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी।' शकुन्तला को विदा करते समय कण्व कहते हैं—'वत्से सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृता'—'बेटी, सुपात्र शिष्य को दी गई विद्या के समान तू भी सर्वथा अशोच्य है।' विदूषक की उक्तियों में प्रायः उसके पेटूपन की ही झलक मिलती है। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के प्रति

दुष्यन्त के बढ़ते हुए आकर्षण को देख वह कहता है कि 'पके खजूर में मीठे फलों से ऊब कर जैसे कोई इमली चखने की इच्छा प्रकट करे, इसी प्रकार आप भी अन्तःपुर की रानियों के सौन्दर्य से परितृप्त होकर इस मुनिकन्या के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं।'

शाकुन्तल में कालिदास की शैली का अत्यन्त विकसित एवं परिष्कृत रूप देख पड़ता है। शब्दों का सुकुमार विन्यास, छन्दों का स्वरमाधुर्य तथा सूक्ष्म व्यंजनावृत्ति, इन विशेष गुणों के कारण कालिदास की शैली में अपूर्व रमणीयता आ गई है। शाकुन्तल की रम्य कल्पना के लिये यह शैली सर्वथा अनुरूप है। शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन में उनकी मसृण पदावली का नमूना देखिए—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

'सिवार की घास में लिपटा हुआ भी कमल अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है। काले धब्बों से युक्त होने पर भी चन्द्रमा की शोभा कम नहीं होती। इसी प्रकार वल्कल वस्त्र धारण करने पर भी यह शकुन्तला अधिक मनोहर लग रही है। सच है, सुन्दर आकृति वालों के लिये कौन सी वस्तु शोभावर्धक नहीं हो जाती?'

सुन्दर उपमाओं का तो शाकुन्तल भंडार ही है। इसमें १८० उपमाएं प्रयुक्त हुई हैं। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के अप्रतिम एवं अनवद्य सौन्दर्य का प्रथम साक्षात्कार कर दुष्यन्त अपना हृद्गत उद्गार प्रकट करते हैं—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥२।१०

'अहा ! यह वह कमनीय कुसुम है जिसे सूंघने का सौभाग्य कभी किसी को प्राप्त नहीं हुआ; यह वह सुकुमार नूतन किसलय है जिस पर किसी के नाखून की खरोंच नहीं लगी; यह वह रत्न है जो अभी तक बिंधा नहीं है; यह वह ताजा मधु है जिसे अभी तक किसी ने चखा नहीं। न जाने विधाता किसे पूर्वजन्म के समस्त पुण्यों के सारभूत इस निष्कलंक सौन्दर्य का उपभोग करने वाला बनायेगा ?' वल्कल-धारिणी शकुन्तला सिवार में लिपटे हुए कमल के समान है। दुष्यन्त के दरबार में कण्व के जटाधारी तापस शिष्यों के बीच लावण्यवती शकुन्तला ऐसी प्रतीत होती है जैसे पीले सूखे पत्तों के बीच कोई नूतन सुकुमार किसलय। दरबार में सामने खड़ी आपन्नसत्वा शकुन्तला के अलौकिक रूपलावण्य को देख दुविधा में पड़े दुष्यन्त की वही दशा हो रही है, जो उस भ्रमर की होती है जो प्रातःकाल तुषारबिन्दु गर्भित कुन्दकलिका का न तो मकरन्द ही पान कर सकता है और न उसे छोड़ अन्यत्र ही जा सकता है। स्वभावोक्ति भी शाकुन्तल की शैली का प्रमुख लक्षण है। पहले अङ्क में भागते हुए भयविह्वल मृग का (१।७), रथ के अश्वों की द्रुतगति का (१।८) तथा तपोवन का (१।१४) वर्णन स्वभावोक्ति के प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

कालिदास की शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें किसी भाव का बहुत लम्बा-चौड़ा वर्णन न करके उसकी सूक्ष्म एवं मार्मिक व्यंजना मात्र कर दी जाती है। दुष्यन्त जब पहले

पहल शकुन्तला को देखते हैं तो अपने हृद्गत भावों का विशद वर्णन करने के स्थान पर वे केवल एक वाक्य में अपने आनन्दातिरेक को व्यंजित करते हैं—'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्।' दुष्यन्त और शकुन्तला का जो प्रेमालाप है वह बहुत ही संक्षिप्त है। उसका अधिकांश आभास और इङ्गित द्वारा ही व्यक्त हुआ है। 'दुष्यन्त जब तपोवन से राजधानी को लौटकर शकुन्तला की कुछ खोज खबर नहीं लेते, तो ऐसे अवसर पर विलाप-कलाप, परिताप-सन्ताप के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा जा सकता था, परन्तु शकुन्तला के मुख से कवि ने कुछ भी नहीं कहलाया। केवल दुर्वासा के आतिथ्य के प्रति उसकी अनवधानता से ही हम उस हतभागिनी की अवस्था की कल्पना कर सकते हैं। जिस समय शकुन्तला पतिगृह को जाने लगी, उस समय कण्व का एकान्त स्नेह कैसे कारुणिक, गम्भीर, संयत और परिमित शब्दों में प्रकाशित हुआ है। अनसूया और प्रियंवदा की सखी-विच्छेद-वेदना प्रतिक्षण दो-चार शब्दों में ही सीमोल्लङ्घन की चेष्टा कर रही है, पर भीतर ही भीतर तुरन्त दब जाती है। प्रत्याख्यान के समय भय, लज्जा, अभिमान, अनुनय, भर्त्सना, विलाप सभी कुछ हैं, पर कितने परिमित शब्दों में! जिस शकुन्तला ने सुख के समय, सरल भाव से संशय रहित होकर, अपने को भुला दिया था, दुःख के समय जब दारुण अपमान होने लगा, तब वही अपनी हृदयवृत्ति की अप्रगल्भ मर्यादा को इस प्रकार आश्चर्यजनक संयम से रक्षित कर सकेगी, यह कौन सोच सकता था। इस प्रत्याख्यान के बाद की नीरवता कैसी व्यापक और कैसी गम्भीर है। कण्व नीरव, अनसूया और प्रियंवदा नीरव, मालिनी तीरवर्ती तपोवन नीरव और सर्वापेक्षा नीरव रहीं शकुन्तला! हृदयवृत्ति को आलोडित कर प्रकाशित करने का ऐसा सुअवसर और किसी नाटक में इस प्रकार नीरव भाव से उपेक्षित

हुआ है ?'१ शाकुन्तल के समान ऐसा प्रशान्त-गम्भीर और ऐसा संयत-सम्पूर्ण नाटक शेक्सपियर की नाटकावलि में एक भी नहीं देख पड़ता ।

शाकुन्तल में कई स्थलों पर इसी ध्वन्यात्मक शैली का आश्रय लेकर भविष्य की घटनाओं की ओर सूक्ष्म संकेत हुआ है। प्रस्तावना में ग्रीष्मऋतु के वर्णन—'दिवसाःपरिणामरमणीयाः'—से नाटक के सुखद अन्त की सूचना मिलती है। नटी के गायन (१।४) में 'शिरीष कुसुम' का संकेत शकुन्तला की ओर, 'भ्रमर' का दुष्यन्त की ओर तथा 'ईषदीषच्चुम्बितानि' का नाटक के पूर्वार्ध में दुष्यन्त और शकुन्तला के अल्पस्थायी मिलन की ओर है। सूत्रधार की 'आर्ये' सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया तत्' इस उक्ति से दुष्यन्त का शकुन्तला को भूल जाना और अंगूठी देखने पर उसे स्मरण करना सूचित होता है। धनुर्बाणधारी राजा को जब 'भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो ना हन्तव्यः' यह निषेध किया जाता है, तब मृगतुल्या शकुन्तला पर राजा के दारुण प्रणय-बाण-प्रहार की भी सूचना मिल जाती है। प्रणय-व्यापार में राजा परिपक्व और कठिन हैं और इस आश्रमपालिता बालिका की अनभिज्ञता और सरलता बड़ी ही सुकुमार और करुणापूर्ण है। 'क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलम्' जैसे कातर वाक्यों से मृग रक्षणीय बतलाये जाते हैं, वैसे ही शकुन्तला भी है, क्योंकि दोनों अरण्यवासी हैं—'द्वावपि युवामारण्यकौ।' भ्रमर वाली घटना से शकुन्तला का दुष्यन्त रूपी मधुकर से दंशित होना आभासित होता है। जब दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रणय प्रगाढ़ होने लगा तो नेपथ्य से अचानक एक आर्त-रव सुनाई पड़ा कि 'हे तपस्वियो,

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य पृ० ५५, ५६

अपने तपोवन के प्राणियों की रक्षा करो, मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त आ पहुंचा।' इससे क्या यह ध्वनित नहीं होता कि तपोवन के प्राणियों में शकुन्तला भी एक है, उसकी भी दुष्यन्त के प्रणय-पाश से रक्षा करनी अवश्यक है; पर, खेद, वह बच न सकी, बचाई न जा सकी। कण्व-शिष्य द्वारा किया गया प्रभात-वर्णन (४।२-३) दार्शिनिकता से भरा होने पर भी शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान का कैसा सूचक है। कलिदास की ध्वन्यात्मक शैली का एक और सुन्दर उदाहरणपांचवें अङ्क का हंसपदिका का गीत है, जिसमें शकुन्तला के निकट भावी प्रत्याख्यान की ओर बड़ा ही सूक्ष्म और सुकुमार संकेत हुआ है। इस गीत से यह स्वतः प्रकट है कि बहुवल्लभ राजा की ऐसी अनेक सुखलब्ध प्रेमिकाएं हैं, जो क्षणिक सौभाग्य की स्मृति लेकर ही अनादर के अन्धकार में अनावश्यक जीवन बिता रही हैं—'सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः।' राजा के इस चपल प्रणय का परिचय देकर कवि ने अपने निपुण कौशल द्वारा यह प्रकट किया है कि दुर्वासा के शाप से जो घटना घटी है, उसका बीज राजा के स्वभाव में भी विद्यमान था। इस प्रकार हंसपदिका का सरल और करुण संगीत शकुन्तला के प्रत्याख्यान के क्रूर काण्ड की भूमिका बन गया। अन्तिम अङ्क में मातलि और दुष्यन्त का इन्द्र के स्वागत-सत्कार का स्मरण कर पुलकितचित्त होना राजा के सन्निकट प्रिया-समागम-जन्य हर्षातिरेक का ही द्योतक है। इस प्रकार कालिदास किसी घटनाविशेष के लिये अपनी ध्वन्यात्मक शैली द्वारा उपयुक्त वातावरण पहले से ही उत्पन्न कर देते हैं।

शाकुन्तल में संगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओं का यथास्थान आकर्षक प्रयोग हुआ है। उसमें ऐसे अनेक भावपूर्ण स्थल हैं, जिन पर उत्कृष्ट कोटि के चित्र बनाये जा सकते हैं।

शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में 'उद्वेगयौवना ऋषिकन्या, कौतुकाकुल दोनों सखियाँ, नवकुसुमिता वनतोषिणी, सौरभ-भ्रान्त मूढ़ भ्रमर और तरु-लतान्तरालवर्ती मुग्ध राजा इन सब ने तपोवन के एक एकान्त प्रान्त का आश्रय लेकर एक अभूतपूर्व दृश्य खड़ा कर दिया है।' कालिदास के चित्रकलावैदग्ध्य का एक नमूना देखिए। शकुन्तला के स्वरचित अधूरे चित्र को देख दुष्यन्त कह रहे हैं कि अभी इस चित्र में इन-इन बातों की कमी रह गई है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ ६।१७

'इस चित्र में एक तो मालिनी नदी का दृश्य होना चाहिए जिसके रेतीले तट पर हंसों के जोड़े बैठे हों। उसके समीप ही हिमालय की पावन उपत्यका का दृश्य हो जहाँ हिरण बैठे हुए जुगाली कर रहे हों। फिर एक विशालवृक्ष हो, जिसकी शाखाओं पर सूखने के लिये वल्कल-वस्त्र लटक रहे हों और जिसके नीचे एक काले मृग के सींग से उसकी सहचरी हरिणी अपनी बाईं आंख की कोर धीरे-धीरे खुजला रही है।'

अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त और शकुन्तला, अनुसूया और प्रियंवदा की भांति कण्व के तपोवन की प्रकृति भी एक विशेष पात्र बन गई है। मूक प्रकृति को नाटक के भीतर प्रधान और आवश्यक स्थान दिया गया है। पर दर्शनीय तो यह है कि प्रकृति को मनुष्य रूप में चित्रित कर उसका रूपकात्मक वर्णन नहीं किया गया है, प्रत्युत प्रकृति को प्रकृति रख कर ही

उसे ऐसा सजीव, ऐसा प्रत्यक्ष, ऐसा व्यापक और ऐसा अन्तरङ्ग बनाकर नाटक के इतने कार्य सिद्ध कराये गये हैं, जो अन्यत्र नहीं देखे जाते। बाह्य प्रकृति ने 'किभी तो शकुन्तला की यौवन-लीला को अपना लीला-माधुर्य अर्पण किया है, और कभी अपना कल्याण मर्मर मङ्गल आशीर्वाद के साथ मिश्रित किया है। कभी तो विच्छेदकालीन व्याकुलता से शकुन्तला की बिदाई के समय अपनी मूक भाषा को करुणापूर्ण कर दिया है, और कभी अपने अपूर्व मन्त्र-बल से शकुन्तला के चरित्र में एक प्रकार की पवित्र निर्मलता, एक स्निग्ध माधुर्य की किरणें व्याप्त कर दी हैं।' इस प्रकार शाकुन्तल में वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, सब आत्म-स्वरूप की रक्षा करते हुए भी मनुष्य के साथ मधुर आत्मीय-भाव से घुल-मिल गये हैं।

शाकुन्तल में अन्तःप्रकृति और बाह्य-प्रकृति दोनों का यह सुन्दर सामंजस्य नाटक के प्रारम्भ से ही स्पष्ट देख पड़ता है। प्रस्तावना में नटी के गायन में—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि॥ १।४

मनुष्य की प्राकृत तथा अल्पस्थायी कामुकता की झांकी प्रकृति के प्राणियों की चेष्टाओं में भी दिखाई गई है। भ्रमर का शिरीष-पुष्प की मनोहरता से आकृष्ट हो एक क्षण के लिये उसका रस लेकर उसे छोड़ देना उसी प्रकार है जिस प्रकार दुष्यन्त का शिरीष-सुकुमार शकुन्तला से कुछ समय तक प्रणय कर उसे भूल जाना। बाह्य-प्रकृति और मानवमनोभावों का सुन्दर सामंजस्य चौथे अंक में अपूर्व रूप से प्रस्फुटित हुआ है। प्रोषितभर्तृका शकुन्तला की दशा का प्रकृति के साथ कैसा मार्मिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि
नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ ४।३

'चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी अब नेत्रों को आनन्द प्रदान नहीं करती। उसकी शोभा की केवल स्मृति रह गई है। सच है, प्रियतम (दुष्यंत) के प्रवास के कारण अबला (शकुन्तला) की मनोव्यथा अवश्य ही असह्य हो जाती है।' शकुन्तला को विदा करते समय महर्षि कण्व तपोवन के तरुओं को सम्बोधन करके कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ४।९

'जो आप लोगों को सींच कर जब तक पानी नहीं पिला लेती थी तब तक स्वयं कभी नहीं ग्रहण करती थी, जो अत्यधिक शृंगारप्रिय होने पर भी आप लोगों के प्रति स्नेह होने के कारण कभी कोई किसलय या कोंपल नहीं तोड़ती थी, जो आपके पहले फूलों को देख कर आनन्द से नाच उठती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जा रही है। आप सब उसे जाने की अनुमति प्रदान करें।' चेतन और अचेतन सभी के साथ ऐसी आन्तरिक आत्मीयता, ऐसी प्रीति और ऐसा कल्याण का बन्धन अन्यत्र दुर्लभ है। शकुन्तला के जाने से सारा तपोवन व्याकुल हो रहा है—

उद्गलितदर्भकवला: मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥ ४।१२

'हरिणियों के मुख से अधचबाई घास गिर पड़ती है। मोर नाचना बन्द कर देते हैं। लताएं गिरते हुए सूखे पत्तों के बहाने आंसू बहा रही हैं।' शकुन्तला अपनी नवज्योत्स्ना नामक लता-भगिनी का स्नेहपूर्वक आलिंगन करती है। आश्रम की गर्भिणी मृगी का प्रसवसंवाद भेजने के लिये वह कण्व से साग्रह प्रार्थना करती है। शकुन्तला का प्यारा मृगशावक उसका वस्त्र पीछे से खींच कर उसे रोक रहा है। शकुन्तला को जाते देख कण्व का गला रुंध जाना सहज है, प्रियंवदा और अनसूया की विह्वलता भी बोधगम्य है, परन्तु अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करने वाली प्रकृति की यह मूकवाणी अभूतपूर्व है।

शाकुन्तल में शिष्ट हास्य तथा परिष्कृत परिहास का भी मनोहर पुट देख पड़ता है। शकुन्तला अनसूया से कहती है कि प्रियंवदा ने मेरी कंचुकी बहुत तंग बांध दी है इसलिये जरा उसे ढीला कर दो। इस पर परिहास-प्रिय प्रियंवदा कहती है कि तुम मुझे क्यों दोष देती हो; अपने यौवन को उलाहना दो जिसने तुम्हारे उरोजों का विस्तार कर दिया है। द्वितीय अंक के प्रारम्भ में विदूषक का मृगया-वर्णन बड़ा ही रोचक एवं विनोदपूर्ण है। सेनापति जब राजा के सामने मृगया के गुणों की प्रशंसा करता है तो विदूषक उसे फटकारता हुआ उत्तर देता है—'अपेहि रे उत्साहहेतुक! अत्रभवान प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावदटवीतोऽटवी-माहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।'—'दूर हटो, बड़े उत्साह बढ़ाने वाले आये! महा-राज अब शान्तचित्त हैं। जाओ, तुम्हीं जङ्गल-जङ्गल भटकते फिरो। भले ही किसी बूढ़े भालू के मुख का शिकार बनोगे, जो

आदमी की नाक चट करने को हमेशा तरसा करता है।' छठे अंक में जब वसंत की आम्रमंजरी को विरह-पीड़ित दुष्यन्त मदन-बाण कहते हैं, तब मन्दबुद्धि विदूषक लाठी लेकर उन मदन-बाणों का नाश करने के लिये दौड़ पड़ता है! यह देख कर दुखी राजा भी अपनी हँसी नहीं रोक सकते। इसी अंक के प्रवेशक में धीवर तथा पुलिस के अधिकारियों में बड़ा विनोदपूर्ण कथोपकथन हुआ है।

कालिदास का चरित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख होते हुए भी सर्वथा स्वाभाविक और सजीव है। उसमें कहीं कृत्रिमता का लेश भी नहीं। नाटक के नायक और नायिका कवि की लेखनी का स्पर्श पाकर अमर हो गये हैं। दुष्यन्त धीरोदात्त नायक हैं। उनकी मनोहर तथा गम्भीर आकृति है। वे प्रभाववान् और मधुभाषी हैं—'चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते।' वे वलिष्ठ एवं पराक्रमशाली हैं (२।४; ३।१), साथ ही विनय से शोभित हैं। वे ललितकलाओं के मर्मज्ञ हैं। हंसपदिका के संगीत को सुनकर यह कहना—'अहो रागपरिवाहिनी गीतिः'—उनकी संगीत-कलाभिज्ञता का परिचायक है। प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति भी उनमें खूब है (७।८)। वे एक कुशल चित्रकार हैं (६।१७)। ऋषि-मुनियों तथा आश्रमों के प्रति उनके हृदय में अगाध सम्मान है। उनकी गम्भीरता शार्ङ्गरव की कटूक्तियों से भी स्खलित नहीं होती। जैसा उनका मनोरम बाह्य-रूप है वैसा ही स्निग्ध, ललित एवं सुसंस्कृत स्वभाव भी है। यह उनके शकुन्तला के साथ प्रणय-संभाषण से प्रकट होता है। 'आश्रमललामभूता' शकुन्तला के अनुपम रूप-लावण्य को देख उसकी ओर उनका आकृष्ट होना स्वाभाविक था। किन्तु एक भद्र पुरुष की भाँति उन्होंने यह जान लेना नितान्त आवश्यक

समझा कि उसका विवाह हो चुका है या नहीं। उसके साथ प्रेम करना धर्मसंगत है या नहीं (१।२०)। यह जान लेने के बाद ही वे उस पर अनुरक्त होते हैं (१।२५)। कालिदास के अन्य नाटकों के नायकों के समान दुष्यन्त भी बहुपत्नीक हैं, पर शकुन्तला के प्रति उनका प्रेम वास्तविक और निश्छल है (३।१८)।

किन्तु दुष्यन्त एक मनुष्य हैं और उनमें मानवोचित दुर्बलताएं भी हैं। नाटक के पहले भाग (अंक १–३) में उनका पतन हुआ है, द्वितीय भाग (४–५) में उठने की चेष्टा और तृतीय भाग (६–७) में उनका उत्थान हुआ है। दुष्यन्त के चरित्र का महत्व इसी पतन और उत्थान में है। मृगया के लिये घूमते हुए आश्रम में प्रवेश करने के बाद शकुन्तला को देख कर, जहां तक सम्भव था, उनका पतन हुआ। लुकछिप कर वयस्क कन्याओं की विनोद भरी क्रीड़ाएं देखना, अपना मिथ्या परिचय देना, देखते ही शकुन्तला को उपभोग के योग्य नारी समझ लेना, माता की आज्ञा पर ध्यान न देना, विदूषक को छल से राजधानी भेज देना और उससे असत्य बोलना (२।१८), विवाह के बाद कण्वमुनि के आने के पहले ही हस्तिनापुर चले जाना आदि उनके ऐसे कार्य हैं जो उनकी मानवोचित दुर्बलता के परिचायक है। राजधानी में आकर शकुन्तला को भूल जाना उनके पतन की चरम सीमा है। किंतु इसके बाद कवि ने बड़े कौशल से उन्हें ऊपर उठाया है। किसी भी सुन्दर स्त्री को देख कर मोहित हो जाने की मधुकरवृत्ति उनमें नहीं है—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्', 'अनार्यः परदारव्यवहारः'। उनकी असाधारण धर्मपरायणता का परिचय पाचवें अंक में मिलता है। एक असाधारण रूपवती युवती उनसे पत्नीभाव की भिक्षा मांग रही है। एक ओर अलौकिक रूप है, ऋषि का क्रोध है, नारी का अनुनय-विनय है; दूसरी ओर धर्म का भय है। राजा

के इस दृढ़ व्रत को देखकर कंचुकी विस्मित होकर कह उठता है—'अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः ! ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति ।'

छठे अंक में हम देखते हैं कि शकुन्तला के साथ परिणय का वृत्तान्त दुष्यन्त को याद हो आया है। दुखी होकर वे राज्य भर में वसन्तोत्सव बन्द करा देते हैं। रमणीय वस्तुएं उन्हें नहीं भातीं (६।५)। पर इतने शोक में भी वे अपने कर्तव्य को नहीं भूले हैं। न्याय और धर्म के अनुसार वे राज्यकार्य में संलग्न हैं।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥

राजा की इस आज्ञा में उनके शोक, उनके धर्मज्ञान, उनके कर्तव्य और स्नेह, उनके वर्तमान और अतीत का अपूर्व संयोग है। वणिक् धनमित्र की पुत्रहीनता और उसकी विधवाओं का शोक राजा की अपनी पुत्रहीनता और शोक में आकर मिल गया। सातवें अंक में राजा और ऊपर उठते हैं। हेमकूट पर्वत पर उनकी पुत्रवत्सलता का परिचय हमें मिलता है (७।१७)। शकुन्तला से मिलकर वे महाभारत के दुष्यन्त के समान गर्वपूर्वक यह नहीं कहते—

यच्च कोपितयाऽत्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे ॥

अपितु उसके पैरों पर गिरकर क्षमा-याचना करते हैं। सम्पूर्ण नाटक को पढ़ने के बाद अन्त में हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि 'दुष्यन्त कोरे कामुक नहीं हैं, वे प्रेमी हैं, पुत्रवत्सल हैं, कवि हैं, चित्रकार हैं और कर्तव्यपरायण राजा भी हैं। उनका

चरित्र महान् है, सुन्दर है, किन्तु कवि ने चन्द्र के कलङ्क को नहीं पोंछा।'

. शकुन्तला का चरित्र-चित्रण करने में कवि ने अपनी सारी प्रतिभा का उपयोग किया है। उसका अतुलनीय सौन्दर्य मोहक होने के साथ नैसर्गिक भी है (अव्याजमनोहरं वपुः)। महर्षि कण्व के आश्रम की वह मानो साक्षात् वनश्री है। उसका मधुर चरित्र अरण्य की छाया और माधवी लता की पुष्पमंजरी के साथ व्याप्त और विकसित हुआ है, पशु-पक्षियों के अकृत्रिम सौहार्द से अत्यन्त आकृष्ट हुआ है। प्रकृति की गोद में पल कर उसकी हृदय-लतिका ने चेतन-अचेतन सभी को स्नेह के ललित बन्धन से बाँध रखा है। पिता कण्व के प्रति उसके हृदय में निस्सीम प्रेम है। प्रियम्वदा और अनसूया तो उसके प्राणों में घुल-मिल गई हैं। कामशास्त्र से वह सर्वथा अनभिज्ञ थी। पर दुष्यन्त की धीर-गम्भीर आकृति, मधुर भाषण और असामान्य पराक्रम से उसके मन में एक अननुभूत प्रेम-विकार उत्पन्न होता है—'किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवन-विरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'। स्वाभाविक लज्जा के कारण उसने अपना प्रेमविकार सखियों पर प्रकट नहीं किया। उनके बहुत आग्रह करने पर ही उसने अपनी मदनव्यथा प्रकट की। अपने प्रिय के सम्मुख भी वह लज्जा का परित्याग नहीं करती—'पौरव रक्ष विनयम्। मदनसंतप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।' इससे उसका स्वात्माभिमान तथा गुरुजनों के प्रति आदर की भावना प्रकट होती है।

'शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी प्रेमिका है, शान्ति की गोद में पली होने पर भी चपल है।' वह एक नारी है, और नारी-हृदय के प्रेम, उमङ्ग और उल्लास की

उसमें पर्याप्त मात्रा है। दुष्यन्त की भाँति उसके चरित्र का महत्व उसके पतन और उत्थान में है। उसका प्रायश्चित्त उसके प्रत्याख्यान से शुरू होता है और विरहव्रत से पूर्ण होता है। उसका प्रथम प्रेम उद्दाम और प्रबल था। इस प्रेम ने पांचवें अंक में एक प्रबल धक्का खाया। इसी स्थल पर शकुन्तला के नारीत्व का प्रदीप्त स्वरूप हमारे सामने आता है। जब दुष्यन्त ने सारी स्त्री-जाति पर 'अशिक्षितपटुत्व' का अपवाद लगाया (५।२२), तब शकुन्तला का गर्व चोट खाकर जाग उठा। तिलमिला कर उसने राजा को 'धर्म का चोला पहने, तृण से ढके कूप के समान' कह डाला। उस समय क्रोध से लाल उसके मुखमण्डल को देख दुष्यन्त स्तम्भित हो उठते हैं (५।३३)।

सातवें अंक में शकुन्तला विरहिणी की अवस्था में देख पड़ती है। प्रत्याख्यान किये जाने पर भी वह सदैव पति का ही चिन्तन करती है। इस समय उसका सारा स्नेह अपने पुत्र में सञ्चित हो गया है। बालक ने जब पूछा कि ये (दुष्यन्त) कौन हैं, तब शकुन्तला कहती है—'वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ'—'बेटा, अपने भाग्य से पूछ।' इस उत्तर में 'पुत्रस्नेह, पति का अन्याय, दैव का अत्याचार सब कुछ है; पुत्र के प्रति, स्वामी के प्रति, विधाता के प्रति साध्वी शकुन्तला का उज्ज्वल अभिमान प्रकट है।' दुष्यन्त पर क्रोध करने के बदले वह अपने भाग्य का ही दोष देती है। इस प्रकार कालिदास की शकुन्तला प्रेमिका से अन्त में देवी के पद पर पहुंच जाती है। स्नेह, सौहार्द, लज्जा, तेज और करुणा की वह एक मनोहर मूर्ति है।

अन्य चरित्रों का भी कालिदास ने कुशलता के साथ निर्माण किया है। कण्व के रूप में स्नेहपरायण पिता का हृदयस्पर्शी चित्र अंकित है। शकुन्तला की सखी अनसूया गम्भीर,

दूरदर्शी और व्यवहार-कुशल है। प्रियंवदा मधुरभाषिणी, सदा आनन्दित रहने वाली और विनोदशील है। खेद है कि कवि ने चौथे अंक के बाद इन दोनों स्नेहमयी सखियों के जीवन पर प्रकाश नहीं डाला। विदूषक माढव्य विनोदी, उदर-परायण और भीरु है। शार्ङ्गरव शीघ्रकोपी और स्पष्टवक्ता है। शारद्वत सौम्य और विवेकशील है। इनके अतिरिक्त शकुन्तला की मातृस्थानीय गौतमी, सिंह के बच्चे के दाँत गिनने वाला निर्भीक सर्वदमन, गरीब किन्तु स्वाभिमानी धीवर, रिश्वतखोर सिपाही, खुशामदी सेनापति—सभी का सजीव एवं सरस चित्रण हुआ है।

शाकुन्तल में कवि ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित किया है। उस समय वर्णाश्रम-धर्म पूर्णरूप से प्रतिष्ठित था। ब्राह्मण यज्ञ-यागादि एवं अध्ययन-अध्यापन कार्य में संलग्न थे। क्षत्रिय दुष्टों के दमन में कटिबद्ध थे। वैश्य समुद्रयात्रा द्वारा दूर-दूर देशों से व्यापार कर राष्ट्र की आर्थिक उन्नति में योग देते थे। शूद्र भी अपने उद्योगों से राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति में हाथ बंटाते थे। परम्परागत कर्म निन्दित होने पर भी त्याज्य नहीं समझा जाता था[१]। लोग गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पूरे करके वानप्रस्थी बनकर तपस्या करने के लिये वन में चले जाते थे। नृपतिगण भयग्रस्त मनुष्यों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। राजा प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था[२]। दुष्यन्त की प्रजावर्ग में निम्नवर्ग के लोग भी कुमार्गगामी नहीं थे (५।१०)। राजा सदैव प्रजाहित में तत्पर रहता था[३]। राजा को प्रजा की आय का छठा भाग कर

१—सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु कर्म विवर्जनीयम्। ६।१

२—प्रजाः प्रजाः स्वा इव तंत्रयित्वा। ५।५.

३—प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः। ७।३५

रूप में लेने का अधिकार था। इसीलिये वह 'षष्ठांश-वृत्ति' (५।४) कहलाता था। न्याय निष्पक्ष होने पर भी कठोर नहीं था। धनी व्यापारी धनमित्र के निःसन्तान मरने पर राजनियमानुसार उसकी सारी सम्पत्ति राजा की थी। किन्तु निर्लोभी और दयालु राजा ने उसकी गर्भवती विधवा को वह सम्पत्ति दे देने की आज्ञा दी। अपनी वृद्धावस्था में राजा अपने पुत्र को राज्य सौंप कर स्त्री-सहित किसी आश्रम में जाकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करते थे (४।६)। कैदी को या अपराधी को मारने के लिये उस समय भी पुलिस के अधिकारियों के हाथों में खुजली उठा करती थी। रिश्वत लेने में भी वे लोग खूब अभ्यस्त थे।

कालिदास ने तत्कालीन परिवारिक एवं सामाजिक प्रथाओं का भी सजीव चित्र उपस्थित किया है। धनिक-वर्ग में तथा राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। पुत्र का न होना दुर्भाग्य समझा जाता था। पुरुषों का स्त्रियों के प्रति शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार होता था। उच्चकुल की महिलाएं जनसमूह में पर्दा किया करती थीं। दुष्यन्त के दरबार में शकुन्तला 'अवगुण्ठनवती' होकर आई थी। पति के साथ गुरुजनों के सम्मुख जाने में स्त्रियां लज्जा का अनुभव करती थीं— 'जिह्रेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।' पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार होता था (५।२६)। कन्याओं का वयस्क होने पर विवाह होता था। लोग शकुन और अपशकुनों पर विश्वास करते थे। उस समय स्त्रियां शिक्षित हुआ करती थीं। प्रियंवदा और अनुसूया दोनों साक्षर थीं। दुष्यन्त की अंगूठी पर अङ्कित नाम पढ़ कर ही उन्हें उनके राजा होने की बात मालूम हुई। शकुन्तला ने अपने प्रेम-पत्र में अपना प्रणयभाव जिस मर्मिक ढङ्ग से व्यक्त किया उससे उसकी शिक्षा तथा भावप्रकाशन-पटुता का परिचय मिलता है। लिखने-पढ़ने के

अतिरिक्त स्त्रियों को चित्रकला, संगीत, गृहकृत्य आदि उपयोगी विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों के लिये प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान भी आवश्यक था। अपने प्यारे मृगशावक के घाव पर इंगुदी का तेल लगा कर शकुन्तला ने उसकी चिकित्सा की थी (४।१४)।

शाकुन्तल में उस समय के धार्मिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की ओर भी संकेत किया है। बुरे ग्रहों की शान्ति के लिये तीर्थयात्रा आदि मांगलिक कार्य संपन्न होते थे। राष्ट्र के जीवन में आश्रमों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। आश्रमों की रक्षा करना राजा का धर्म था। वहां जीवहिंसा न होने का कड़ा नियम था। बालक-बालिकाओं दोनों की शिक्षा के लिये इन आश्रमों में समुचित प्रबन्ध था। (१।१३)। आश्रमों का वायुमण्डल पावन एवं रमणीय था (१।१४,७।११)। हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच-आश्रम के विषय में दुष्यन्त कहते हैं—'स्वर्गादधिकतरं निर्वृत्तिस्थानम, अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।' तपस्या के अद्भुत प्रभाव पर कालिदास ने स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला है। शाकुन्तल के अंतिम पद्य में कवि ने सामाजिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों का अटूट संबंध दिखाते हुए आध्यात्मिकता को ऊंचा पद दिया है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुति हतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

शाकुन्तल की सबसे बड़ी विशेषता उसका अमर संदेश है। शकुन्तला और दुष्यन्त प्रणय के प्रथम आवेग में विवाह कर लेते हैं, किन्तु प्रेम का वास्तविक मूल्य उन्होंने नहीं पहचाना था। इसलिये कवि को उन्हें एक पाठ पढ़ाना था—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम् ॥

'एकान्त की मित्रता बहुत विचार कर करनी चाहिए। नहीं तो जिसके हृदय को अच्छी तरह नहीं पहचाना, उसके प्रेम का पर्यवसान वैर में होता है।' प्रेमी-प्रेमिका को पश्चात्ताप और वियोग की करालाग्नि मे हृदय-शुद्धि करनी पड़ती है, तब कहीं वे सच्चे स्नेह की सरिता तक पहुँचते हैं—'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते'। कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला के बाह्य मिलन को कण्टकाकीर्ण मार्ग में ले जाकर आभ्यन्तरिक मिलन से सार्थक कर दिया है। कवि रवीन्द्र ने ठीक ही कहा हैं कि 'शकुन्तला के आरम्भ के सौन्दर्य ने मङ्गलमय परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्यो को अमृत के साथ सम्मिलित करा दिया है।' प्रसिद्ध जर्मन-कवि गेटे ने इस नाटक का अनुवाद पढ़कर जो उसकी प्रशंसा की है वह अक्षरशः ठीक है—

Wouldst thou the young year's blossoms
and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
enraptured, feasted, fed?
Wouldst thou the earth and heaven itself
in one sole name combine?
I name thee, O Shakuntala and all at
once is said.

इसका महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी-कृत सुन्दर संस्कृत रूपान्तर देखिए—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

'यदि यौवन-वसंत का पुष्पसौरभ और प्रौढत्व-ग्रीष्म का मधुर फलपरिपाक एकत्र देखना चाहते हो, अथवा अन्तःकरण को अमृत के समान संतृप्त एवं मुग्ध करने वाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हो, अथवा स्वर्गीय सुषमा एवं पार्थिव ऐश्वर्य इन दोनों के अभूतपूर्व सम्मिलन की अपूर्व झांकी करना चाहते हो, तो एक बार अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुशीलन करो।' महाकवि गेटे का यह पद्य आनन्द की अत्युक्ति भर ही नहीं है; यह एक रसज्ञ का विचार है, जो दीपशिखा की भांति सारे शाकुन्तल को क्षण भर में उद्भासित कर देता है।

सौन्दर्य और प्रेम के कवि कालिदास—यों तो सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण संसार के सभी उत्कृष्ट कवियों ने किया है, फिर भी कालिदास ने इन दो विषयों के वर्णन में अपनी जिस असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है, वह उन्हें शृङ्गार रस के कवियों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करती है। कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य को बाह्य-साधनों की अपेक्षा नहीं (शा० १।१८)। वास्तविक सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में मनोरम एवं रमणीय होता है—'अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्'। उसकी चारुता उसके 'अक्लिष्टकान्ति' होने में ही निहित है। कालिदास का मत है कि समस्त दृश्य प्रकृति में जो सौन्दर्य या रमणीयता फैली हुई है, मानवीय लावण्य उसी का अङ्गभूत है। इसीलिये वे स्त्री-सौन्दर्य की तुलना प्रकृति की लताओं और पुष्पों से करते हैं—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ॥ शा० १।१९

'शकुन्तला का अधर कोमल किसलय के समान रक्तवर्ण है। उसकी सुकुमार भुजाएं लता की कोमल शाखाओं के समान हैं। उसके अङ्गों में यौवन (उरोज) खिले हुए पुष्प के समान आकर्षक हैं।' जिस अनुपम सौन्दर्य को अलंकृत करने के स्थान पर आभूषण स्वयं उससे अलंकृत होते हैं[१], प्रकृति के पुष्प उस सौन्दर्य की शोभा में भी अभिवृद्धि अवश्य करते हैं। तभी तो अलका की रमणियां हाथ में नीलाकमल, केशपाश में कुन्दकली, मुख पर लोध्र पुष्प का पराग, कानों में सुन्दर शिरीषपुष्प और सिर की मांग में कदम्ब-पुष्प धारण किया करती थीं। कालिदास के अनुसार आकृति की सुन्दरता और हृदय की वक्रता दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं—'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति'। रमणीरूप के वर्णन में कालिदास अद्वितीय हैं। निम्नलिखित पद्य में पार्वती की मुस्कराहट का क्या ही मनोरम वर्णन है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ कु० १।४४

'यदि जूही की कलियां चुनकर अरुणवर्ण के कोमल किसलयों पर सजा दी जायं, अथवा लाल-लाल मूगों पर मोतियों के दाने तरतीब से बैठा दिये जायं, तब कहीं जाकर पार्वती के अरुण अधरों पर खेलने वाली मुस्कराहट की उपमा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं।'

१—आभरणस्याभरणं प्रसाधनविशेषेषु प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ विक्रमोर्वशीय २।३

कालिदास ने मानव सौन्दर्य का ही वर्णन नहीं किया है, प्राकृतिक सौन्दर्य का भी उन्होंने भव्य और हृदयग्राही चित्रण किया है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ शा० १।७

'देखो, यह मृग कैसे मनोहर ढङ्ग से अपनी गर्दन मोड़-मोड़ कर पीछे वेग से बढ़ने वाले इस रथ को बार-बार देखता जा रहा है। कहीं बाण आकर चुभ न जायं, इस भय से यह अपने शरीर के पिछले हिस्से को समेट कर शरीर के अगले हिस्से में मानो घुसा जा रहा है। थकावट के कारण हांफने से इसके खुले मुख से अधचबाई घास गिरती जा रही है। इसकी लम्बी-लम्बी छलांगों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हवा में तो अधिक और पृथ्वी पर कम ही चल रहा है।'

कालिदास की दृष्टि में नारी केवल उपभोग की वस्तु नहीं है। वह गृहिणी है, सचिव है, सखी है और है समस्त ललित कलाओं में निष्णात गृहस्वामिनी। कण्व के मुख से उन्होंने परिवार का भूषण अथवा दूषण बनने वाली स्त्रियों का वर्णन कराया है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ शा० ४।१८

'तुम गुरुजनों की सेवा करना, सौतों से प्रिय सखियों के सदृश व्यवहार करना, पति के नाराज होने पर भी कभी क्रोध के कारण विरुद्ध आचरण न करना, परिजनों के प्रति उदार भाव रखना और ऐश्वर्य का गर्व कदापि न करना। स्त्रियां ऐसे आचरण से ही गृहिणी पद पाती हैं। सके विरुद्ध आचरण करने वाली स्त्रियां कुल को रोग की तरह कष्ट पहुँचाने वाली होती हैं।'

कालिदास के अनुसार सुन्दर शरीर का सौन्दर्य ही स्त्रियों का परम गौरव और चरम सौन्दर्य नहीं है। इसीलिये 'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती' पार्वती ने मन ही मन अपने रूप की निन्दा की, फिर 'इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपताम्' उसने अपने रूप को सफल बनाने की चेष्टा की। कालिदास ने सौन्दर्य की परिणति प्रेम में मानी है—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।' उन्होंने प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा माना है। काम का कर्तव्य से विरोध नहीं होना चाहिए, यह उनकी सारी कृतियां घोषित कर रही हैं। शिव अर्थात् मङ्गल का विरोधी काम भस्मावशेष कर दिया जाता है। कालिदास ने प्रेम का मूलभूत कारण पूर्वजन्म का संस्कार माना है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ शा० ५।२

'सुन्दर वस्तुओं को देख कर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कण्ठित हो जाता है। इसका कारण यही है कि वह किसी पूर्वजन्म में होने वाली मैत्री का अज्ञातभाव से स्मरण करने लगता है। मन बिना किसी कारण के उस सौहार्द की ओर चला जाता है।' 'मनो हि जन्मान्तरसंङ्गितज्ञम्' कह कर

कालिदास ने रघुवंश (७।१५) में इसी सिद्धान्त को पुनः प्रतिपादित किया है। प्रेम की इतिश्री इसी जन्म में नहीं हो जाती। परित्यक्ता सीता कहती हैं—'भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।'

प्रेमी-प्रेमिका के मधुर सम्बन्ध का कालिदास ने बड़ी सहृदयता से चित्रण किया है। पर प्रिया के विरह से बढ़ कर संसार में और कोई उग्रतर दैवदुर्विपाक नहीं हो सकता। विरही के लिये शीतल चन्द्रमा आग का गोला, उसकी किरणें वज्र के बाण बन जाती हैं—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥ शा० ३।३

कालिदास ने अपने नाटकों में स्त्रियों के प्रथम प्रेम का तथा पुरुषों के अपर प्रेम का दिग्दर्शन कराया है। इससे उनका अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में प्रेम की कोमलता स्वाभाविकरूप से विद्यमान रहती है, किन्तु पुरुषों में उसका प्रादुर्भाव वासना के वेग के शांत होने पर होता है। कालिदास कहते हैं कि स्त्री में जब प्रेम की उद्भूति होती है, तब वह उसे शब्दों द्वारा नहीं बल्कि सुकुमार हावों द्वारा व्यक्त करती है—'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।' प्रेमपरवश किन्तु संकोचशील शकुन्तला के उदीयमान प्रेम का मधुर दृश्य देखिए—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी
स्थिता कतिचिदेव पदानिगत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासुवल्कलमसक्तमपिद्रुमाणाम्॥ शा० २।१२

'अवसर न होने पर भी पैर में कुश कांटा लग जाने का बहाना करके, वह सुन्दरी कुछ दूर जाकर ठिठक गई और झाड़ी की शाखा में वल्कल वस्त्र न फंसने पर भी उसको छुड़ाने के बहाने वह मुझे बार-बार मुड़ कर देखने लगी।'

जिस प्रेम में कोई बन्धन नहीं, कोई नियम नहीं, जो प्रेम अकस्मात् नर-नारी को मोहित करके संयमदुर्ग के भग्न प्राचीर के ऊपर अपनी जयपताका को गाड़ता है, उस प्रेम की शक्ति को कालिदास ने स्वीकार किया है, किन्तु उसके हाथ आत्मसमर्पण नहीं कर दिया। उन्होंने दिखलाया है कि जो असंगत प्रेम-संभोग हम लोगों को अपने अधिकार में कर लेता है, वह स्वाभिशाप से खण्डित, ऋषि-शाप से प्रतिहत और देवरोष से भस्म हो जाता है। दुष्यन्त और शकुन्तला का बन्धन-विहीन गोपन-मिलन चिरकाल तक शाप के अन्धकार में लीन रहा। शकुन्तला को आतिथ्य-धर्म का विचार नहीं रहा, वह दुष्यन्त के ही ध्यान में मग्न रही। उस समय शकुन्तला के प्रेम का मङ्गल भाव मिट गया। दुर्वासा के शाप और शकुन्तला के प्रत्याख्यान द्वारा कवि ने यह सिद्ध किया है कि जो उन्मत्त प्रेम अपने प्रेमपात्र को छोड़ और किसी की कुछ भी परवाह नहीं करता, उसके विरुद्ध सारा संसार हो जाता है। इसीसे वह प्रेम थोड़े ही दिनों में दुर्भर हो उठता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि कालिदास ने भ्रमरवृत्ति का पक्ष नहीं लिया है, प्रत्युत दाम्पत्य-प्रेम को ही महत्व दिया है। परस्त्री की ओर दृष्टिपात करना भी वे अनुचित समझते हैं। दुष्यन्त कहते हैं—

कुमुदान्येव शशांकः सविता बोधयति पंकजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥ शा० ५।२८

'चन्द्रमा केवल कुमुदों को तथा सूर्य केवल कमलों को विकसित करता है। संयमी पुरुषों का मन परस्त्री-प्रेम से सर्वथा विमुख रहता है।' कुमारसम्भव के पांचवे सर्ग में कालिदास ने कहा है कि प्रेम का ज्वार लोकापवाद की परवाह नहीं करता—'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अमर्यादित प्रेम का समर्थन करते हैं। उनके नाटकों का कमनीय काव्य-सौन्दर्य किसी वीभत्स घटना, आत्यंतिक आवेश अथवा अस्वाभाविक व्यापार से आक्रान्त नहीं होता।

कालिदास के अनुसार प्रणय की सार्थकता विवाह में और विवाह की सार्थकता सन्तानोत्पत्ति के मांगलिक व्यापार में है। समूचा कुमारसम्भव काव्य कुमारजन्मस्वरूप महाव्यापार की उपयुक्त भूमिका है। कामदेव के वाणप्रहार से धैर्य नष्ट होकर जो मिलन होता है, वह पुत्र-जन्म के योग्य नहीं है। वह मिलन परस्पर की ही कामना करता है, पुत्र की कामना नहीं करता। इसी से कवि ने कामदेव को भस्म करा कर पार्वती द्वारा तपस्या कराई है। कुमार जन्म की महिमा क्या है, यही स्पष्ट करने के लिये कवि ने कामदेव को रुद्ररोषानल में आहुति देकर अनाथा रति का करुण-क्रन्दन कराया है। शाकुन्तल में भी प्रथम अंक में प्रेयसी के साथ दुष्यन्त का व्यर्थ प्रणय दिखाकर अन्तिम अंक में भरत-जननी के साथ उसके सार्थक मिलन को अङ्कित किया है।

कालिदास का प्रकृति-वर्णन—कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुजारी थे। उनके सजीव एवं विशद प्राकृतिक वर्णन हमारे कल्पना-चक्षु के सम्मुख एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देते हैं। बाह्य दृश्यों के इस संश्लिष्ट एवं रूपयोजनात्मक चित्रण से उनके प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम का परिचय मिलता है। उनके प्रकृति-

वर्णन में निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की सरसता तथा कल्पना की कमनीयता पाई जाती है। हां, यह अवश्य है कि उन्होंने प्रधानतया प्रकृति के केवल भव्य, मनोरम और सौन्दर्य-समुज्ज्वल पक्ष का ही वर्णन किया है। प्रकृति के मधुर तथा कोमल पहलू का एक स्निग्ध चित्रण देखिए—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशाः॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः॥

रघुवंश, १३।५४-५७

'हे निर्दोष अङ्गों वाली सीते! जरा गंगा और यमुना के सङ्गम को देखो। यमुना की तरङ्गों से मिलता हुआ गंगा का प्रवाह कितना सुन्दर प्रतीत होता है! कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मोतियों की लड़ी में चमकीले नीलम पिरो दिये गये हों, कहीं ऐसा भान होता है कि श्वेत कमलों की माला में नील कमल बीच-बीच में गुंथे हों। कहीं नील हंसों की श्रेणी में आ मिलने वाली मानस-प्रेमी उज्ज्वल हंसों की पंक्ति के समान, कहीं कालागुरु की चित्र-रेखाओं से सुशोभित भूतल की चन्दन-चर्चित चित्रकारी के समान, कहीं वृक्षों की छाया में अन्धकार से मिलने वाली धवल चन्द्रिका के समान, कहीं शरत्कालीन शुभ्र मेघखण्डों के अन्तराल से देख पड़ने वाले नील नभःप्रदेश के

समान और कहीं काले सर्पों से अलंकृत तथा भस्मांगराग से मंडित भगवान शङ्कर के शरीर के समान गंगा-यमुना के सङ्गम का यह मनोहर दृश्य शोभित हो रहा है।' क्या ही अलंकृत, विशद एवं रमणीय वर्णन है!

कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति और प्रेम का मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने प्रकृति को मुख्यतः एक प्रेमिका के रूप में देखा है। 'मेघदूत' का यक्ष अपमी प्रियतमा के अङ्गों की समता प्रियंगुलता में पाता है, चकित हरिणी की दृष्टि में उसके कटाक्षों का अनुभव करता है, चन्द्रमा में उसके मुख की शोभा निरखता है, मयूरपुच्छों में उसके अलकों का अनुमान करता है तथा नदी की लोल लहरियों में उसकी भौंहों की छवि निहारता है। पवन के झकोरों से थिरकती लताओं के रूप में नर्तकियों का कैसा सुन्दर एवं सजीव चित्र उपस्थित किया गया है—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
*उपवनान्तलता पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥*रघु० ६।३५

'उपवन में लताएं नाच रही हैं। भ्रमरों की श्रुतिमधुर गुञ्जार ही उनका मादक संगीत है। कोमल कुसुम कलियां उनके चमकते दांत हैं। वायु के झकोरों से हिलते किसलय उनके सुकुमार पाणिपल्लव हैं जिनसे वे मानो बीच-बीच में ताल दे रही हैं।' चन्द्रमा अपनी प्रियतमा रजनी का चुम्बन कर रहा है—

अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ कु० ८।६३

'चन्द्रमा अपनी किरणरूपी सुकुमार अंगुलियों से रजनी के अंधकाररूपी बिखरे केशपाश को धीरे से समेट कर उसके अर्ध-

मुद्रित कमलरूपी नेत्रों वाले मुख-मण्डल का चुम्बन कर रहा है (श्लेष से, प्रदोषकाल का स्पर्श कर रहा है)।'

मानवीय सौन्दर्य का मापदण्ड प्राकृतिक सौन्दर्य ही है। पार्वती का हृदयहारिणी आँखों की तुलना मृगी के नेत्रों से ही हो सकती है तथा उसके सौन्दर्य की समता पल्लवित लता से ही—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव॥ कु० ३।५४

'अरुणोदयकालीन बालसूर्य के समान रक्तवर्ण के वस्त्रों को धारण किये हुई तथा उरोजों के भार से झुकी हुई पार्वती पूजा करने के लिये जा रही हैं। जान पड़ता है कि फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल-लाल नये पल्लवों को धारण करने वाली कोई लता चली जा रही हो।'

प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य इन दोनों में अपेक्षाकृत कौन श्रेष्ठ है, इस प्रश्न का निर्णय कालिदास की कृतियों में कठिनाई से होता है। एक ओर तो मालविकाग्निमित्र में वे प्राकृतिक सौन्दर्य की श्रेष्ठता स्थापित करते हैं—

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्॥ ३।५

'स्त्रियों के बिम्बासदृश अधरों की शोभा की अपेक्षा अशोक पुष्प का सौन्दर्य कहीं अधिक श्रेष्ठ है। श्याम, शुभ्र और अरुण वर्ण वाला यह कुरबक पुष्प उनके मुख पर चित्रित मकरिकापत्र को मात कर रहा है। इस भ्रमर-चुम्बित पुष्प के सामने उनके ललाट पर अंकित तिलक फीका पड़ जाता है। इस प्रकार यह

मधुमास स्त्रियों की मुखप्रसाधनविधि की अवज्ञा कर रहा है।' दूसरी ओर कुमारसंभव में वे रमणीरूप को प्रकृति के सौन्दर्य से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं—

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे बितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ कु० १।४१

'मेरी सम्मति में पार्वती के दोनों हाथ शिरीष पुष्प से भी अधिक सुन्दर हैं। क्योंकि कामदेव जब अपने पुष्पबाणों से शिव को वश में न कर सका तो उसने उन्हीं भुजलताओं को उनके कंठ का पाश बनाया।'

कालिदास ने प्रकृति को मूक, चेतनाहीन अथवा निष्प्राण नहीं माना है। मानवप्राणियों की भांति उसमें भी सुख-दुख-संवेदना का भाव देख पड़ता है। मेघदूत में जब यक्ष स्वप्न में अपनी पत्नी के दर्शन कर प्रसन्नता से आलिंगन करने के लिये अपनी भुजाएं पसारता है तब वनदेवताओं की आंखों से मोती के समान स्थूल अश्रुबिंदु वृक्षों की पत्तियों पर गिर पड़ते हैं। रावण जिस मार्ग से सीता को ले गया था, वह मार्ग लताओं ने राम को अपनी शाखाओं और पल्लवों से सूचित किया था। हरिणियों ने दर्भाङ्कुर चरना छोड़ दक्षिण दिशा की ओर दृष्टि करके वही कार्य किया था। विरहग्रस्त प्रेमी को तो प्रकृति अवर्णनीय सांत्वना एवं संतोष प्रदान करती है। मलयानिल अग्निमित्र को सांत्वना दे रहा है—

आमत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।
अंगे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन ॥ माल० ३।४

'आम्रमंजरी से सुवासित यह मलयानिल मेरे अंगों को स्पर्श कर रहा है, मानो स्वयं वसंत अपने कोमल और प्रेमस्निग्ध हस्त से मुझे स्पर्शसुख प्रदान करता हुआ कोयल की मधुर काकली द्वारा मुझसे सहानुभूति में कह रहा हो कि सखे, अपने मदनताप को सहन करो।'

कालिदास ने किस प्रकार क्रमशः प्रकृति के मार्मिक प्रभाव को हृदयंगम किया था, यह समझने के लिये उनके ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। ऋतुसंहार का तरुण कवि प्रकृति का प्रेमी है, पर वह कामनियों का अपेक्षाकृत अधिक प्रेमी है। ऋतुसंहार में कामिनी के सौन्दर्य, शृङ्गार, विभ्रम, विलास और प्रेम का ही वर्णन प्रधानरूप से पाया जाता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में कामियों के मन में उत्पन्न होने वाले विकारों का ही उसमें अधिक वर्णन है। कुमारसम्भव में प्राकृतिक विभूति और दैवी विभूति में साम्य स्थापित किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य के केन्द्र हिमालय की पवित्रता की पूर्ति उमा-महेश्वर की तपश्चर्या से होती है। मेघदूत में कवि ने मनुष्य और प्रकृति के बीच तादात्म्य स्थापित करने का अद्भुत प्रयास किया है। पूर्वमेघ में विरही यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने दुखी हृदय को आश्वासन देता है। उत्तरमेघ में वह प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत एवं भावी मिलन-सुख का स्वप्न देखता है। रघुवंश में कवि कुछ और ऊँचे स्तर पर पहुँच गया है। उसमें प्रकृति-जीवन का मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। उसमें कवि ने दिखाया है कि प्रकृति-जीवन से वियुक्त मानव-जीवन की समाप्ति आध्यात्मिक ह्रास, सामाजिक दुर्दशा तथा राजनीतिक अवनति में जाकर होती है। किन्तु कवि की सर्वोच्च प्रतिभा का निदर्शन, प्रकृति-सन्देश का मार्मिक उद्घाटन शाकुन्तल में जाकर हुआ है।

आद्योपान्त मानवीय भावनाओं का चित्रण करते हुए भी शाकुन्तल सर्वत्र मनुष्य का प्रकृति के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रथम अङ्क में ही नगर के वासनामय विलास और तपोवन के अकृमित्र वैभव के तारतम्य पर प्रकाश डाला गया है (१।१५)। इन्द्रियवासना की तात्कालिक लहर शान्त होते ही हम प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उच्चतर स्थान पर पहुंच जाते हैं। मृत्यलोक और स्वर्गलोक के मध्यस्थानीय हेमकूट पर्वत पर महर्षि मारीच के पावन तपोवन में न केवल प्रेमियों का पुनर्मिलन होता है, अपितु अन्तः और बाह्य प्रकृति के चिरन्तन संयोग की पुनः प्रतिष्ठा भी होती है।

कालिदास का कलाविषयक आदर्श—कालिदास की कृतियों में स्थल-स्थल पर कलाजन्य सौन्दर्य का बड़ा ही उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया गया है। जो लोग भ्रमवश कलिदास की कृतियों में केवल वासनात्मक शृङ्गार का दर्शन करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे कालिदास के सूक्ष्म संकेतों को भी समझने की चेष्टा करें। नीचे दिये पद्य में कालिदास ने इस उच्च आदर्श की मार्मिक व्यंजना की है—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ शा० १।२२

इस पद्य में शकुन्तला के रूप वर्णन के व्याज से कवि ने प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित किया है कि कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि सर्वथा लोकोत्तर है, इस रजोमयी पार्थिव पृष्ठभूमि से परे है, वासनामय धरातल से उच्चतर है। साथ ही, उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि कलाजन्य आनन्द की अनुभूति तर्कबुद्धि द्वारा संभव नहीं—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥शा० १।१७

इस पद्य में कवि ने इस सिद्धान्त की ओर सूक्ष्म संकेत किया है कि जीवन-मधु की प्राप्ति—कलाजन्य आनन्द की उपलब्धि—तत्त्वान्वेषण बुद्धि द्वारा अर्थात् तर्क की विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा संभव नहीं। उस मधु के आस्वादन के लिये आवश्यकता है उस सहृदयता की—भावप्रवणता की—जो कला-सुन्दरी के चंचल अथच प्रतिक्षण परिवर्तमान कटाक्षकोरों को स्पर्श कर सके, उसके मार्मिक रहस्य का उद्घाटन कर सके और उसके रति-सर्वस्व-रस-का आस्वादन कर सके।

महाकवि कालिदास के काव्यों या नाटकों में सर्वत्र एक अत्यन्त उदात्त नैतिकता अथवा आदर्श भारतीय मर्यादा का चित्रण हुआ है। कालिदास की उक्ति 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (रघु० १।५६) और शेक्सपियर की उक्ति 'O Opportunity, thy guilt is great' की तुलना से ही स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भारतीय आदर्श और पाश्चात्य आदर्श में कितना अन्तर है। भारत की इस नैतिक एवं कलात्मक संस्कृति का जो चित्रण कालिदास ने अपनी रुचिर रचनाओं में किया है वह मानो सारे संसार के लिये आदर्शभूत है—मानदण्ड है—'स्थितिः पृथिव्या इव मानदण्डः'। वस्तुतः वाल्मीकि और व्यास के समान ही कालिदास भी भारतीय प्रतिभा के अन्यतम अवतार हैं।

अश्वघोष

अश्वघोष संस्कृत के प्रथम बौद्ध नाटककार माने जाते हैं। इनका स्थितिकाल, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ईसा की प्रथम शताब्दी में था। सन् १६१० में मध्य एशिया के तूरफान नामक स्थान में अश्वघोष के तीन नाटक डा० लूडर्स (Luders) द्वारा पाये गये। उनमें एक का नाम शारिपुत्रप्रकरण है। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्धधर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। यत्र-तत्र बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी गई है। नाट्यशास्त्र के अनुसार यह एक 'प्रकरण' है। इसमें ६ अंक हैं। संस्कृत के अन्य नाटकों की भाँति इसमें नान्दी, प्रस्तावना सूत्रधार, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग इत्यादि सभी नाटकीय लक्षण पाये जाते हैं। हाँ, अन्त में 'भरत वाक्य' का प्रयोग नहीं मिलता। शारिपुत्रप्रकरण के साथ अश्वघोष के दो और नाटकों के खंडित अंश भी मिले हैं। इनमें से एक तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' के समान रूपात्मक है, जिसमें बुद्धि, धृति, कीर्ति और बुद्ध पात्रों के रूप में चित्रित किये गये हैं। दूसरा मृच्छकटिक की भाँति वेश्यानायिकात्मक नाटक है, जिसमें मागधवती नामक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक विदूषक आदि पात्र हैं। पर ये दोनों नाटक अधूरे ही मिले हैं। इनके नाम का पता नहीं चलता।

अश्वघोष के नाटकों की संस्कृत में कहीं-कहीं कुछ अशुद्धियां देख पड़ती हैं, जो सम्भवतः प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के कारण हुई हैं। उदाहरणार्थ, आर्त्थ (अर्थ), क्रिमि (कृमि), प्रद्वेषम् (प्रदोषम्) इत्यादि। अश्वघोष के बाद के नाटकों में नाटकीय निर्देश (जैसे सकरुणम्, सर्वे आकर्णयन्ति, निष्क्रान्ताः, परिवृत्य आदि) पात्रों के कथनोपकथन से पृथक् दिये गये हैं, किन्तु

अश्वघोष के नाटकों में उसके साथ ही दिये गये हैं। अश्वघोष की प्राकृत में कई आर्ष प्रयोग भी पाये जाते हैं।

हर्ष

भारत के प्राचीन विद्या-व्यसनी राजाओं में सम्राट हर्षवर्धन (६०६–६४८ ई०) का नाम परम प्रसिद्ध है। उन्होंने तीन नाटकों की रचना की है—प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द। इन कृतियों के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों का कहना है कि ये हर्ष की रचनाएं नहीं हैं। उन्होंने अपने किसी आश्रित कवि (बाण या धावक) द्वारा उन्हें लिखवाकर अपने नाम से प्रचलित किया। इतना तो निश्चित है कि उक्त तीनों रचनाएं एकही कवि की लेखनी से प्रसूत हैं, क्योंकि (१) इन तीनों नाटकों की प्रस्तावना में एक ही रचयिता (हर्ष) का उल्लेख हुआ है। (२) प्रियदर्शिका और नागानन्द में दो श्लोक समान हैं तथा एक श्लोक प्रियदर्शिका और रत्नावली में भी अभिन्न है। (३) इन तीनों नाटकों की शैली में भी पूर्ण साम्य है। अब प्रश्न यह होता है कि इनके वास्तविक रचयिता कौन थे। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में धन-प्राप्ति को काव्य का एक प्रयोजन माना है—'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'! कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ यह लगाया है कि धावक नामक किसी कवि ने रत्नावली आदि की रचना हर्ष के नाम से करके प्रचुर संपत्ति प्राप्त की। किन्तु इस किंवदन्ती के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इत्सिंग (६७१–६९५ ई०) ने अपने यात्रावर्णन में महाराज हर्ष को नागानन्द नाटक का रचयिता बतलाया है। दामोदरगुप्त (८०० ई०) ने अपने 'कुट्टनीमत' में किसी राजा द्वारा रचित रत्नावली नामक नाटिका का उल्लेख

किया है। इसके अतिरिक्त हर्ष स्वयं एक अच्छे कवि थे। बाण ने उनकी काव्य-चातुरी की प्रशंसा अपने 'हर्षचरित'१ में की है। जयदेव ने उन्हें 'कविताकामिनी का हर्ष' कहा है। सोड्ढल ने हर्ष को 'गीर्हर्ष'* की उपाधि से विभूषित किया है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन तीनों नाटकों की रचना हर्ष की लेखनी से ही हुई।

रचनाक्रम के अनुसार प्रियदर्शिका हर्ष की प्रथम रचना है। उनकी अन्य दो रचनाओं को देखते हुए इसमें उनको नाट्यकला का अपेक्षाकृत कम परिष्कार लक्षित होता है। रत्नावली हर्ष की दूसरी रचना है, क्योंकि यह अधिक परिष्कृत एवं कलापूर्ण है। नागानन्द नाटक यद्यपि रत्नावली के समान प्रौढ़ एवं परिमार्जित नहीं है, तथापि इसमें हर्ष के उत्तरार्ध जीवन के बौद्ध आदर्शों का निरूपण होने के कारण वह हर्ष की अन्तिम कृति मानी जानी चाहिए।

प्रियदर्शिका चार अङ्कों की एक नाटिका है। इसमें राजा वत्स के अन्तःपुर की प्रेमकहानी चित्रित है। उसमें तथा कालिदास के मालविकाग्निमित्र में पर्याप्त साम्य देख पड़ता है। राजा दृढवर्मा युद्ध में हार जाते हैं। उनकी कन्या प्रियदर्शिका दुर्घटना के कारण राजा वत्स के अन्तःपुर में पहुँच जाती है।

१—'काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तम्', 'विमलकपोलप्रतिबिम्बितां चामरग्राहिणीं विग्रहिणीमिव मुखवासिनीं सरस्वतीमादधानम्', 'अपि चास्य...प्रज्ञायाः शास्त्राणि कवित्वस्य वाचः···न पर्याप्तो विषयः.। (नि० सा० ९ स्करण पृष्ठ ७१, ७४, ७८)

*—श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु। गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥

वहाँ वह 'आरण्यका' नाम से रानी की दासी बन कर रहती है। वत्स उस पर मुग्ध हो जाते हैं। अन्तःपुर के रङ्गमञ्च पर वत्स और वासवदत्ता के विवाह का अभिनय होता है, जिसमें आरण्यका वासवदत्ता बनती है और वत्स स्वयं वत्स। प्रेम का अभिनय अभिनय न रह कर वास्तविक हो जाता है। रानी की ईर्ष्या के कारण आरण्यका राजा की दृष्टि से दूर हटा कर बन्दीगृह में डाल दी जाती है। अन्त में उसके राजकुलोत्पन्न होने का रहस्य प्रकट हो जाता है और राजा तथा प्रियदर्शिका के विवाह की अनुमति रानी स्वयं देती है।

हर्ष के अन्य नाटकों की भांति प्रियदर्शिका में उनके रचना-नैपुण्य तथा कल्पना-वैभव का परिपाक परिलक्षित नहीं होता। हर्ष को अपने कथानक का बीज बृहत्कथा से प्राप्त हुआ है, फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि उसके विकास में कवि ने अपनी कल्पना-चातुरी का यथेष्ट परिचय दिया है। अपनी प्रासादिक शैली, वस्तु-रचना की सरलता, अनेक रोचक घटनाओं एवं अवस्थाओं की सृष्टि तथा कतिपय उत्कृष्ट वर्णनों द्वारा हर्ष अपनी प्रियदर्शिका नाटिका को रोचक बनाने में सफल हुए हैं। तीसरे अंक में गर्भाङ्क नाटक प्रियदर्शिका की उल्लेखनीय विशेषता है। यह दृश्य कवि के नाट्यकौशल का सुन्दर उदाहरण है।

रत्नावली भी चार अंकों की नाटिका है। इसमें वत्सराज उदयन तथा उनकी रानी वासवदत्ता की परिचारिका सागरिका की रोचक प्रेमकहानी वर्णित है। नायिका वास्तव में सिंहल देश की राजकन्या रत्नावली है, जो दुर्घटनावश दासी का कार्य कर रही है। अंत में इस रहस्य का उद्घाटन होने पर नायक-नायिका का विवाह हो जाता है। रत्नावली में प्रधान रस शृङ्गार

है। नायक 'धीरललित' है। कथानक कौतूहल से परिपूर्ण है। घटनाएं नाटकीय ढङ्ग से घटित होती हैं। रत्नावली अभिनय की दृष्टि से भी सफल कृति है। वेष-विपर्यय का दृश्य बड़ा रोचक हुआ है। काव्य सौन्दर्य के साथ-साथ इसमें चरित्र-चित्रण भी विशद हुआ है। नाट्यशास्त्र के नियमों का इसमें पूर्णतया पालन हुआ है। धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में रत्नावली के अनेक पद्य उदाहरण रूप से उपस्थित किये हैं।

रत्नावली की शैली सरस एवं प्रसादपूर्ण है। दुरूहु शब्दों और कठिन समासों का प्रायः अभाव है। यद्यपि इस नाटिका में विलासमय प्रणय का रंगीन चित्रण किया गया है, किन्तु भारतीय मर्यादा की रक्षा भी की गई है। इसके कुछ पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे पाठक स्थालीपुलाकन्याय से हर्ष की शैली का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य अपनी प्रियतमा कमलिनी से विदा मांग रहे हैं—

यातोऽस्मि पद्मवदने समयो ममैष सुप्ता
मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥ ३।६

'कमलिनी के झुके हुए मस्तक पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हुए (अथवा, अस्ताचल के शिखर पर अपनी किरणें डालते हुए) सूर्य उसे सांत्वनायुक्त विश्वास दिला रहे हैं कि हे कमलमुखी, अब मैं जा रहा हूँ, मेरे जाने का समय हो गया है। किन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कल प्रातःकाल जब तुम सोती ही रहोगी मैं आकर तुम्हें जगाऊँगा।' अनुपम सुन्दरी रत्नावली की सृष्टि कर स्वयं ब्रह्मा को कितना आश्चर्य हुआ इसका वर्णन देखिए—

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विषः
चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः व्याहृतम् ।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ॥ २।१४

'जब ब्रह्माजी ने इस त्रैलोक्यसुन्दरी (रत्नावली) की सृष्टि की तब वे स्वयं अपनी विलक्षण कृति पर चकित हो उठे। वे अपने आसन के कमलों की पंखड़ियों की भी कान्ति को मात करने वाले अपने नेत्रों को फाड़-फाड़ कर इस अपूर्व कृति को देखने लगे। उनके चारों मुखों से एक साथ ही वाह! वाह!! की ध्वनि निकल पड़ी। विस्मय से उनके मस्तक हिलने लगे।' उद्यानलता को देख कर वत्सराज कह रहे हैं—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥ २।४

'अहा! देखो, इस उद्यानलता की कलियाँ कैसी चटक रही हैं, इसका वर्ण कैसा शुभ्र है, थोड़ी ही देर में यह खिलने वाली है, हवा के लगातार झोंकों से यह कैसी मतवाली होकर थिरक रही है! किन्तु इस उद्यानलता की ओर देखकर मैं आज अवश्य ही महारानी के मुखमण्डल को ईर्ष्याजन्य क्रोध से रक्तवर्ण करने का अपराधी समझा जाऊंगा, क्यों कि यह लता उस प्रेमातुर प्रमदा की भांति है जो अपने प्रिय से मिलने के लिये अत्यधिक उत्कण्ठित हो रही है, जिसका वर्ण विरह के कारण पीला पड़ गया है, जो विरहजन्य जागरण के कारण बार-बार जंभाई ले

रही है और जो निरन्तर दीर्घ निःश्वासों के कारण अत्यधिक विकल हो रही है।'

<u>नागानन्द</u> उपर्युक्त दोनों नाटिकाओं से सर्वथा भिन्न है। इसमें पांच अङ्क हैं। जीमूतवाहन नामक राजकुमार के आत्मत्याग का बौद्ध आख्यान इसमें वर्णित है। जीमूतवाहन एक विद्याधर राजकुमार है। राजा मित्रावसु की भगिनी मलयवती से उसका विवाह होता है। एक दिन मित्रावसु के साथ टहलते समय जीमूतवाहन हड्डियों का ढेर देखता है। उसे ज्ञात होता है कि दिव्य पक्षी गरुड़ को प्रतिदिन सांपों की भेंट चढ़ाई जाती है। यह उन्हीं मरे हुए सांपों की हड्डियों का ढेर है। वह निश्चय करता है कि मैं प्राणों का बलिदान करके भी इस हत्याकाण्ड को रोकूंगा। शंखचूड़ सर्प के बदले वह अपना बलिदान करता है। गौरी अपने प्रभाव से उसे पुनः जीवित करती है। अमृत की वर्षा से गरुड़ द्वारा मारे गये सारे सर्प भी जीवित हो उठते हैं। अन्त में गरुड़ भविष्य में उन्हें न मारने का वचन देता है।

नागानन्द पर बौद्धधर्म की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। नायक का मलयवती से प्रेम मुख्य कथा से असंबद्ध है। नाटकीय दृष्टि से नागानन्द सफल नहीं कहा जा सकता। प्राणियों के प्रति दया तथा आत्मोत्सर्ग की भावना का इस नाटक में सुन्दर निदर्शन हुआ है। भाषा तथा शैली हर्ष की अन्य कृतियों की भांति प्रसादपूर्ण एवं मनोहर है। जीमूतवाहन की मृत्यु पर उसके पिता शोक करते हैं—

निराधारं धैर्य, कमिव शरणं यातु विनयः ?
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह ? विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं, व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते ॥ ५।३१

'हे पुत्र, तुम्हारे स्वर्गवासी होने पर धैर्य बिना आधार का हो गया। विनय अब किसकी शरण में जाय ? क्षमा को अब कौन धारण करेगा ? दानशीलता अब उठ गई। सत्य सचमुच नष्ट हो गया। निस्सहाय करुणा अब कहाँ जाय ? तुम्हारे बिना यह संसार सूना हो गया।'

भवभूति

संस्कृत के महान् नाटककारों में भवभूति का नाम कालिदास के बाद ही लिया जाता है। उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में बहुत कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं। मम्मट (११०० ई०), धनञ्जय (६६५ ई०) और सोमदेव (६५६ ई०) ने अपनी रचनाओं में भवभूति के ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। राजशेखर (६०० ई०) अपने को भवभूति का अवतार बताते हैं—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥ बा०रा०१।१६

वामन (८००) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में भवभूतिकृत उत्तररामचरित के 'इयं गेहे लक्ष्मीः' (१।३८) इस पद्य को उद्धृत किया है। अतः भवभूति के स्थितिकाल की नीचे की सीमा ७५० ई० के लगभग सिद्ध होती है। दूसरी ओर बाण ने 'हर्षचरित' में भास, कालिदास जैसे प्रसिद्ध कवियों के साथ भवभूति का उल्लेख नहीं किया है। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था। अतः यह भवभूति के समय की ऊपरी सीमा है और वे ६५० से ७५० ई० के बीच में हुए होंगे।

कल्हण-कृत 'राजतरंगिणी' (११४८ ई०) से विदित होता है कि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम् ॥ ४।१४४

इसके पहले (४।१३४) कल्हण ने बतलाया है कि काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने इन्हीं यशोवर्मा को परास्त किया था। डॉ० स्टीन१ का मत है कि यह घटना ७३६ ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। 'राजतरंगिणी' के उक्त पद्य (४।१४४) में भवभूति के साथ वाक्पतिराज का भी नाम आया है। वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत काव्य 'गौडवहो' में यशोवर्मा का यशोगान किया है। इस काव्य के अधूरे होने से प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने अपने काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में प्रारम्भ की थी, किन्तु काश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा की पराजय होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। इसलिये 'गौडवहो' में वाक्पतिराज ने भवभूति की इस प्रकार प्रशंसा की है—

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥ ७९९

इस पद्य के 'अद्यापि' शब्द से प्रतीत होता है कि भवभूति वाक्पतिराज के पहले हुए थे और यशोवर्मा के राज्यकाल के पूर्वार्ध में उनकी प्रसिद्ध हो चुकी थी। इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भवभूति ७०० ई० के आसपास हुए थे।

भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपना कुछ परिचय दिया है। वे विदर्भ (बरार) देश के पद्मपुर नामक नगर

१—Stein's translation of राजतरंगिणी, p. 89 and his notes on IV. 134.

के निवासी थे। उनका जन्म एक उदुम्बरवंशी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इस वंश के ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा को मानने वाले, वेद-वेदांगों के ज्ञाता तथा सोमयज्ञ के करने वाले थे१। भवभूति के पांचवें पूर्वज का नाम महाकवि था, जो वाजपेय यज्ञ के करने वाले विद्वान् ब्राह्मण थे। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नीलकण्ठ और माता का जातुकर्णी था। उनका प्रारम्भिक नाम श्रीकण्ठ था। उनका भवभूति नाम क्यों पड़ा, इस विषय में कुछ लोग कहते हैं कि उन्होंने दो श्लोक लिखे थे जिनमें 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्र-मूर्तिः' अथवा 'गिरिजायाः कुचौ वन्दे, भवभूतिसितानतौ' यह पंक्ति थी। भवभूति-कृत मालतीमाधव की एक ४०० वर्ष प्राचीन हस्तलिखित प्रति में भवभूति को प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल (७०० ई०) का शिष्य बताया गया है और छठे अंक की पुष्पिका में उस शिष्य का नाम उम्बेकाचार्य बताया गया है। भवभूति के गुरु का नाम ज्ञाननिधि था, जो वास्तव में ज्ञान के भण्डार ही थे।

भवभूति के तीन नाटक उपलब्ध हैं—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। 'शाङ्र्गधरपद्धति' और 'रसिकजीवन' जैसे प्राचीन सूक्ति-संग्रहों में उनके नाम से कुछ ऐसे पद्य पाये जाते हैं, जो उनकी उपलब्ध कृतियों में नहीं मिलते। भवभूति के तीनों नाटकों का अभिनय, जैसा कि उनकी प्रस्तावना से मालूम पड़ता है, भगवान् कालप्रियनाथ के उत्सव पर हुआ था। विद्वानों की सम्मति में उज्जयिनी के महाकाल महादेव का ही दूसरा नाम कालप्रियनाथ है। महावीरचरित२

१—Keith: Bhavabhuti and the Veda. JRAS, July, 1914.

२—सूत्रधारः—'कविर्मित्रधेयमस्माकम्।'

तथा मालतीमाधव१ की प्रस्तावना से पता चलता है कि भवभूति की नटों से घनिष्ठ मित्रता थी, अतः यह स्पष्ट है कि भवभूति के नाटक अभिनय के ही लिये लिखे गये थे।

महावीरचरित भवभूति का प्रथम नाटक है। इसमें सात अङ्कों में रामायण के पूर्वार्ध—राम-विवाह, राम-वनवास, सीता-हरण और रामराज्याभिषेक—की कथा वर्णित है। आरम्भ से अन्त तक रावण राम के विनाश के लिये भाँति-भाँति के कुचक्र करता है। सीता के स्वयम्वर में रावण सीता की याचना के लिये दूत भेजता है, किन्तु राम शिवधनुष को तोड़ कर सीता का वरण कर लेते हैं। इस पराजय का बदला लेने के लिये रावण और उसका मन्त्री माल्यवान्, परशुराम को राम के विरुद्ध उसकाते हैं। परशुराम राम से युद्ध करते हैं, पर मुँह की खाते हैं। तब माल्यवान् सूर्पणखा को मंथरा के रूप में भेजता है। उस समय राम जनक के यहां मिथिला में थे। मंथरा रूपधारी शूर्पणखा कैकेयी का एक पत्र राम को देती है, जिसमें उन्हें चौदह वर्ष का वनवास दिया जाता है। माल्यवान ही बाली को भी राम से लड़ने के लिये प्रेरित करता है। रावण और मेघनाद के वध के पश्चात् लङ्का और अलकापुरी की अधिष्ठात्री देवियां परस्पर समवेदना प्रकट करती हैं।

महावीरचरित पर भास के अभिषेक नाटक तथा बालचरित का प्रभाव देख पड़ता है। इसमें कवि ने रामायण की कथा को रोचक नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर इस कृति में भवभूति की नाट्यकला का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है। लम्बे-लम्बे सम्वादों या वर्णनात्मक प्रसङ्गों के कारण इस

१—'निसर्गसौहृदेन भरतेषु वर्तमानः।'

नाटक में कई स्थलों पर घटनाओं की गति में अवरोध उत्पन्न हो गया है। पात्रों के चरित्र का उत्तरोत्तर विकास नहीं देख पड़ता। साथ ही इसमें मानव-हृदय का वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं और भाव-भाषा की वह उदात्तता नहीं जो उनके बाद के दो नाटकों में पाई जाती है। इसी कारण भण्डारकार महोदय ने इसे अरोचक और अपरूप कहा है। मालतीमाधव की प्रस्तावना में (१।८) भवभूति ने अपने आलोचकों के प्रति जो कठोर शब्द कहे हैं, उनसे जान पड़ता है कि महावीरचरित का उनके हाथों स्वागत नहीं हुआ था। फिर भी इसमें वीर रस का सुन्दर परिपोष हुआ है। शिवधनुष भङ्ग होने पर लक्ष्मण की कैसी दर्पपूर्ण उक्ति है—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिंडिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

'आर्य राम ने अपनी बलिष्ट भुजाओं से शिव के धनुष का भङ्ग कर दिया है। इससे जो भीषण टङ्कार-शब्द निकला है वह डंके की चोट से सारे संसार में मेरे ज्येष्ठ भ्राता के पराक्रम की घोषणा कर रहा है। उसकी भयावह ध्वनि से ब्रह्माण्ड के जो भाग ध्वस्त हो गये हैं, उनके खण्डहरों में गूंजती हुई उस भयानक टङ्कार की प्रतिध्वनि अब तक शान्त नहीं हो रही है।'

मालतीमाधव दस अङ्कों का एक 'प्रकरण' है। इसमें मालती और माधव के प्रेम और विवाह की कल्पना-प्रसूत कथा चित्रित है। पद्मावती–नरेश के मन्त्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह अपने बचपन के मित्र देवरात के पुत्र माधव के साथ करना चाहते हैं। इधर राजा का साला और सखा (नर्मसुहृद्)

नन्दन मालती से विवाह करना चाहता है। इसमें राजा, नन्दन का समर्थक है। माधव का साथी मकरन्द है और मालती की सखी मदयन्तिका (नन्दन की बहन) है। मालती और माधव दोनों एक शिव-मन्दिर में मिलते हैं। वहाँ मकरन्द मदयन्तिका की एक बाघ से रक्षा करता है और ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। इधर राजा, नन्दन और मालती का विवाह कराने पर तुले हुए हैं। माधव अपनी प्रेम-सिद्धि के लिये श्मशान में जाकर तंत्र की साधना करता है। वहां अघोरघण्ट और उसकी शिष्या कपालकुण्डला मालती को चामुण्डादेवी की बलि चढ़ाने वाले ही थे कि संयोगवश माधव वहाँ पहुँच जाता है और अघोरघण्ट को मारकर मालती को बचा लेता है। राजा की आज्ञा से मालती का विवाह नन्दन से होने जा रहा है। पर मकरन्द मालती का स्थान ले लेता है। उधर माधव और मालती भाग जाते हैं। वधूरूप में मकरन्द नन्दन को दुत्कार देता है। इस पर मदयन्तिका अपनी भाभी को उलाहना देने आती है, पर उसे अपना प्रेमी मकरन्द पाकर वह स्वयं उसके साथ भाग जाती है। इस भगदड़ में मालती को कपालकुण्डला चुरा ले जाती है। माधव अपनी प्रियतमा की खोज करता है। सौदामिनी की सहायात से उसे मालती मिल जात है और राजा की अनुमति से दोनों का विवाह हो जाता है।

मालतीमाधव की रचना भास के अविमारक नाटक से प्रभावित हुई जान पड़ती है। दोनों का कथानक लोक-कथाओं से लिया गया है तथा दोनों के प्राकृतिक चित्रण में शैली का साम्य देख पड़ता है। अविमारक की हाथी वाली घटना के आधार पर संभवतः मालतीमाधव की बाघ वाली घटना रची गई है और वियोगिनी के परामर्श से माधव की रक्षा विद्याधर के हाथों अविमारक की रक्षा का स्मरण दिलाती है।

महावीर-चरित की अपेक्षा मालतीमाधव में कवि की प्रतिभा का अधिक विकास देख पड़ता है। रोचक कथानक, यथार्थ एवं विशद चरित्र-चित्रण तथा सुन्दर भाषा के कारण वह आलोचकों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। पांचवें अंक का श्मशान-वर्णन तथा नवें अंक का वन-वर्णन भवभूति के प्रकृति-चित्रण-नैपुण्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भाषा तथा शैली में भी यथावसर सरलता एवं सजीवता का समावेश दर्शनीय है। पति-पत्नी के आदर्श सम्बन्ध का सुन्दर वर्णन देखिए—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥ ६।१८

'वत्स, तुम्हें यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि स्त्री के लिये उसका पति और पति के लिये उसकी विवाहिता पत्नी, दोनों एक दूसरे के लिये परमप्रिय मित्र हैं। यही सबसे बड़ा सम्बन्ध है, सारी इच्छाओं की पूर्णता है, सबसे बड़ी निधि है, अधिक क्या, स्वयं जीवन ही है।' प्रेम का प्रभाव माधव के लिये वर्णनातीत है—

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते॥ १।३०

'एक ऐसा मनोविकार, जिसकी व्याख्या असंभव है, जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, जिसे मैंने इस जन्म में पहले कभी अनुभव नहीं किया, जिसने मेरे विवेक को हर लिया है तथा जिसने मुझे महामोहान्धकार से ढक लिया है, मेरे अन्तःकरण को जड़ीभूत कर रहा है और संतप्त भी कर रहा है।'

उत्तररामचरित भवभूति का अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें कुल सात अंक हैं। इसमें कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—प्रथम अंक में रामराज्याभिषेक के अनन्तर जनक के चले जाने पर सीता उदास हो जाती हैं। राम उन्हें सांत्वना देते हैं। सीता के मनोविनोदार्थ राम, सीता और लक्ष्मण के साथ उन चित्रों को देखते है, जिनमें उनके पूर्व चरित्र अंकित हैं। सीता एक बार पुनः भगवती भागीरथी में अवगाहन करने की अभिलाषा प्रकट करती हैं। चित्र-दर्शन के श्रम से सीता थक कर सो जाती हैं। दुर्मुख नामक गुप्तचर सीता के चरित्र के सम्बन्ध में प्रचलित लोकापवाद की सूचना राम के कान में देता है। इस दुःसंवाद से राम को मर्मान्तक पीड़ा होती है, किन्तु कर्तव्य-पालन के लिये वे सीता का परित्याग करने को तैयार हो जाते हैं। भागीरथी-दर्शन की इच्छा सीता की थी ही। इसी इच्छा की पूर्ति के बहाने वह निर्वासित कर दी जाती हैं। बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर दूसरे अंक का आरम्भ होता है। इसमें आत्रेयी नामक तपस्विनी तथा वासन्ती नामक वनदेवता के संवाद से विदित होता है कि राम ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ कर दिया है। महर्षि वाल्मीकि एक देवी द्वारा सौंपे गये दो कुशाग्रबुद्धि सुन्दर बालकों का लालन-पालन कर रहे हैं। राम दण्डकारण्य में प्रवेश कर शूद्र-तपस्वी शंबूक का वध करते हैं। तीसरे अङ्क में तमसा और मुरला नदियां परस्पर संभाषण में बताती हैं कि सीता अपने जीवन का अन्त करने के लिये गङ्गा में कूद पड़ी थीं। वहीं जल में लव-कुश का जन्म हुआ। गङ्गा ने सीता की रक्षा की तथा उनके दोनों पुत्रों को वाल्मीकि के संरक्षण में सौंप दिया है। इसके बाद सीता छाया के रूप में प्रकट होती हैं। राम भी आते हैं, पर सीता को देख नहीं पाते। अपने पुराने

क्रीड़ास्थलों को देख जब राम मूर्छित हो जाते हैं तब सीता अपने स्पर्श से उन्हें चेतन करती हैं। सीता के शोक में राम प्रमुक्तकण्ठ हो करुण विलाप करते हैं। चौथे अङ्क में कौशल्या और जनक परस्पर सांत्वना प्रदान करते हैं। इसी समय वाल्मीकि-आश्रम के कुछ बालक खेलते-कूदते उनके पास आते हैं। इनमें एक (लव) विशेष कान्तिमान् है। वह राम के अश्वमेध के घोड़े को पकड़ लेता है। पांचवें अङ्क में यज्ञीय अश्व के रक्षक चन्द्रकेतु और लव में दर्पयुक्त कथोपकथन होता है, पर साथ ही दोनों में परस्पर अनुराग भी होता है। छठे अङ्क में दोनों वीरों के युद्ध का वर्णन एक विद्याधर और उसकी स्त्री के संवाद के रूप में किया गया है। राम के आगमन से युद्ध रुक जाता है। उनके हृदय में लव और कुश के प्रति स्नेह की भावना उमड़ पड़ती है, पर उन्हें यह नह ' ज्ञात कि वे उन्हीं की सन्तान हैं। सातवें अंक में एक दिव्य नाटक का अभिनय होता है। परित्यक्ता सीता गङ्गा में कूद पड़ती हैं। किन्तु एक एक शिशु को गोद में लेकर भागीरथी और पृथ्वी सीता को जल से बाहर ले प्रकट होती है। पृथ्वी राम की कठोरता की निन्दा करती हैं, गंगा उसका कारण बताती हैं। दोनों सीता को आदेश देती हैं कि तुम इन शिशुओं का तब तक पालन करो जब तक कि वे वाल्मीकि मुनि के संरक्षण में रखने योग्य बड़े न हो जायं। इस दृश्य को वास्तविक समझ राम शोकावेग से मूर्छित हो जाते हैं। सहसा अरुन्धती सीता को लेकर प्रकट होती हैं। सीता स्वामी की परिचर्या कर उन्हें स्वस्थ करती हैं। वाल्मीकि भी लव-कुश को समर्पित करते हैं। इस प्रकार नाटक का सुखद पर्यवसान होता है।

उत्तररामचरित का मूल आधार रामायण का उत्तरकाण्ड

है। पर भवभूति ने नाटकीय रूप देने के लिये मूल कथा में मौलिक परिवर्तन किये हैं। रामायण की कथा का अन्त शोक-पर्यवसायी है। उसमें अन्त में सीता पृथ्वी के गर्भ में समा जाती हैं। पर भारतीय नाट्यकला के आदर्शानुसार नाटक का दुःखान्त होना वर्जित है। अतः भवभूति अन्त में राम-सीता का मिलन कराकर नाटक को सुखान्त रूप देते हैं। भवभूति राम का लव-कुश से युद्ध कराकर अपने नायक का पराभव नहीं दिखाते। उन्होंने चन्द्रकेतु और लव में ही युद्ध कराया है। चित्रदर्शन-दृश्य, राम का वनदेवता वासन्ती से मिलन, दण्डकारण्य में छाया-सीता की उपस्थिति, वाल्मीकि-आश्रम में जनक, कौशल्या, वशिष्ठ, अरुन्धती आदि का आगमन तथा सातवें अङ्क का गर्भाङ्क नाटक ये सभी कवि की मौलिक कल्पनाएं हैं।

रामायण के अतिरिक्त पद्मपुराण के पातालखण्ड में तथा उत्तररामचरित के चौथे, पांचवें और छठे अंकों की घटनाओं में बहुत-कुछ साम्य पाया जाता है। इस आधार पर डा० बेलवेलकर का कथन है कि उत्तररामचरित कथा का मूल स्रोत पद्मपुराण है। किन्तु पुराणों में समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पद्मपुराण के उक्त पातालखण्ड की रचना भवभूति के पूर्व हो चुकी थी या नहीं।

उत्तररामचरित की नाटकीय विशेषताएं—

उत्तररामचरित सर्वसम्मति से भवभूति की कला का चूडान्त निदर्शन है—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'। उनकी उत्कृष्ट नाट्यकला को हृदयंगम करने के लिये उत्तररामचरित की किंचित् विस्तृत आलोचना करना आवश्यक है:—

प्रथम अङ्क की प्रस्तावना में ही कवि ने नट के मुख से 'सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति' यह कहला कर नाटक के सुखान्त होने की ओर संकेत किया है। इसी प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि प्रजाजनों में सीता के चरित्र के विषय में संदेह फैल रहा है। किन्तु इसके पहले कि राम इस प्रवाद को सुनें, कवि प्रेक्षकों को कुछ आवश्यक बातों से परिचित करा देता है—(१) राम स्वयं सीता के सच्चारित्र्य में पूर्ण विश्वास रखते हैं (१।१३)। (२) राम में लोकोत्तर कर्त्तव्य-परायणता की भावना वर्त्तमान है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ १।१२

(३) राम सद्यः राज्याभिषिक्त हुए हैं और वसिष्ठ का सन्देश (१।११) उन्हें प्रिय से प्रिय वस्तु का उत्सर्ग करने के लिये प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार कवि ने सीता-निर्वासन की घटना उपस्थित करने के पूर्व एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है, जिससे प्रेक्षकों के हृदय में राम के प्रति समवेदना तथा सीता के प्रति करुणा की भावना पूर्ण रूप से जाग उठे।

प्रथम अंक का चित्रदर्शन—दृश्य भी कवि के उक्त उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है। पत्नी का त्याग करने के पश्चात् राम किस प्रकार शोकाकुल हो जायंगे, इसका आभास हमें इसी दृश्य में मिलता है (१।३३)। इसके अतिरिक्त चित्रदर्शन के दृश्य में प्रायः उन सभी घटनाओं का बीजाङ्कुर देख पड़ता है, जिनका उत्तरोत्तर विकास आगे के अंकों में हुआ है।

द्वितीय एवं तृतीय अंक में राम पंचवटी जाते हैं। पंचवटी के पूर्व परिचित दृश्यों को देख उनकी वेदना तीव्र एवं प्रगाढ़ हो उठती है। अनेक आलोचकों का कहना है कि तृतीय अंक में

नाटकीय क्रियाशीलता स्थगित हो गई है; उसमें केवल करुण रस को अतिरंजित व्यंजनामात्र है। किन्तु वह धारणा सर्वथा निर्भ्रांत नहीं कही जा सकती। कारण यह है कि तृतीय अंक में बाह्य क्रियाशीलता नहीं, आंतरिक क्रियाशीलता है। भवभूति ने राम के नेत्रों से इतने आंसू व्यर्थ ही नहीं बहवाये हैं। सच पूछा जाय तो इन्हीं आंसुओं से राम और सीता के उस मिलन-वृक्ष की जड़ें सींची गई हैं, जिसकी सुखद छाया में अन्त में दर्शकों को अपूर्व विश्रान्ति मिलती है। इन्हीं आंसुओं से कवि ने सीता के परित्याग-जन्य परिताप का पूर्णतया प्रक्षालन किया है।

परित्याग के बाद सीता के हृदय में राम के प्रति क्षोभ और उदासीनता के भाव हैं। वह उनके लिये 'आर्यपुत्र' का प्रयोग न कर 'राजा' शब्द का प्रयोग करती हैं—'दिष्ट्या अपरिहीन-राजधर्मः खलु स राजा।' किन्तु राम की करुण अश्रुधारा में सीता का सारा क्षोभ धुल कर बह जाता है। सीता के हृदय में शनैः शनैः श्रद्धा और आत्मसमर्पण की भावना संचारित होती है। अन्त में वह स्वीकार करती हैं कि मेरे हृदय से 'परित्याग-लज्जाशल्य' निकल गया। इस परिसंधान की तीन अवस्थाएँ हैं—(१) राम को मूर्छित होते देख सीता उपचार के लिये दौड़ पड़ती हैं, पर शीघ्र ही लौट आती हैं (एतावदेवेदानीं मे बहुतरम्) और अपने को दैवाधीन मानने लगती हैं—'हा दैव ! एष मया विनाऽहमप्येतेन विनेति स्वप्नेऽपि केन संभावितमासीत'। कवि ताने सी को विश्वास करा दिया कि राम उन्हें भूले नहीं हैं। (२) दूसरी अवस्था में सीता कुछ और आगे बढ़ती हैं। जब वासन्ती राम को पत्नी के प्रति निर्दय होने का उपालम्भ देती है (३।२७), तब सीता स्वयं पति का पक्ष ग्रहण करती हैं। (३) अब एक और प्रति-क्रिया होती है। वासन्ती सीता-हरण की

चर्चा (३।४३) करती है। सीता तुरन्त त्रस्त होकर 'आर्यपुत्र! परित्रायस्व परित्रायस्व' चिल्ला उठती हैं; पर शीघ्र ही अपनी उद्भ्रांत अवस्था पर आश्चर्य प्रकट करती हैं। इसके बाद सीता को आश्वासन मिलता है कि राम का उनके प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम है कि वे द्वितीय विवाह भी नहीं करेंगे। दोनों हृदयों का आन्तरिक अनुसन्धान पूर्ण हो चुका। सीता श्रद्धावसिक्त होकर कहती हैं—'नमो नमोऽपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्यामार्यपुत्रचरण-कमलाभ्याम्।'

करुण रस के दीर्घ प्रवाह के अनन्तर चौथे अङ्क के अंत तथा पांचवें अङ्क की घटनाएं विविधता तथा रोचकता से पूर्ण हैं। पांचवें अङ्क में वीररस का चित्रण भी प्रभावोत्पादक है।

उत्तररामचरित में जहाँ तृतीय अङ्क में भावों का चरमोत्कर्ष देख पड़ता है, वहां छठे अङ्क में घटनाओं की सार्थकता तथा नाटकीय अवस्थाओं (situations) की परिणति देख पड़ती है। कवि ने द्वितीय अङ्क के विष्कम्भक से ही छठे अङ्क की भूमिका प्रारंभ कर दी है। वहीं अश्वमेध यज्ञ का सर्व प्रथम उल्लेख है। इसी प्रकार तीसरे अङ्क के अंत में राम पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटने का प्रयत्न करते हैं, जिससे यह सम्भावना होती है कि मार्ग में वे वाल्मीकि-आश्रम में भी जायंगे। इस प्रकार कवि ने छठे अङ्क में राम की उपस्थिति का कारण स्पष्ट कर दिया है साथ ही लव का अश्व को देख उसे पकड़ लेना तथा युद्ध का आरम्भ होना—सभी घटनाएं स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी प्रतीत होती हैं। प्रत्यभिज्ञान-दृश्य भी कुशलता से अङ्कित किया गया है। सातवें अङ्क का गर्भांक नाटक भी नाट्य-कला की दृष्टि से अद्भुत एवं अभूतपूर्व है। नाटक को सुखान्त बनाने में यह अङ्क विशेष रूप से सहायक है।

प्रथम और द्वितीय अङ्क के बीच बारह वर्ष का समय व्यतीत हो जाता है। भवभूति ने इस दीर्घकाल का आभास प्रेक्षकों को बड़े कौशल से—गोचररूप से—कराया है। राम देखते हैं कि पंचवटी में पहले जहाँ नदियों की धाराएं बहती थीं, वहाँ अब बड़े-बड़े रेतीले मैदान निकल आये हैं (२।२७), जिस मोर के बच्चे को पहले सीता ताली बजा-बजा कर नचाया करती थीं, वह अब बड़ा हो कर अपनी मयूरी के साथ क्रीड़ा करने लगा है (३।१६,१८) और जो हाथी का बच्चा अपने छोटे से सूँड़ से सीता के कानों से लवली-पल्लव निकाल लिया करता था, वह अब इतना बड़ा हो गया है कि बड़े-बड़े हाथियों को भी पछाड़ देता है (३।१५)। प्रकृति में ही नहीं मनुष्यों में भी प्रभूत परिवर्तन हो गया है। जनक ने राज-पाट त्यागकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया है। ऋष्यश्रृङ्ग का द्वादशवार्षिक सत्र भी समाप्त हो चुका है। किन्तु इस परिवर्त्तन के अनवरत प्रवाह में कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो स्थिर हैं। पर्वत जैसे के तैसे हैं (२।२७)। हरिण सीता को अब भी याद करते हैं (३।२०,२१)। वसिष्ठ और अरुन्धती रघुकुल के हितों की रक्षा में पूर्ववत् तत्पर हैं। राम के हृदय में सीता की स्मृति भी ज्यों की त्यों है (३।१४)।

उत्तररामचरित में विष्कम्भकों का प्रयोग भी बड़ी नाटकीय कुशलता से हुआ है। उनमें उन सभी आवश्यक घटनाओं की सूचना दे दी गई है जो कथा-सूत्र के निर्वाह के लिये अनिवार्य हैं। द्वितीय एवं चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक इस दृष्टि से पूर्ण सफल हैं। भवभूति ने 'नाटकीय सोत्प्रास' (dramatic irony) के भी कई सुन्दर उदाहरण उपस्थित किये हैं। जिस समय राम सीता के विषय में कहते हैं—'किमस्या न प्रेयो यदि

परमसह्यस्तु विरहः' (१।३८), उसी क्षण प्रतिहारी प्रवेश करके कहती है—'देव ! उपस्थितः।' राम भय-चकित होकर पूछते हैं—'अयि कः ?' इस पर वह उत्तर देती है—'आसन्न-परिचारिको देवस्य दुर्मुखः'। यहाँ 'उपस्थितः' शब्द के 'पताकास्थानक' से भावी घटनाओं की ओर कैसा सुन्दर संकेत उपस्थित हो गया है'। चौथे और पांचवें अङ्क तथा संपूर्ण प्रत्यभिज्ञान दृश्य में भी सोल्लास दर्शनीय है।

इस प्रकार उत्तररामचरित में एक सरल नाटक के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। हां, एक त्रुटि, जिसकी ओर अनेक आलोचकों ने निर्देश किया है, यह है कि इनमें वर्णनात्मक प्रसंगों का आधिक्य और घटनाओं की न्यूनता पाई जाती है। द्वितीय, तृतीय तथा पंचम अङ्कों में कथानक का प्रवाह अवरुद्ध सा हो गया है। एक आलोचक ने तो यहां तक कह डाला है कि यदि द्वितीय और पंचम अङ्क निकाल भी दिये जाय तो नाटक की कथावस्तु में कोई क्षति नहीं पहुँचेगी। वर्णनात्मक प्रसंगों के प्राचुर्य के कारण ही मेक्डॉनल महोदय उत्तररामचरित को नाटक कहने की अपेक्षा नाट्य-काव्य कहना अधिक संगत समझते हैं। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि उत्तररामचरित में बाह्य घटनाओं का घात-प्रतिघात गौण है और भावों का अन्तर्द्वन्द्व ही प्रधान है। भारतीय आलोचकों ने तो भवभूति को उत्कृष्ट कोटि का नाटककार माना है। धनपाल ने अपनी 'तिलकमंजरी' में भवभूति की नाट्यकला की इस प्रकार प्रशंसा की है—

स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना॥ ३०

भवभूति की शैली—संस्कृत भाषा पर भवभूति का असामान्य अधिकार था। उत्तररामचरित के आरम्भ में ही उन्होंने जो गर्वोक्ति की है—'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग् वश्येवानुवर्त्तते', वह अक्षरशः सत्य है। वास्तव में, भाषा एक दासी की भाँति उनके संकेत पर चलती है। भवभूति की शैली का विशेष गुण उनका समुचित शब्द-विन्यास है। उनका शब्द-शोधन अद्वितीय है। वे अवसर के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा तथा भावों में अनुपम सामंजस्य है। जो भवभूति भयंकर युद्ध-वर्णन के समय अथवा प्रकृति के प्रचण्ड और भैरव दृश्यों के चित्रण के समय लम्बे-लम्बे समास वाले ओजोगुणविशिष्ट क्लिष्ट पद्य[१] लिख सकते हैं, वही भवभूति ललित एवं सुकुमार भावों का वर्णन करते समय समासरहित सरल मधुर पदावली का प्रयोग[२] भी करते हैं। गौड़ी शैली के धुरन्धर आचार्य होते हुए भी वे वैदर्भी रीति के प्रयोग में पारंगत हैं। जब कभी वे हमारी अन्तर्भावनाओं को आन्दोलित कर किसी तीव्र मनोराग की व्यंजना करना चाहते हैं, तब वे सरल-सुगम शैली का ही आश्रय लेते हैं। एक नमूना देखिए। वासन्ती राम को सीता का परित्याग करने के कारण उपालम्भ दे रही है—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥ ३।२६

१—उ० च० २।९, २।१६, २।२९, ५।९, ५।१४, ६।१
२—उ० च० १।३६, २।४, ३।५, ३।२५, ४।११, ६।५

'हे देव, पहले तो आपने इस भोलीभाली (सीता) को ऐसे-ऐसे प्रियवाक्यों से फुसलाया कि—तुम प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों की चन्द्रिका हो और तुम्हारा गात्र-स्पर्श मेरे अङ्गों को अमृत के समान सुखदायक है; और बाद में हाय! उसी को आपने ....! अथवा जाने दीजिए, उसे कहने से लाभ ही क्या ?' वासन्ती के इस क्षोभपूर्ण उपालम्भ में अन्तर्गूढ़व्यथा का कैसा तीव्र दंशन है ! फिर भी पदावली कैसी सरल और प्रांजल है ! अन्तिम पंक्ति में तो कवि ने उसके मुख से कुछ भी न कहलाकर मानो सब कुछ कहला दिया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भवभूति का भाषा पर असामान्य अधिकार था। वे क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा के प्रयोग में समानरूप से कुशल थे। वे जिस सुगमता से 'कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः' जैसी समास-बहुल क्लिष्ट पदावली का प्रयोग कर सकते थे, उसी सुगमता से 'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे' जैसी सर्वथा समासरहित सरल पदावली का भी। कभी-कभी तो वे अपने इस भाषा-नैपुण्य का परिचय एक ही पद्य में देते हैं, जिसके पूर्वार्ध में कोमल भाव के प्रकाशन के लिये वैदर्भी रीति की सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है और उत्तरार्ध में वीरोल्लास की व्यंजना के लिये गौड़ी की गाढबन्धता रखी गई है—

यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम्।
झणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालोल्बणरसः॥ ५।२६

'जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमण्डल के उदय होने पर कुमुदिनी प्रमुदित हो उठती है, उसी प्रकार मेरे नेत्र इस (चन्द्रकेतु) को

देख कर हर्षोत्फुल्ल हो रहे हैं। फिर भी, यह मेरी भुजा युद्ध करने के लिये आतुर हो रही है, जिस (भुजा) ने भीषण टङ्कार और गुञ्जार करती हुई प्रत्यंचा से युक्त इस विशाल धनुष को प्रेमपूर्वक धारण कर रखा है और जो विकट एवं विकराल वीररस से ओत-प्रोत हो रही है।'

भवभूति ने अपनी शैली का आदर्श बताते हुए कहा है कि भाषा का प्रौढ़त्व, व्यंजनाप्रणाली का औदार्य तथा अर्थगौरव ही पाण्डित्य और वैदग्ध्य (कलात्मक प्रतिभा) के परिचायक हैं–

यत्प्रौढ़त्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ॥

भवभूति ने अपनी कृतियों में स्वयं इस आदर्श का पूर्णतया पालन भी किया है। इस कसौटी पर उनकी शैली खरी उतरती है। वास्तव में उनके नाटकों में भाषा की प्रौढ़ता, शब्दविन्यास की प्रांजलता, भावों की गरिमा, ये सभी गुण सर्वत्र समान रूप से परिलक्षित होते हैं। अतः यह निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि भवभूति की शैली में पाण्डित्य और प्रतिभा इन दोनों का अपूर्व मणिकांचन संयोग हुआ है।

भवभूति की रचनाओं में काव्य-कला का भावपक्ष ही प्रधान है और विभावपक्ष गौण। मानवीय मनोभावों के विश्लेषण और मार्मिक चित्रण में भवभूति अद्वितीय हैं। किसी राग या मनोविकार का चित्रण करते समय वे कालिदास के समान उपमा आदि अलंकारों का आश्रय नहीं लेते, वरन् अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में उसकी गूढ़ से गूढ़ दशा का बड़ा ही सूक्ष्म और ब्यौरेवार वर्णन उपस्थित कर देते हैं। चित्रदर्शन के दृश्य में सीताहरण का चित्र देख कर राम की व्यथा पुनः जागृत हो उठती है, पर वे उसे किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक दबा

देते हैं, इसका कवि ने लक्ष्मण द्वारा कैसा हृदयग्राही वर्णन कराया है—

अयं ते वाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ॥ १।२६

'आपका यह अश्रुप्रवाह, मोतियों की टूटी लड़ी की भांति, अनेक धाराओं में टपटप गिरता हुआ पृथ्वी पर पहुँच कर बिखर रहा है। बरबस दबाये जाने पर भी आपके हृदय का यह भरा हुआ उद्वेग, आपके फड़कते हुए ओठों तथा नासापुटों द्वारा, दूसरों को सहज ही सूचित हो रहा है।'

भवभूति किसी भावविशेष अथवा अवस्थाविशेष का ऐसा सजीव और क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत कर देते हैं कि एक चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के वर्णनों में काव्यालंकारों का अभाव भले ही हो, फिर भी वे अत्यन्त प्रभावोत्पादक होते हैं। एक नमूना देखिए। राम सीता को वनवास के मधुर दिनों की याद दिला रहे हैं—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥ १।२७

'(इस गोदावरी के तट पर) हम दोनों जब विश्राम करते समय कपोल से कपोल सटाकर तथा परस्पर एक दूसरे की भुजाओं के आलिङ्गन में बद्ध होकर धीमे स्वर में इधर-उधर की बातें किया करते थे, तब रात्रि के प्रहर कब बीत जाते थे, इसका हम लोगों को पता ही नहीं चलता था'।

भवभूति भावों की इतनी गहराई तक पहुँचते हैं कि वे कभी-कभी अनेक भावों का एक साथ ही पंचामृत उपस्थित कर देते हैं। बारह वर्ष के दीर्घ वियोग के बाद दण्डकारण्य में अपने प्राणवल्लभ राम का साक्षात्कार कर सीता के हृदय में एक साथ ही कितने प्रकार के भावों का संचार हो रहा है, इसका अपूर्व चित्रण देखिए—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥ ३।१३

तमसा सीता से कह रही हैं—'हे बेटी, इस समय तुम्हारा हृदय पुनः समागम की आशा न रह जाने से उपेक्षामय, अकारण परित्याग से विषादपूर्ण, दीर्घ वियोग में अचानक भेंट हो जाने से नितान्त स्तब्ध, राम के सहज सौजन्य से प्रसन्न, प्रिय के विलापों के कारण अत्यन्त शोकाकुल तथा निरतिशय प्रेम के कारण सर्वथा द्रवीभूत सा हो रहा है।' यहाँ पर कवि ने किस कौशल से एक के बाद दूसरे भाव का क्रमशः उदय और लय दिखलाया है।

भवभूति की विशद वर्णनाशक्ति अद्भुत है। वे प्रवाहयुक्त शोभा[1] के साथ वर्णन कर सकते हैं और मार्मिक वेग[2] के साथ भी। वे बाल्यावस्था की मुग्धकारिणी सरलता (१।२०, ४।४), किशोरावस्था की सहज चपलता (४।२६), यौवन की उद्दाम किन्तु मर्यादित शृङ्गार-भावना (४।३५) तथा प्रौढ़त्व एवं वार्धक्य की स्नेहपूर्ण वात्सल्यवृत्ति (४।१६; ६।२२) का बड़ा ही

१—उ० ६।२५, २—उ०५।३३

सरस एवं हृदयग्राही वर्णन करते हैं। अनेक रसों के वर्णन में भवभूति सिद्धहस्त हैं। महावीरचरित में वीर रस का और मालतीमाधव में शृङ्गाररस का सजीव चित्रण हुआ है। करुणरस की मार्मिक अभिव्यक्ति उत्तररामचरित में की गई है। अनेक रसों का सुन्दर समन्वय एक ही पद्य में कर देना भवभूति की विशेषता है, जैसे भयानक और वीभत्स का (२।१६), अद्भुत और वीर का (५।६) तथा शृङ्गार और करुण का (१।२४)। पुरुषसौंदर्य का वर्णन भवभूति ने अनेक स्थलों[1] पर किया है। कुश के पौरुषातिरेक का वर्णन देखिए—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानः वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव॥ ६।१६

'इसकी दृष्टि तीनों लोकों की सारभूत शक्ति को तृणवत् समझ रही है। इसकी धीर और उद्धत चाल मानो पृथ्वी को कंपा रही है। बालक होने पर भी इसमें पर्वत की सी गरिमा है। यह मूर्तिमान् वीररस चला आ रहा है अथवा साक्षात् दर्प ही ?'

भवभूति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे परम्पराभुक्त प्रणाली का अनुसरण न कर नई-नई मौलिक कल्पनाओं की उद्भावना करते हैं। गज-विहार का एक रोचक चित्र देखिए—

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तयः।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुनः
यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम्॥ ३।१६

'देखो, इस हाथी ने पहले तो सहज ही अपने सूंड़ से कमलनालों को उखाड़-उखाड़ कर और उनके छोटे-छोटे टुकड़ों को कौर

१—उ० च० ३।२२; ५।२, ११, ३६, ६।२०

बनाकर इस (हथिनी) को खिलाये। फिर खिले हुए कमलपुष्पों से सुवासित इस तालाब के स्वच्छ जल को अपने सूंड़ में भर-भर कर उसके मुंह में डाला। उसके बाद सूंड़ से जलकणों के फौवारे निकाल कर उसके शरीर पर भरपूर छिड़काव किया। अन्त में अत्यन्त प्रेमपूर्वक अपनी प्रियतमा के मस्तक के ऊपर एक सीधी नाल वाले कमल के चौड़े से पत्ते का छाता भी तान दिया।' इस प्रकार भवभूति ने पशु-जगत् में भी शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम की कैसी सुन्दर झांकी दिखाई है। भवभूति ने पशुओं के कई सुन्दर चित्र[१] उपस्थित किये हैं और उन्हें मानव भावनाओं से समन्वित[२] दिखाया है।

भवभूति अपने पद्यों में अर्थ के अनुकूल ध्वनि पैदा करने में विशेष कुशल हैं। उनके शब्दों में वर्ण्यवस्तु की झंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है। तूफान का भयावह दृश्य उपस्थित करते समय[३], रणक्षेत्र के भीषण दृश्यों का चित्रण करते समय[४] अथवा श्मशान का वीभत्स दृश्य प्रस्तुत करते समय[५], उनकी पदावली अपनी नादात्मक प्रतिध्वनि से ही उन दृश्यों के स्वरूप का आभास देती है। पर्वत की पाषाणमयी कन्दराओं से प्रवाहित होती हुई गोदावरी-धारा का ध्वनि-चित्र देखिए—'एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयः।' (२।३०)

भवभूति ने छन्दों के प्रयोग में भी बड़ी प्रवीणता दिखाई है। वे कभी तो मसृण अथवा विकट वर्णों के विन्यास-कौशल से और कभी छन्द की नादात्मक गति से ही भाव की व्यंजना कर देते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य को पढ़िए, जिसमें

१—उ० ३।१५,१९ २—उ० ३।१६,१८,२०,२१ ३—मा०मा० ९।१७

४—उ० ५।६; ६।१ ५—'उत्कृत्योत्कृत्य०'-मा० मा० अङ्क ५

राम के मनस्ताप की उत्तरोत्तर वृद्धि का चित्रण कैसे छन्दःकौशल के द्वारा किया गया है—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहःस्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥ ३।३८

'हा देवि ! तुम्हारे विरह में मेरा हृदय फटा जाता है। शरीर टुकड़े-टुकड़े हो रहा है। संसार मेरे लिये शून्य-सा हो रहा है। मैं भीतर ही भीतर विरह-ज्वाला में जला जा रहा हूँ। मेरा विकल अन्तस्तल गाढ़ान्धकार में धँसा जा रहा है। चारों ओर से मूर्छाजनक मोह घेर रहा है। हाय ! मैं मन्दभागी अब क्या करूँ ?' छन्दों में 'शिखरिणी' के प्रयोग में भवभूति अद्वितीय माने जाते हैं। क्षेमेन्द्र ने भवभूति की शिखरिणी की बड़ी प्रशंसा की है —

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी ।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥ सुवृत्ततिलक ३।३३

भवभूति अपने पात्रों के मुख से तदनुरूप भाषा का ही प्रयोग कराते हैं। वाल्मीकि-शिष्य लव की भाषा (५।३१) उसकी धार्मिक शिक्षा तथा आश्रम-वास का परिचय देती है। जनक और तपस्विगण अपने शब्दों द्वारा अपने दार्शनिक ज्ञान का आभास देते हैं। तमसा आदि नदियाँ अपनी बातचीत में ऐसी ही उपमाएं देती हैं जिनका सम्बन्ध जल से है (३।४७)।

भवभूति ने अलङ्कारों का प्रयोग एक कलाकार की भाँति किया है। उन्होंने मौलिक उपमाओं का आविर्भाव किया है। हृदय-कुसुम को सुखाने वाला दीर्घ शोक, जानकी के, डाल

से तोड़े गये कोमल किसलय के समान, पीले शरीर को उसी भाँति सुखा रहा है जैसे शरत्काल की कड़ी धूप केवड़े के अन्दर की कोमल पंखुड़ियों को (३।५)। रावण द्वारा अपहरण की जाने वाली सीता मेघ के बीच छटपटाती हुई विद्युत् के समान है (३।४३)। कुश की मधुर मांसल कंठध्वनि से राम का शरीर उसी प्रकार पुलकित हो उठता है जैसे नये नीले बादलों के गम्भीर गर्जन से कदम्ब का पुष्प खिल जाता है (६।१७)। उपमा-प्रयोग में भवभूति की यह विशेषता है कि वे द्रव्य की उपमा किसी गुण से देते हैं अथवा मूर्त वस्तु की उपमा किसी अमूर्त भाव से। विरहविधुरा जानकी करुणरस की साक्षात् मूर्ति है अथवा मूर्तिमती विरहव्यथा ही (३।४)।

भवभूति की गद्य-शैली का एक उदाहरण देखिए। सीता राम के चित्र का वर्णन कर रही हैं—'अहो दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणमांसलेन देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसौम्यसुन्दरश्रीरनादरखण्डितशंकरशरासनः शिखण्डमुग्धमुखमंडल आर्यपुत्र आलिखितः।'—'अहा, प्रस्फुटित नूतन नील कमल के समान श्यामल, स्निग्ध, मसृण (चिकने), शोभायुक्त और मांसल (गठीले) शरीर से युक्त यह कैसा अवर्णनीय सौन्दर्य है! आकार सौम्य एवं सुन्दर है, मुखमण्डल भोलेपन से भरा और काकपक्ष की भांति कटे हुए केशों से कमनीय है। आर्यपुत्र की ओर पिता जी (जनक) विस्मयपूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। आर्यपुत्र ने अनायास ही शङ्कर के धनुष को तोड़ डाला है। अहा! आर्यपुत्र की कैसी मनोरम मूर्ति इस चित्र में अङ्कित है।

भवभूति कहीं-कहीं व्यङ्ग का बड़ा मार्मिक प्रयोग करते हैं। प्रथम अङ्क में राम को 'नूतन राजा' कहा गया है जो कोई भी (सीता-निर्वासन का भी) आदेश दे सकते हैं, जिसके पालन

में 'ननु-नच' की आवश्यकता नहीं। तृतीय अङ्क में राम का विशेषण 'रघुनन्दन' है, जिससे यह संकेत है कि वे अपने वंश की ही चिन्ता करते हैं। चौथे अङ्क में हमें 'प्रजापालकस्य' मिलता है, न कि 'प्रियापालकस्य'। यहाँ पर राम द्वारा अपनी निर्दोष लक्ष्मीसम भार्या के परित्याग की ओर व्यङ्गात्मक संकेत है। लव की राम के प्रति क्या ही अनूठी व्यङ्गोक्ति है—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यपराङ्मुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥ ५।३५

'श्रीरामचन्द्र जी वयोवृद्ध हैं। अतः उनके चरित्र की आलोचना उचित नहीं। उनके विषय में क्या कहा जाय? सुन्द की अबला स्त्री (ताड़का) को मार कर भी उनके धवल यश में बट्टा नहीं लगा और वे संसार में अब भी महापुरुष माने जाते है; खर राक्षस से युद्ध करते समय वे जो तीन डग पीछे हटे थे अथवा इन्द्र के पुत्र (बाली) को मारने में उन्होंने जिस कौशल का आश्रय लिया था, उन सभी बातों से सारा संसार भली-भाँति परिचित है।'

भवभूति की गम्भीर शैली में हास्य के लिये विशेष अवकाश नहीं था। फिर भी अपने नाटकों में उन्होंने जहां कहीं हास्य की अवतारणा की है, वहां उनका हास्य बड़ा ही संयत, शिष्ट एवं परिष्कृत रुचि का परिचायक हुआ है। उनका गम्भीर हास्य स्मित की सीमा का उल्लङ्घन नहीं करता—हृदय में एक कोमल गुदगुदी सी पैदा करके अपने वैदग्ध्य मात्र से मुग्ध कर देता है। उनका हास्य 'विकृताङ्गवचोवेशैः' प्रणाली से उत्पन्न न होकर

बौद्धिक विनोद पर अवलम्बित रहता है। उनके शिष्ट हास्य के कुछ उदाहरण देखिए। सीता चित्र में उर्मिला की ओर संकेत करके लक्ष्मण से विनोद करती हैं—'वत्स इयमपरा का ?', किन्तु यह परिहास भी सीता की मातृत्व-भावना के सर्वथा अनुकूल है। चौथे अङ्क के विष्कम्भक में दाण्डायन और सौधातकि की बातचीत भी विनोदपूर्ण हुई है। वाल्मीकि के आश्रम में रहने वाले बालकों ने पहले-पहल घोड़े को देख कर जो उसका परिचयात्मक वर्णन किया है वह भी कम हास्यजनक नहीं (४।२७)।

भवभूति व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि शास्त्रों के प्रकांड पण्डित थे (पदवाक्यप्रमाणज्ञः)। उन्होंने उत्तररामचरित में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अमरकोश तक में नहीं मिलते, जैसे 'आकूत' (५।३५), 'उत्पीड' (।६), 'कन्दल' (३।११), 'कुम्भीनस' (२।२६), 'प्रचलाकिन' (२।२६), 'प्रतिसूर्यक' (२।१६) आदि। उनके नाटकों में अनेक स्थलों पर उनके वैदिक ज्ञान का भी परिचय मिलता है। भवभूति ने कुछ वाक्यों की वैदिक शैली में रचना भी की है, जैसे—'परं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। अयं त्वापुनातु देवः परोरजा य एष तपति।' (उ० च० अङ्क ४)

भवभूति शब्दों, पदों और समग्र श्लोकों को अपनी कृतियों में प्रायः दुहराते हैं। उत्तररामचरित में कम से कम १७ श्लोक हैं जो महावीरचरित या मालतीमाधव में प्रयुक्त हो चुके हैं। भवभूति चुने हुए शब्दों में भाव-प्रकाशन के स्थान पर विस्तार से भावों का प्रदर्शन करते हैं। उनमें वाच्य अर्थ की प्रधानता है। वे पर्याप्त कहने पर भी रुक नहीं सकते। वे हृदय की व्यथा को अत्यधिक व्यक्त करके उसे किंचित् अतिरञ्जित कर देते है।

विलाप-वर्णनन में तथा युद्ध-वर्णन में उनका विपुल वाग्विलास कुछ लोगों को खटकता है। फिर भी भवभूति की काव्यधारा एक अवर्णनीय रसानन्द का संचार करती है—'तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते।'

भवभूति का प्रकृति-वर्णन—भवभूति की शैली में उनके संश्लिष्ट एवं चित्रोपम प्रकृति-वर्णन का भी प्रमुख स्थान है। प्रकृति के प्रति उनका अनन्त अनुराग था। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उन्होंने आलम्बन के रूप में ही किया है, उद्दीपन के रूप में नहीं। उनका जन्म विदर्भ प्रान्त में हुआ था, अतः वहाँ के कान्तारमय भीषण प्राकृतिक दृश्यों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि प्रकृति-वर्णन करते समय भवभूति की दृष्टि प्रकृति के सामान्य, चिर-परिचित, सीधे-सादे प्रशान्त एवं मधुर दृश्यों की ओर न रह कर उसके असाधारण, प्रचण्ड और घोर दृश्यों की ओर ही अधिकतर रहती है। अपने तीनों नाटकों[१] में उन्होंने प्रकृति के प्रभावोत्पादक दृश्यों का स्थान-स्थान पर विशद वर्णन किया है। दण्डकारण्य की भीषणता देखिए—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥ २।१६

'इस भीषण वन में कहीं बिलकुल सन्नाटा छाया हुआ है और कहीं हिंस्र पशुओं की प्रचण्ड गर्जना सुनाई पड़ती है, कहीं

१—मा० मा० ९।१६; म० च० ७।१०

स्वेच्छापूर्वक सोये हुए, गम्भीर फूत्कार करने वाले सर्पों के निःश्वासों से प्रज्वलित होकर आग लग गई है, कहीं गड्ढों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है और कहीं प्यास के मारे विह्वल कृकलास (गिरगिट) अजगर के शरीर का पसीना पी रहे हैं।' भवभूति के प्रकृति-वर्णन जितने विशद होते हैं उतने ही सूक्ष्म एवं यथार्थ भी। दोपहर की भीषण गर्मी के समय गोदावरी के किनारे का दृश्य देखिए—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभि:
धर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुला: कूले कुलायद्रुमा:॥२।६

'गोदावरी के तट पर स्थित वृक्षों के तनों से जब बड़े-बड़े हाथी अपनी खुजली मिटाने के लिये अपने कपोलस्थलों को रगड़ते हैं तब ये वृक्ष हिल पड़ते हैं, जिससे धूप से कुम्हलाये हुए उनके शिथिल-वृन्त पुष्प गोदावरी के जल में चू पड़ते हैं, मानो ये वृक्ष इस प्रकार भगवती गोदावरी की पूजा कर रहे हों। इन वृक्षों के घोंसलों में बैठे हुए दोपहरी की भीषण उष्णता से त्रस्त और विकल पक्षी कूज रहे हैं। कहीं-कहीं इन वृक्षों की शाखाओं पर छाया में बैठे हुए कुछ जङ्गली पक्षी अपनी चोंचों से छालों को कुरेद-कुरेद कर कीड़ों को निकाल कर खा रहे हैं।'

भवभूति ने प्रकृति के घोर और भयावह दृश्यों का ही चित्रण नहीं किया है, कभी-कभी वे प्रकृति के रम्य रूपों का भी उद्घाटन करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वे इन रम्य रूपों पर अपनी कल्पना का पुट चढ़ा कर उन्हें रंगीन नहीं बनाते, अपितु उनकी नैसर्गिक नग्न सुषमा का ही यथावत् चित्रण करते हैं। बहते हुए पहाड़ी झरनों का एक सुन्दर दृश्य देखिए—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥२।२०

'देखो, ये झरने बह रहे हैं। इनके किनारे बेंत की कुंजों में बैठे मधुरकण्ठ वाले पक्षी कलरव कर रहे हैं। इन कुंजों की छाया झरनों के प्रवाह पर पड़ रही है। कुंजों के फूल गिर-गिर कर झरनों के जल को सुगन्धित बना रहे हैं। जब ये झरने पके हुए काले फलों के गुच्छों से लदी जामुन की सघन शाखाओं से टकरा कर प्रवाहित होते हैं तब अनेक धाराओं में फूट पड़ते हैं।' कैसा स्वाभाविक और बिम्बग्राही चित्रण है! ऐसे संश्लिष्ट रूपयोजनात्मक चित्रण संस्कृत साहित्य में बहुत कम मिलते हैं। सच पूछा जाय तो भवभूति प्रकृति-देवी के अनन्य उपासक थे। उन्होंने प्रकृति से आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया था। तभी तो उनकी वन-देवी (वासन्ती) और नदियाँ भी मूर्तिमती हो साक्षात् सजीव प्राणियों का सा आचरण करती हैं (३।२)। भवभूति की दृष्टि में वन के पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी हमारे सखा और स्नेही स्वजन हैं—'यत्रद्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे' (३।६)। अतः उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण सर्वथा मौलिक और प्रभावोत्पादक है।

करुण रस के आचार्य भवभूति—करुण-रस के क्षेत्र में महाकवि भवभूति की समानता करने वाला अन्य कोई कवि नहीं है—'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'। भवभूति के करुण-रस की प्रशंसा करते हुए श्री गोवर्धनाचार्य अपनी 'आर्यासप्तशती' में कहते हैं—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥ आ० स० १।३६

'भवभूति (कवि भवभूति अथवा शिव) के सम्बन्ध से सरस्वती भी शैलाधिराजतनया पार्वती के समान शोभित हो रही है। क्योंकि जब यह (भवभूति की वाणी अथवा पार्वती) करुणभाव की व्यंजना (अथवा विलाप) करने लगती है तब औरों की तो बात ही क्या, पत्थर भी रो पड़ते हैं।' गोवर्धनाचार्य की इस प्रशंसात्मक सूक्ति में उत्तररामचरित की इस लोकप्रसिद्ध पंक्ति—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' (१।२८) की ओर कैसा सुन्दर संकेत हुआ है!

उत्तररामचरित भवभूति का करुणरस-प्रधान नाटक है। इसमें करुण-रस की अपूर्व व्यंजना हुई है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के नियमानुसार किसी संस्कृत नाटक का प्रधानभूत रस शृंगार या वीर ही होना चाहिए और इसी रूढ़ि के अनुसार कुछ विद्वान् उत्तररामचरित को विप्रलंभ शृङ्गार के अन्तर्गत घसीटने का व्यर्थ प्रयास भी करते हैं, तथापि वास्तविक बात यह है कि भवभूति ने इस पुरानी पड़ी रूढ़ि की उपेक्षा कर एक अभिनव आदर्श की सृष्टि की। उन्होंने उत्तर-चरित में 'करुण' को ही प्रधानता दी। करुण-रस के व्यापक और स्थायी प्रभाव को भवभूति भली-भांति जानते थे। वे तो यहां तक कहते हैं कि और सब रस करुण-रस के ही रूपान्तर हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।
आवर्त्त बुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अंभो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम् ॥ ३।४७

'करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस है। जिस प्रकार एक ही (समुद्र का) जल कभी भंवर के रूप को, कभी बुद्‌बुद (बबूले) के रूप को और कभी तरंगों के रूप को धारण कर लेता है, किन्तु वास्तव में है सब जल ही, उसी प्रकार निमित्तभेद से अर्थात् रस-सामग्री (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भाव) के वैलक्षण्य मात्र से एक ही करुण रस और रसों के रूप को धारण कर लेता है।'

यह श्लोक समस्त उत्तररामचरित नाटक का मानो बीजमन्त्र है। वास्तव में देखा जाय तो उत्तररामचरित के सारे अङ्क स्पष्ट रूप से या प्रकारान्तर से प्रेक्षकों के हृदय में कारुण्य का ही संचार करते हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही हम देखते हैं कि राम, जनक के चले जाने पर खिन्नचित्त सीता को सान्त्वना दे रहे हैं'१। चित्र-दर्शन के समय भी राम और सीता अपने अतीत के दुःखों का स्मरण कर जिस परितोष का अनुभव करते हैं२ वह हृदयस्पर्शी करुणरस से पूर्णतया सिक्त है। पंचवटी का चित्र देख कर राम और सीता दोनों अपने वियोग का अनायास स्मरण कर विकल हो उठते हैं३। इस चित्र-दर्शन वाले दृश्य में हम पति-पत्नी के उस प्रगाढ़ अनुराग का भी दर्शन करते हैं४, जो निकट भविष्य में आने वाले शोक की गरिमा को और भी असह्य बना देता है! आघात उसी समय होता है जब राम प्रणय के निर्भर भाव में तल्लीन हो जाते हैं और क्लान्त, कातर, पतिप्राण सीता पति की अभय-दान करने वाली भुजा पर ही सो जाती हैं। आनन्द-मधु का प्याला राम के ओठों तक आया ही था५ कि निष्ठुर विधि ने उसे छीन कर फेंक दिया६।

१—१।७, ८ २—१।२४-२७ ३—१।२८-३०, ३३
४—१।१८, २०, ३४, ३६, ३७ ५—१।३८, ३९ ६—१०४

दूसरे अङ्क में राम अपने चिर-परिचित दण्डकारण्य एवं पंचवटी प्रदेश में प्रवेश करते हैं। इन्हीं वनों में सीता के साथ अनुभूत अपने अतीत सौख्यों को स्मरण कर राम की व्यथा उमड़ आती है—

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
घनीभूतः शोको विकलयति मां मूर्छयति च ॥२।२६

'मेरा यह घनीभूत शोक विष के समान बहुत दिनों के बाद आज अचानक उभड़ कर सारे शरीर में व्याप्त हो रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि हृदय में गड़े हुए शल्य को किसी ने जोर से धक्का देकर हिला दिया है। मेरे हृदय के मर्मस्थल का जो घाव भर रहा था वह मानो आज फिर से दरक कर फूट पड़ा है। यह दारुण शोक मुझे विकल कर रहा है, मैं मूर्छित हुआ जा रहा हूँ।'

तृतीय अङ्क तो करुण रस का मानो अगाध सागर ही है। करुण रस की जैसी तीव्र, गम्भीर एवं मर्मस्पर्शिनी व्यंजना इसमें हुई है वैसी शायद ही कहीं और हुई हो। इस अङ्क में भवभूति की वाणी वास्तव में 'करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी' ही हो उठी है।

चौथे अङ्क में जनक और कौशल्या एक ओर भूतकाल की सुखद स्मृतियों को याद करते हैं[१], दूसरी ओर सीता को मृत मान कर विलाप करते हैं[२]। ब्रह्मज्ञानी जनक और राम-जननी कौशल्या को इस प्रकार प्राकृत मनुष्यों की भाँति शोकाभिभूत

१—४।१३, १४, १७ २—४।३, २३

देख कर प्रेक्षकों के हृदय में स्वभावतः उनके प्रति हार्दिक समवेदना जागृत हो उठती है। लव को देख कर जनक अपनी पुत्री सीता के अङ्गलावण्य का स्मरण कर दुःखी ही होते हैं[१]।

पांचवें अङ्क में चन्द्रकेतु और उनके सारथी सुमन्त्र लव को देख कर रघुकुल के किसी अज्ञातवंशज की कल्पना करते हैं[२], पर सीता का स्मरण कर इस आशा को दुराशा मान शोक का अनुभव करते हैं[३]। लक्ष्मण पुत्र चन्द्रकेतु तथा रामतनय लव एक दूसरे को न जानते हुए परस्पर युद्ध करते हैं, यह घटना ही क्या कम करुणोत्पादक है ?

छठे अङ्क में राम लव-कुश से मिल कर अपूर्व वात्सल्य का अनुभव करते हैं[४], पर उनकी आकृति में सीता के सौन्दर्य की झांकी कर[५] तथा निर्वासन के समय सीता की गर्भभरालसा अवस्था का स्मरण कर वे शोकाभिभूत हो जाते हैं[६]। राम की यह करुणोक्ति कितनी हृदयस्पर्शी है—

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥ ६।३८

'प्रिय का अनवरत ध्यान करते-करते प्रिय की मूर्ति मानो आंखों के सामने स्थापित हो जाती है, इस प्रकार वियोग में भी वह आश्वासन प्रदान करता ही है। किन्तु ज्योंही उसकी कल्पित मूर्ति ध्यान से हट जाती है, त्योंही यह सारा संसार एक सुनसान

१—४।२१, २२ २—५।३, ४ ३—५।२०, २५
४—६।१७, २१, २२ ५—६।२६, २७ ६—६।२८

जङ्गल के समान लगने लगता है और हृदय मानो धधकते हुए अंगारों पर रख दिया जाता है।'

सातवें अङ्क में सीता और राम का पुनर्मिलन होता है, किन्तु इस मिलन के मूल में भी 'सीता-निर्वासन' का वह करुण अभिनय है जिसे देख कर राम 'क्षुभितबाष्पोत्पीडनिर्भर' होकर अनेक बार मूर्छित हो जाते हैं। सच पूछा जाय तो यह सातवां अङ्क तीसरे अङ्क का ही नैसर्गिक चरमोत्कर्ष है। उसमें एक अपूर्व भावगांभीर्य है और करुण की ही सुखद मधुर परिणति है।

भवभूति का करुण-रस अत्यन्त गम्भीर और मर्मस्पर्शी है। वह उस 'पुटपाक' के समान है जिसके अन्दर तीव्र अन्तर्वेदना प्रज्वलित हो रही है। यह वेदना हृदय के मर्मस्थल में अनी की तरह चुभ कर दारुण यन्त्रणा तो उत्पन्न करती है, किन्तु कभी अमर्यादित उद्वेग या अनर्गल प्रलाप का रूप नहीं धारण करती१। यही इसका गाम्भीर्य है—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥ ३।१

हां, यह अवश्य है कि इस अन्तर्गूढ़ व्यथा की तीव्रता या आधिक्य का आभास कराने के लिये कवि विलाप अथवा मूर्छादशा का बार-बार चित्रण करता है। वह जानता है कि शोकातिरेक की दशा में जी भर कर रो लेने से ही हृदय हलका होता है—तालाब के लबालब भर जाने पर नालियों द्वारा बाढ़ के जल को बहा देने में ही कुशल है—'पुरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।' (३।२९)

१—उ० च० ३।३५

करुणभाव की व्यंजना में भवभूति की भावुकता मुखरित हो उठी है। वे इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि गहरे शोक के प्रकाशन के लिये अल्प शब्दों की ही आवश्यकता होती है। वे विस्तार-पूर्वक हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म और कोमल से कोमल अन्तर्दशा का मार्मिक उद्घाटन करते हैं। पूर्वानुभूत पवित्र दाम्पत्य-प्रेम का एक कोमल चित्र देखिए, जिसकी स्मृति राम के शोक में और अधिक दंशन उत्पन्न कर देती है—

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः॥ ३।३७

वासन्ती राम को स्मरण दिलाती हुई कहती है—'हे देव! देखिए यह वही लतागृह है जिसके द्वार पर खड़े-खड़े आप सीता की बाट जोह रहे थे और सीता गोदावरी के तट पर देर तक हंसों के साथ क्रीड़ा करती हुई मनोविनोद कर रही थीं। थोड़ी देर बाद जब लौट कर सीता ने आपको उदास देखा तो अत्यन्त कातरभाव से उन्होंने कमल की कलियों के समान अपनी उंगलियों को जोड़ कर (विलम्ब के लिये क्षमा-याचना करते हुए) आपको प्रणाम किया था!' इस सुकुमार प्रसङ्ग की स्मृति से राम और सीता दोनों का शोक और अधिक उद्दीप्त हो उठता है। सीता वासन्ती को मन ही मन कोसती हुई कहती है—'दारुणाऽसि वासन्ति, दारुणाऽसि या एतैर्हृदयमर्मगूढशल्यसंघट्टनैः पुनः पुनरपि मां मन्दभागिनीमार्यपुत्रं च संतापयसि।'

जिस पञ्चवटी के प्रकृति-रमणीय प्रदेश में राम ने सीता के साथ जीवन के चौदह वर्ष व्यतीत किये थे, उस प्रदेश में पहुंच

कर यदि उनकी अन्तर्गूढ़ व्यथा एक बारगी भड़क उठे तो उसमें आश्चर्य ही क्या ? वहां के वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, मृग, आदि सभी तो जानकी के साहचर्य से संबद्ध और स्मृति से संयुक्त थे। फिर ऐसे स्थल पर राम का शोक-सन्तप्त हृदय क्यों न पिघल उठे ?—

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पैस्तरु-
शकुनिकुरंगान् मैथिली यानपुष्यत्।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्यः॥ ३।२५

ऐसी परिस्थिति में यदि पंचवटी की प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक दृश्य में राम को सीता की स्पष्ट छाया देख पड़े[१] अथवा उनके पुलककारी स्पर्श की अनुभूति हो तो क्या यह मनोविज्ञान के साहचर्य-सिद्धान्त (Law of Association) के सर्वथा अनुकूल नहीं ? सच पूछिए तो इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर भवभूति ने छाया-सीता की कल्पना की तथा तृतीय अङ्क का नाम छाया अंक रखा। भले ही कुछ कट्टर यथार्थवादी भवभूति की इस कल्पना को अतिमानुषिक या अलौकिक मानें, किन्तु जो लोग मनोविज्ञान के रहस्य को भली-भांति समझते हैं वे भवभूति की प्रतिभा की प्रशंसा ही करेंगे।

अतः भवभूति ने उत्तरचरित में जो करुणरस की मन्दाकिनी प्रवाहित की है वह वास्तव में संस्कृत साहित्य की एक अभूतपूर्व एवं अमूल्य निधि है। इस मन्दाकिनी की अविरल धारा में सीता का परित्याग-जन्य मालिन्य सदा के लिये धुल जाता है और दो हृदयों का सच्चा अनुसंधान हो जाता है। भवभूति के

१—रामः—अयि चण्डि जानकि! इतस्ततो दृश्यसे नानुकम्पसे (उ० च० अङ्क ३)

करुणरस का ही यह प्रभाव है कि जड़ भी चेतन और चेतन भी जड़ हो जाते हैं—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्याः हसतः स्म स्तनावपि ॥

आदर्श प्रेम के मर्मज्ञ भवभूति—प्रेम के सम्बन्ध में भवभूति का आदर्श अत्युच्च और महान् है। उन्होंने अपने नाटकों में विशुद्ध प्रेम का ही चित्रण किया है। प्रेम के वर्णन में भवभूति कभी कामुकता के स्तर पर नहीं उतरते। वे यौवन की रोमांचकारी अवस्थाओं का चित्रण तो करते हैं[१], किन्तु कभी कामलिप्सा की ओर संकेत नहीं करते। वे सर्वत्र अपना उदात्त गांभीर्य स्थिर रखते हैं।

प्रेम की व्याख्या करते हुए भवभूति कहते हैं कि प्रेम सौन्दर्य आदि बाह्य कारणों पर अवलम्बित नहीं—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु र्न
खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुंडरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥ ६।१२

'कोई आन्तरिक अनिर्वाच्य कारण ही पदार्थों या प्राणियों में प्रीति-संयोग स्थापित करता है। प्रेम कभी बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं होता। देखो न, सूर्य के उदय होने पर ही कमल खिलता है और चन्द्रमा उदय होने पर ही चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूति होती है।' कोई बता सकता है कि ऐसा क्यों होता है? भवभूति कहते हैं 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्षश्च इति विप्रतिषिद्ध-

१—उ० च० १।२७

मेतत्'—प्रेम हो और फिर वह किसी कारण पर आश्रित हो, ये दोनों बातें एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। प्रेम तो अकारण, स्वतःप्रेरित और अनिर्वाच्य होता है। प्रेम का रहस्य तो केवल हृदय ही जानता है—'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्।' (६।३२)

भवभूति के अनुसार प्रेम की ज्योति सुख के समीर में तथा दुःख की आँधियों में समान रूप से जला करती है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥ १।४०

'शुद्ध प्रेम जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में एक रस रहता है। हृदय को उसमें एक अनिर्वचनीय सुख और शान्ति की अनुभूति होती है। अवस्था का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वार्धक्य के कारण उसकी सरसता में कोई कमी नहीं आती। कुछ दिनों के बाद जब संकोच या दुराव का भाव दूर हो जाता है, तब वह और भी अधिक परिपक्व एवं प्रगाढ़ हो जाता है। ऐसे कल्याणकारी पवित्र दाम्पत्य-प्रेम की प्राप्ति बड़े भाग्य से ही किसी को होती है।' अपने इसी उदात्त एवं निःस्वार्थ प्रेमभाव की व्याख्या करते हुए भवभूति कहते हैं कि प्रिय चाहे प्रेमी के लिये कुछ भी न करे किन्तु प्रेमी के लिये वह एक अमूल्य निधि है। प्रिय के सान्निध्य मात्र से प्रेमी का सारा दुःख दूर हो जाता है—

अकिंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥ ६।५

भवभूति ने जिस दाम्पत्य-प्रणय का चित्रण किया है वह दुग्ध के समान धवल और गंगाजल के समान पवित्र है—

'स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः।'

इस कथन द्वारा उन्होंने दाम्पत्य-प्रणय की इसी धवलता और पवित्रता की ओर संकेत किया है। क्या मालती-माधव और क्या उत्तर-चरित दोनों में दाम्पत्य-प्रेम का उन्होंने उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है। दाम्पत्य-प्रणय की परिणति संतान की प्राप्ति में है, इस बात को परिपादित करते हुए वे कहते हैं—

अन्तःकरणतत्त्वस्य दंपत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्य इति बध्यते ॥ ३।१७

'सन्तान ही पति और पत्नी के स्नेहसिक्त हृदयों को एक सूत्र में बांधने वाली आनन्दमयी ग्रन्थि है।'

प्रेम–सम्बन्धी अपने उच्च आदर्श के कारण ही भवभूति ने अपने नाटक में विदूषक की अवतारणा नहीं की है। उनका प्रेम किसी विलासी नृपति की प्रणय-लीला या कामुक की कामक्रीड़ा नहीं है, जिसमें विदूषक की सहायता की आवश्यकता हो। विदूषक का उद्देश्य तो प्रायः नायक को परकीया की प्राप्ति में सहायता पहुँचाना होता है। फिर भला भवभूति की उदात्त एवं पावन प्रणय-कल्पना में विदूषक को कैसे स्थान मिल सकता था ?

भवभूति और कालिदास—संस्कृति नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में यदि कविकुलगुरु कालिदास के समकक्ष गिने जाने का गौरव किसी को प्राप्त है तो महाकवि भवभूति को ही। कुछ विद्वानों की तो यहां तक धारणा है कि उत्तर रामचरित में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गये हैं—'उत्तरे रामचरिते

भवभूति र्विशिष्यते।' कालिदास और भवभूति इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इस प्रश्न को लेकर हमारे प्राचीन पंडित समाज में एक रोचक विवाद उठ खड़ा हुआ था, जैसा कि इस प्रचलित पद्य से पता चलता है—

कवयः कालिदासाद्या भवभूति महाकविः।
तरवः पारिजाताद्याः स्नुहीवृक्षो महातरुः॥

भवभूति के समर्थक कहते थे—'कालिदास आदि तो केवल कवि हैं, किन्तु हमारे भवभूति महाकवि हैं।' इस पर कालिदास के प्रशंसक यह मुँहतोड़ उत्तर देते कि 'ठीक है, स्वर्ग के पारिजात आदि भी तो केवल वृक्ष ही हैं; हां, स्नुहीवृक्ष (सेंहुड़) अवश्य 'महावृक्ष' है।' (आयुर्वेद में सेंहुड़ नामक कटीले वृक्ष को महातरु कहते हैं)।

भवभूति और कालिदास की कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि भवभूति पर कालिदास का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। भवभूति ने कहीं-कहीं कालिदास के भावों से प्रेरणा भी प्राप्त की है। उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क के चित्रदर्शन दृश्य की कल्पना स्वप्नवासवदत्त के चित्रदर्शन दृश्य से अथवा रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक से ली गई जान पड़ती है—

तयो र्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥१४।२५

'संसार के समस्त अभीष्ट सुखों का उपभोग करने वाले राम और सीता जब अपनी चित्रशाला में बैठ कर अपने अतीत जीवन के उन चित्रों का अवलोकन करते थे जिनमें दण्डकारण्य की दुःखद घटनाओं का चित्रण किया गया था, तब चिन्तन के क्षेत्र में आ जाने के कारण वे पूर्वानुभूत दुःख भी एक अपूर्व सुख की सृष्टि

करते थे।' इसी प्रकार उत्तरचरित के छठे अङ्क में राम और लव-कुश के अज्ञात मिलन की कल्पना शाकुन्तल के सातवें अङ्क में दुष्यन्त और भरत के अज्ञात मिलन से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। सीता की छायारूप में कल्पना करने का संकेत संभवतः शाकुन्तल के छठे अङ्क से मिला होगा, जहाँ सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप से ही दुष्यन्त की विरहदशा का अवलोकन करती है। मालतीमाधव के नवें अङ्क तथा विक्रमोर्वशीय के चौथे अङ्क में भी पर्याप्त साम्य है। इसी प्रकार विरही माधव अपनी प्रेमिका मालती के पास मेघ द्वारा जो सन्देश भेजता है उसमें भी भाव, भाषा, छन्द—सभी दृष्टियों से मेघदूत का प्रत्यक्ष प्रभाव देख पड़ता है।

कालिदास और भवभूति दोनों ही संस्कृत के शीर्षस्थानीय नाटककार हैं। दोनों महाकवि अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। दोनों की कलात्मक विशेषताओं में अन्तर है। कालिदास की कविता में व्यंजनावृत्ति की प्रधानता है, तो भवभूति की वाणी में वाच्यार्थ की प्रगल्भता। कालिदास थोड़े से चुने हुए शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं तो भवभूति विपुल वाग्विस्तार द्वारा किसी भाव का विशद वर्णन करते हैं। कालिदास बहुत-कुछ अपने पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं तो भवभूति सब कुछ स्वयं ही कह देते हैं। एक उदाहरण लीजिए। दुष्यन्त शकुन्तला को देख कर कहते हैं—'अये लब्धं नेत्र-निर्वाणम्।' 'अहा, मेरे नेत्रों को निर्वाण (मोक्ष अर्थात् परमानन्द) मिल गया। उधर भवभूति का माधव मालती को देख कर तथा उसकी स्नेहनिष्यन्दिनी धवल दृष्टि में स्नान कर कहता है—

अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण नद्धः स्नपित इव च दुग्धस्रोतसा निर्भरेण।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन प्रसभममृतवर्षेणेव सान्द्रेण सिक्तः॥

'श्वेत कमलों की माला ने मानो मुझे सिर से पैर तक ढक लिया है। दूध की अविरल धारा से मानो मुझे स्नान कराया जा रहा है। कानों तक फैले हुए मालती के विशाल सतृष्ण नेत्र मानो मुझे पी रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मुझ पर अमृत की सघन वर्षा हो रही है।'

अतः जहाँ कालिदास संकेत मात्र करते हैं वहां भवभूति विस्तृत वर्णन करते हैं, कालिदास की रचना-प्रणाली सरल और आडम्बरशून्य है, पर भवभूति की वचनभंगी प्रायः प्रौढ़ और दीर्घ-समास-संकुल है। कालिदास की भाषा मसृण और कोमल है, भवभूति की प्रायः प्रगल्भ और उदात्त। दोनों कवियों की उपमा-प्रयोग–प्रणाली भी भिन्न है। कालिदास अधिकतर मूर्त्त को उपमा मूर्त्त से देते हैं, भवभूति बहुधा मूर्त्त की अमूर्त्त से। कालिदास वल्कलधारिणी शकुन्तला की उपमा सिवार में लिपटे कमल पुष्प से देते हैं तो भवभूति सीता की तुलना मूर्तिमती करुणा या विरहव्यथा से करते हैं।

कालिदास ने प्रायः प्रकृति के ललित एवं कोमल पहलू पर ही दृष्टि डाली है। भवभूति ने प्रकृति के प्रचंड एवं घोर पक्ष को अपनाया है। कालिदास शृङ्गार-रस के क्षेत्र में अद्वितीय हैं तो भवभूति करुण रस के क्षेत्र में अप्रतिम हैं। कलिदास ने नारी के बाह्य-सौन्दर्य का रमणीय वर्णन किया है तो भवभूति ने उसके अन्तःसौन्दर्य का उद्घाटन किया है। कालिदास की दृष्टि में यदि नारी 'श्रोणीभारादलसगमना' और 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' है, तो भवभूति की कल्पना में वह 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्ति र्नयनयोः' है। कालिदास की कला में नैसर्गिकता है तो भवभूति की कला में आदर्श। कालिदास में सजीवता है तो भवभूति में गांभीर्य।

भारतीय नाट्य-साहित्य के इन दोनों अमर कलाकारों की कृतियों की तुलना करते हुए स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय महोदय लिखते हैं—'विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंगक्रीड़ा में, भाषा के गांभीर्य में और हृदय के महात्म्य में उत्तररामचरित श्रेष्ठ है और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानव-चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में अभिज्ञानशाकुन्तल श्रेष्ठ है। संस्कृत साहित्य में ये दोनों नाटक अद्वितीय हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तल शरद् ऋतु की पूर्ण चांदनी है, उत्तररामचरित नक्षत्र-खचित नील आकाश है। एक व्यंजन है, दूसरा हविष्यान्न है, एक वसन्त है, दूसरा वर्षा है। एक नृत्य है दूसरा अश्रु है। एक उपभोग है, दूसरा पूजन है।'

विशाखदत्त

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस के कर्ता विशाखदत्त अथवा विशाखदेव का समय निर्धारित करने के लिये बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त होती है। वे सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज पृथु के पुत्र थे[१]। किन्तु इन व्यक्तियों के संबन्ध में और कुछ पता नहीं चलता। मुद्राराक्षस के अन्तिम श्लोक में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः', 'पार्थिवो दन्तिवर्मा', 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' इत्यादि पाठ मिलते हैं। पहले पाठ के आधार पर प्रो० शारदा-रंजन राय[२] का कहना है कि मुद्राराक्षस में विशाखदत्त ने गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) की ओर संकेत किया है। वे अपने नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल का चित्रण कर प्रकारान्तर से अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त

१—Keith: *Sanskrit Drama* p. 204.
२—S. Ray's Introduction to his edition of मुद्राराक्षस pp. 9—14.

विक्रमादित्य की प्रशंसा करते हैं। मुद्राराक्षस का घटनास्थल पाटलीपुत्र है, जो उस समय एक समृद्ध नगर रहा होगा। फाहियान ने पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बतलाया है! ह्वेनसांग ने उसे भग्नावशेष पाया१। इसके अतिरिक्त मुद्राराक्षस में जो बौद्धधर्म की ओर संकेत (७।५) है उससे प्रतीत होता है कि उस समय बौद्ध-धर्म का अभ्युदय-काल था। यह दशा फाहियान के भारत आने के समय थी। इन प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वान् मुद्राराक्षस को पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ की रचना मानते हैं।

दूसरे ('पार्थिवो दन्तिवर्मा') पाठ के आधार पर मुद्राराक्षस की रचना पल्लवराजो दन्तिवर्मा (७७९–८३० ई०) के समय में मानी जा सकती है२। किन्तु दक्षिण में हूणों (जिनका मु० रा० में स्पष्ट उल्लेख है) का आतंक नहीं फैला था, अतः यह मत मान्य नहीं हो सकता।

तेलंग३ महोदय तीसरे पाठ (पार्थिवोऽवन्तिवर्मा) को प्रामाणिक मानते हैं। उनके मतानुसार ये अवन्तिवर्मा, राजा हर्ष (६०६–६४८ ई०) के बहनोई ग्रहवर्मा के पिता मौखरि राजा अवन्तिवर्मा थे। इस मत के अनुसार मुद्राराक्षस की रचना सातवीं शताब्दी में हुई। मेकडॉनल४ तथा रैप्सन५ इसी मत को स्वीकार करते हैं।

१—Elphinstone's *History of India* p. 292.

२—M. Krishnamachariar: *Hist. of Cl. Skt. Lit.* p. 605 foot note 3.

३—Telang's Introduction to his edition of मुद्राराक्षस

४—Macdonell: *Skt. Lit.* p. 365.

५—JRAS. 1900 p. 535.

जेकॉबी[१] (Jacobi) की सम्मति में अवन्तिवर्मा से अभिप्राय इसी नाम के काश्मीर के राजा से है, जिनका राज्यकाल ८५५-८८३ ई० था। जेकॉबी के मतानुसार मुद्राराक्षस में जिस चन्द्रग्रहण का उल्लेख हुआ है (१।३), वह २ दिसम्बर, ८६० ई० को पड़ा था। उनकी धारणा है कि अवन्तिवर्मा के मंत्री 'शूर' ने इसी अवसर पर मुद्राराक्षस का अभिनय कराया था। किन्तु इस विचित्र धारणा के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध होता।

मुद्राराक्षस का कथानक ऐतिहासिक है। अतः उसका रचना-काल निर्धारित करने के लिये तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं की भी समीक्षा करना चाहिए। इस समीक्षा के आधार पर ध्रुव महोदय[२] 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' पाठ अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनके मतानुसार ये अवन्तिवर्मा कन्नौज के मौखरि राजा थे, जिनकी सहायता से स्थाण्वीश्वर के महाराज प्रभाकर-वर्धन ने हूणों को परास्त किया था। यह घटना ५८२ ई० के आसपास की है। म्लेच्छों की इस महान् पराजय के उपलक्ष्य में विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की और इस पराजय का संकेत उन्होंने अपनी कृति (७।१८) में किया भी है। अतएव मुद्राराक्षस की रचना छठी शताब्दी के अन्त में मानी जा सकती है।

उक्त समय की पुष्टि विशाखदत्त के 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक से भी होती है, जिसके कुछ अंश हाल में उपलब्ध हुए हैं। इस नाटक में ध्रुवदेवी (अथवा ध्रुवस्वामिनी) के चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शत्रु के पंजे से मुक्त किये जाने की घटना वर्णित है। इस

१—*Vienna Oriental Journal* ii. pp. 212 ff.
२—His edn. of मु० रा०, pp. viii-x.

नाटक से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के बाद उनके पुत्र रामगुप्त सम्राट बने थे। इस कायर राजा ने समकालीन शक-नरेश के आक्रमण के भय से सन्धि के रूप में अपनी रूपवती रानी ध्रुवदेवी को उसे समर्पित कर देने का वचन दिया था। किन्तु उसके छोटे भाई कुमार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने रानी का वेश बना एक अप्रत्याशित कूटनीतिक चाल से शकपति को मार डाला। बाद में चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त को मार कर गुप्त साम्राज्य हस्तगत कर लिया और ध्रुवदेवी से, जो उनके अतिशय साहस के कारण उन पर अनुरक्त थी, विवाह कर लिया। यह ध्रुवदेवी कुमारगुप्त की माता हुई। यह संभव नहीं जान पड़ता कि विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्त' की—एक ऐसे नाटक की जिसमें चन्द्रगुप्त अपने भाई को मार कर उसकी रानी से विवाह कर लेते हैं—रचना चन्द्रगुप्त अथवा कुमारगुप्त के राज्यकाल में की होगी। ऐसी स्थिति में 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' पाठ ही अधिक संगत जान पड़ता है। इस प्रकार 'देवी चन्द्रगुप्त' के उपलब्ध अंशों के आधार पर विशाखदत्त का समय छठी शताब्दी ही प्रतीत होता है।[१]

सुभाषित-ग्रन्थों में दिये गये उद्धरणों से पता चलता है कि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस और देवीचन्द्रगुप्त के अतिरिक्त राघवानन्द नामक और एक नाटक की रचना की थी, पर यह कृति अब उपलब्ध नहीं है[२]।

१—Winternitz: 'Historical Dramas in Sanskrit Literature' Krishnaswamy Aiyangar Com. Vol. p. 360.

२—K. H. Dhruva in the *Poona Orientalist*, Oct. 1936, p. 42.

मुद्राराक्षस जैसे ऐतिहासिक-राजनीतिक नाटक पर भास के प्रतिज्ञा यौगन्धरायण का प्रभाव देख पड़ता है। चाणक्य और यौगन्धरायण में बहुत कुछ साम्य है। चन्दनदास और उसके पुत्र के अन्तिम मिलन का करुण दृश्य उरुभंग के दुर्योधन और दुर्जय के मिलन के ही समान है।

मुद्राराक्षस समग्र संस्कृत साहित्य में अपने ढङ्ग का एक ही नाटक है। यद्यपि इसकी रचना नाट्यशास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल नहीं हुई है, फिर भी यह एक अनूठा और बेजोड़ नाटक है। संस्कृत के अन्य नाटकों की भांति रस-प्रधान न होकर यह एक शुद्ध घटना-प्रधान नाटक है। राजनीति की कुटिल चालों और कूटनीति के दांवपेंचों का इसमें बड़ा ही सजीव और सफल चित्रण हुआ है। इसके कथानक का केन्द्रबिन्दु नन्दवंश का महामात्य 'राक्षस' है जिसकी योग्यता और स्वामिभक्ति से प्रभावित होकर चाणक्य चाहता है कि यह किसी प्रकार चन्द्रगुप्त का मंत्री होना स्वीकार कर ले। चाणक्य यह भलीभांति जानता है कि यदि राक्षस जैसा राजनीति-धुरन्धर एवं स्वामिभक्त व्यक्ति चन्द्रगुप्त का प्रधान मंत्री बनना स्वीकार कर ले, तो चन्द्रगुप्त का राज्य अटल हो जायगा। बस, इसी लक्ष्य को लेकर चाणक्य और राक्षस के बीच जो राजनीतिक चालों की चोटें चली हैं, उन्हीं का इस नाटक के घटना-चक्र में रोचक चित्रण हुआ है।

मृच्छकटिक की भाँति मुद्राराक्षस में भी घटनाओं का वास्तविक एवं सजीव चित्रण हुआ है। उसमें घटनाओं की एकाग्रता दर्शनीय है। यह सत्य है कि मुद्राराक्षस में भवभूति की प्रगाढ़ करुणा अथवा कालिदास की रमणीय सुकुमारता के दर्शन नहीं होते, किन्तु इसमें जिस पौरुष, उत्साह एवं ऊर्जस्विता का चित्रण हुआ है, वह इस घटना-प्रधान नाटक के सर्वथा

अनुरूप है। अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में विशाखदत्त ने विशेष कौशल दिखाया है। वे नाटक के पात्रों को इस तुलनात्मक ढङ्ग से चित्रित करते हैं कि उनकी विशेषताएं बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं। चाणक्य और राक्षस का तुलनात्मक चित्रण पूर्ण सफल हुआ है। चाणक्य यदि स्थिरचित्त, प्रतिक्षण जागरूक, कठोर, 'शाठ्यनीति'—निपुण और कभी न झुकनेवाला है, तो राक्षस अस्थिरचित्त, विस्मरणशील, उदारहृदय, सज्जन और अन्त में झुक जाने वाला है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, भागुरायण और सिद्धार्थक, निपुणक और विराधगुप्त, वैहीनरि और जाजलि आदि पात्रों का सुन्दर तुलनात्मक चित्रण किया गया है।

संस्कृत नाट्य-कला की दृष्टि से मुद्राराक्षस में कई मौलिक नवीनताएं भी देख पड़ती हैं। भास और कालिदास के नाटकों में अंक का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है। उनमें मुख्य पात्र अंक के आरम्भ से लेकर अंत तक रंगमंच पर रहते हैं। पर मुद्राराक्षस में अंक का दृश्यों में विभाजन स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, तृतीय अंक में अनेक दृश्य-परिवर्तनों का स्पष्ट आभास मिलता है। मुद्राराक्षस में स्त्री-पात्रों का एक प्रकार से सर्वथा अभाव है। केवल एक स्थल पर (अंक ७) चन्दनदास की पत्नी वध्यस्थल के दृश्य में रंगमंच पर आती है। विषकन्या का भी केवल उल्लेख ही हुआ है। मुद्राराक्षस में शृङ्गार रस का भी नितान्त अभाव है। हां, एकाध स्थल पर राजनीति विषयों का शृङ्गारिक चित्रण अवश्य उपलब्ध होता है[१]। कुछ विद्वानों के मतानुसार मुद्राराक्षस वीररस-प्रधान नाटक है। किन्तु यह मत मुद्राराक्षस पर नाट्यशास्त्र के नियमों को घटाने का एक

१—२।१२

असफल प्रयास मात्र जान पड़ता है। वस्तुतः, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुद्राराक्षस रसप्रधान न होकर एक शुद्ध घटना-प्रधान नाटक है। इसी प्रकार इस नाटक का नायक चाणक्य है अथवा चन्द्रगुप्त, इस प्रश्न पर विद्वानों में काफी मतभेद है। नाट्यशास्त्र के नियमों की रूढ़ि का अनुसरण करने वाले विद्वान् चन्द्रगुप्त को भले ही नायक मानें, किन्तु निष्पक्षदृष्टि से विचार करने पर चाणक्य ही इस घटना-प्रधान नाटक का नायक प्रतीत होता है, क्योंकि आरम्भ से अन्त तक वही इसकी समग्र घटनाओं का सूत्र-संचालन करता है।

मुद्राराक्षस की शैली प्रवाह, प्रासादिकता और ओज लिये हुए है। इसके वाक्य छोटे-छोटे और मुहावरेदार हैं। दीर्घ समास-बहुल पदावली का प्रयोग कम हुआ है। अलंकारों का उपयोग सीमित मात्रा में ही किया गया है। विशाखदत्त ने पद्यों के बाहुल्य से अपनी नाटकीय शैली को कृत्रिम नहीं बनाया है। उनका शब्द-विन्यास बड़ा ही सशक्त और प्रभावशाली है। पद्य की अपेक्षा उनका गद्य अधिक ओजःपूर्ण है। उसमें भावुकता के स्थान पर प्रभविष्णुता अधिक है। कहीं-कहीं व्यंगपूर्ण हास्य का भी पुट दिया गया है। संलापों में स्वाभाविकता है। नपे-तुले शब्दों में जोरदार भाषा प्रयुक्त हुई। कुछ उदाहरण देखिए— 'अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः', 'न प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते', 'तन्मयास्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते', 'सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि', 'ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदंगुलीप्रणयी संवृत्त इति', 'कीदृशः पुनः तृणानामग्निना सह विरोधः', 'चाणक्योऽपि जितकाशितया तैस्तैराज्ञाभंगैश्चन्द्र-गुप्तस्य चेतः पीडामुपचिनोति', 'ननूपायैरेवासौ हृदयेशयः शङ्कुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः' इत्यादि।

मुद्राराक्षस में नाटककार ने श्लेष का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है। यह श्लेष अधिकतर व्यंग्यार्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'पताकास्थानक' का भी श्लेषगर्भित प्रयोग (१।६) किया गया है। मुद्राराक्षस में 'भङ्ग्यन्तरकथन' का भी आश्रय अनेक स्थलों पर लिया गया है। कवि किसी एक ही बात को गद्य में कह कर उसे पुनः पद्य में दोहराता है१। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मुद्राराक्षस में लगभग २४ ऐसे गद्यांश हैं, जो अपने मूल रूप में पद्य में रहे होंगे२। उदाहरण के लिये चौथे अंक का यह वाक्य लीजिए—'किमिदानीं चन्द्रगुप्तः स्वराज्यकार्यधुरामन्यत्र मंत्रिण्यात्मनि वा समासज्य प्रतिविधातुमसमर्थः।' ध्रुव महोदय के अनुसार इस गद्यांश का इस प्रकार आर्या छन्द में रूपान्तर किया जा सकता है—

आत्मनि च चन्द्रगुप्तो मंत्रिणि चान्यत्र राज्यकार्यधुराम्।
किं नु समासज्य प्रतिविधातुमसमर्थ इदानीम्॥

विशाखदत्त के गद्य में जहाँ ओज है, वहाँ उनके पद्यों में स्थल-स्थल पर लालित्यमय प्रवाह है। निम्नलिखित पद्यों से उनकी शैली का परिचय मिलेगा।

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तो
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्रान्॥

१—२।३ और उसके पहले का गद्यांश।

२—K. H. Dhruva: 'Verses mistaken for prose in मु० रा० *Poona Orientalist*, Oct. 1936 and Jan. 1937.

'ऐसा कौन है जो मृगराज सिंह का अपमान कर जंभाई लेते समय उसके खुले मुँह से उसकी उस दाढ़ को उखाड़ लेने की हिम्मत करे, जो हाथी के रक्त से लाल है तथा संध्याकाल के अरुणवर्ण चन्द्रमा की कला के समान चमक रही है।' चाणक्य की राजनीति का वैचित्र्य देखिए—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्नश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥ ५।३

'भाग्य-चक्र की भाँति राजनीतिज्ञ की नीति कैसी विचित्र होती है! कार्यवश कभी वह अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर देती है, कभी उसे बड़ा गहन बना देती है, कभी वह पूर्णतया विकसित हो जाती है, कभी बिलकुल अदृष्ट हो जाती है, कभी उसका कारण नष्ट होता दिखाई देता है और कभी वह प्रभूत इष्ट फल को प्रदान करती है।' मुद्राराक्षस में सरल पद्यों में शिक्षाप्रद बातें भी मिलती हैं—

शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम्।
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति॥ ४।१८

कौमुदीमहोत्सव—हाल में कौमुदीमहोत्सव नामक एक पांच अङ्कों का नाटक उपलब्ध हुआ है। इसकी रचयित्री कोई महिला थी, पर उसके नाम का ठीक पता नहीं चलता। सम्भवतः वह कोई दाक्षिणात्य कवयित्री थी। कुछ लोग इस नाटक की रचना विज्जका द्वारा मानते हैं, जिसकी प्रशंसा राजशेखर ने की है तथा जिसके पद्य सुभाषित-ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने कौमुदीमहोत्सव की रचना ३४० ई० के लगभग मानी है, क्योंकि उनके अनुसार इस नाटक का चण्डसेन नामक पात्र वस्तुतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है। पर विन्टरनिट्ज महोदय उसे दण्डी (६०० ई०) के बाद की रचना मानते हैं, क्योंकि उसमें (२।१५, ५।६) दण्डी की अवन्तिसुन्दरी कथा में चित्रित शौनक और बन्धुमती के प्रणय की ओर संकेत है। मुद्राराक्षस का भी कुछ प्रभाव कौमुदीमहोत्सव पर देख पड़ता है, और संभवतः उसकी रचना मुद्राराक्षस के बाद में हुई जान पड़ती है।

मृच्छकटिक की भांति कौमुदीमहोत्सव में भी राजनीतिक घटनाओं को प्रणय-कथा से सम्बद्ध किया गया है। मगध के राजा सुन्दरवर्मा का सेनापति चण्डसेन मगध के शत्रुओं की सहायता से पाटलिपुत्र पर हमला करता है और सुन्दरवर्मा को मारकर स्वयं मगध का राजा बन बैठता है। किन्तु सुन्दरवर्मा का मन्त्री मन्त्रगुप्त अपने स्वामी के पुत्र कल्याण वर्मा को विन्ध्य पर्वत में सुरक्षित रखकर उसे मगध का राजा बनाने का अवसर ढूँढ़ता है। पम्पा के निकट कल्याण वर्मा की शूरसेन के राजा कीर्तिसेन की पुत्री कीर्तिमती से भेंट होती है और दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। इधर मन्त्रगुप्त चण्डसेन के विरुद्ध नागरिकों का विद्रोह कराकर उसे मार डालते हैं और कल्याण वर्मा को राजा घोषित करते हैं। कल्याण वर्मा का राज्याभिषेक कौमुदीमहोत्सव (कार्तिकी पूर्णिमा) के दिन होता है, और इसी अवसर पर कौमुदीमहोत्सव नाटक का अभिनय किया जाता है। कीर्तिसेन भी बड़ी प्रसन्नता से अपनी पुत्री कीर्तिमती का विवाह कल्याण वर्मा से कर देते हैं।

विन्टरनिट्ज महोदय के अनुसार कौमुदीमहोत्सव उसी अर्थ में एक ऐतिहासिक नाटक है, जिस अर्थ में मृच्छकटिक है।

आर्यक और पालक के संघर्ष के समान चण्डसेन और कल्याण वर्मा की कथा की भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अवश्य रही होगी। पर अभी तक कौमुदीमहोत्सव की घटनाओं का इतिहास की घटनाओं से साम्य स्थापित नहीं हो सका है। कौमुदीमहोत्सव के विशेष अध्ययन एवं प्रचार से उसके ऐतिहासिक महत्व पर अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

भट्टनारायण

वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण पहले कन्नौज के निवासी थे, किन्तु बाद में परिस्थितिवश बङ्गाल जाकर बस गये। वे एक गौड़ ब्राह्मण-परिवार के प्रवर्त्तक हुए, पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे वर्तमान प्रसिद्ध टागौर वंश के ही पूर्वज थे। 'भट्ट' और 'मृगराज' इनकी दो उपाधियां थीं। इन उपाधियों से उनकी जाति के विषय में ठीक-ठीक पता नहीं चलता, क्योंकि जहाँ 'भट्ट' शब्द ब्राह्मणत्व का सूचक है वहाँ 'मृगराज' क्षत्रिय जाति का द्योतक है। बङ्गाल में जिस राजा के आश्रय में भट्टनारायण रहते थे, वे आठवीं शताब्दी के पालवंशी राजाओं के पहले हुए थे। अतः भट्टनारायण तथा उनके आश्रयदाता का स्थितिकाल आठवीं शताब्दी के प्रथमार्ध के बाद का नहीं हो सकता। इस निष्कर्ष की पुष्टि बहिरङ्ग प्रमाणों से भी होती है। मम्मट (११०० ई०), धनंजय (१००० ई०), आनन्दवर्धन (८५० ई०) और वामन (८०० ई०) सभी ने अपने-अपने ग्रन्थों में वेणीसंहार से उद्धरण दिये हैं। इसलिये लगभग ७२५ ई० का समय भट्टनारायण के लिये युक्तिसंगत है। सम्भवतः वे भवभूति के समकालीन भी रहे हों।

दण्डी के अनुसार भट्टनारायण ने तीन ग्रन्थों की रचना की है[१], किन्तु इनमें से केवल वेणीसंहार नामक नाटक ही एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। वेणीसंहार की आख्यायिका महाभारत से ली गई है, पर नाटकीय सौन्दर्य की दृष्टि से कवि ने उसमें यथेष्ट परिवर्तन भी किया है। पहले अंक में (कौरव राजसभा में दुःशासन द्वारा द्रौपदी के केश खींचे जाने पर) भीम प्रतिज्ञा करते हैं कि दुःशासन का रक्त पान कर तथा दुर्योधन को मार कर उसके रक्त से रंजित हाथों से मैं द्रौपदी की वेणी बांधूंगा। युद्ध आरम्भ हो जाता है। दूसरे अंक में दुर्योधन और उसकी स्त्री भानुमती का शृङ्गारिक कथोपकथन है। तीसरे अंक के द्रोणवध के अनन्तर अश्वत्थामा और कर्ण में वाक्कलह होता है। चौथे अंक में दुःशासन तथा कर्ण के पुत्र वृषसेन की मृत्यु होती है। पांचवें अङ्क में गान्धारी और धृतराष्ट्र दुर्योधन को संधि कर लेने के लिये समझाते हैं, पर वह नहीं मानता। छठे अङ्क में चार्वाक नामक राक्षस युधिष्ठिर को यह मिथ्या संवाद सुनाता है कि दुर्योधन के साथ गदा-युद्ध में भीम और अर्जुन मारे गये। इस पर युधिष्ठिर और द्रौपदी अपने प्राण दे देने का संकल्प करते हैं। इतने में ही भीम दुर्योधन का वध करके लौटते हैं और अपने रक्तरंजित हाथों से द्रौपदी की विकीर्ण वेणी बांधते हैं।

वेणीसंहार के प्रधान नायक का प्रश्न विवादपूर्ण है[२]। उसके नायक युधिष्ठिर नहीं हो सकते, क्योंकि अन्तिम अङ्क के अतिरिक्त

१—व्याप्तुं पदत्रयेणापि यशश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम्॥

२—*Ramachandra Rao*: 'Tragedies in Sanskrit' Proceedings of VIII Oriental Conference 1935 pp. 299 ff.

हम उन्हें रङ्गमञ्च पर कभी नहीं पाते। भीम को भी नायक मानना उचित नहीं, क्योंकि वे रङ्गमञ्च पर केवल प्रथम अङ्क में, पांचवें अङ्क के अन्त में और सातवें अङ्क में ही उपस्थित रहते हैं तथा उनका क्रूर अभिमान भरा व्यवहार हमारे वैरस्य का कारण बनता है, सहानुभूति का नहीं। दुर्योधन को ही नाटक का नायक मानना युक्तियुक्त होगा; क्योंकि (१) भट्टनारायण ने दुर्योधन के चरित्र-चित्रण में विशेष परिवर्तन कर उसे हमारी दृष्टि में ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया है। महाभारत का दुर्योधन यदि कपट और द्वेष की प्रतिमूर्ति है, तो वेणीसंहार का दुर्योधन एक महान् पात्र है, जो बरबस हमारी समवेदना प्राप्त कर लेता है। यदि भट्टनारायण को अपना नायक दुर्योधन को बनाना इष्ट न होता तो वे क्यों अपनी प्रतिभा द्वारा उसका उज्ज्वल चित्रण करते ? (२) दुर्योधन प्रथम अङ्क के अतिरिक्त शेष सभी अङ्कों में रङ्गमञ्च पर उपस्थित रहता है, और प्रथम अङ्क में भी उसी के कार्य-कलाप पर प्रेक्षकों का ध्यान केन्द्रित रहता है। (३) दुर्योधन अपनी वीरता और आत्मसंमान की भावना से हमारे आदर का पात्र बन जाता है। वह एक स्नेही भ्राता, विश्वस्त मित्र और कट्टर योद्धा है। आत्मश्लाघी भीम से उसका सर्वत्र विरोध दिखाया गया है। दुर्योधन की दुर्बलताएं हमारी सहानुभूति को जागृत करती हैं। भीम की अपेक्षा दुर्योधन में मानवता अधिक है। पराजित दुर्योधन विजयी भीम की अपेक्षा अधिक महान् प्रतीत होता है। (४) नाटक की कथा दुर्योधन के कारण रोचक और हृदयग्राही बनती है। कौरव-पाण्डव-युद्ध केवल उसी के निर्णय पर निर्भर है।

इस प्रकार वेणीसंहार का नायक दुर्योधन ही है, और उसी के दृष्टिकोण से सारी कथा चित्रित की गई है। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर वेणीसंहार निस्सन्देह एक दुःखान्त नाटक

हो जाता है, जिसमें नायक (दुर्योधन) का दुःख, पराभव और मृत्यु चित्रित है। वेणीसंहार में दुर्योधन की युद्धक्षेत्र में मृत्यु हो जाती है। अवश्य ही यह मृत्यु रङ्गमञ्च पर नहीं होती पर उसकी सूचना हमें कंचुकी द्वारा प्राप्त हो जाती है। वेणीसंहार का दुर्योधन एक 'मान शौण्ड' है, जिसका स्वाभिमान, वीरता और साहस उसे हमारी दृष्टि में ऊंचा उठाते है। नाटककार ने दुर्योधन को अनेकानेक आपत्तियों द्वारा ग्रस्त दिखलाकर उसे हमारी समवेदना का पात्र बना दिया है, उसके दुःखों और पराभवों का अंकन कर सारे नाटक को एक भावपूर्ण दुःखान्त नाटक बना दिया है।

वेणीसंहार के प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन आलोचकों ने द्वितीय अंक में दुर्योधन और भानुमती के संभोग शृङ्गार के वर्णन को अनुचित बतलाया है। उनके अनुसार दुर्योधन को समर-व्यापार से पराङ्मुख कर प्रणयपाश में आबद्ध दिखलाना उसके दौर्बल्य का परिचायक होते हुए भी कुछ अस्वाभाविक है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' (अनुचित स्थान में रस-विस्तार) के अन्तर्गत रखा है। साहित्यदर्पणकार ने भी इस प्रणय-दृश्य को अनुपयुक्त बतलाया है। कीथ महोदय का भी कथन है कि भट्टनारायण ने रूढ़ि का पालन करने के लिये ही इस अनावश्यक दृश्य का अपने नाटक में समावेश किया है। किन्तु वस्तुतः भट्टनारायण का लक्ष्य अपने नायक (दुर्योधन) की दुःखान्त कथा को चित्रित करना और उसके पराभव और शोक की तीव्रता से प्रेक्षकों को प्रभावित करना है। इस लक्ष्य-सिद्धि के लिये नाटककार ने एक ओर दुर्योधन के अपनी प्रियतमा के प्रति प्रेम-प्रदर्शन को चित्रित कर अपने नायक के सुखी दाम्पत्य-जीवन की झांकी कराई है और दूसरी ओर युद्ध के अन्तिम दिनों में नायक के कष्टमय जीवन के साथ उसका विरोध दिखाया

है। इसलिये यह स्पष्ट है कि यदि वेणीसंहार को दुर्योधन के दुःखान्त जीवन का नाटक माना जाय तो उक्त प्रणय-दृश्य सर्वथा प्रासंगिक और प्रभावोत्पादक है। इससे दुर्योधन के पतन की तीव्रता द्विगुणित हो जाती है।

वेणीसंहार के कथानक में घटनाओं का बाहुल्य है, पर उन्हें नाटकीय ढङ्ग से प्रस्तुत करने में कवि को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। कहीं-कहीं पद्यों के बाहुल्य तथा वर्णनात्मक प्रसंगों की प्रचुरता के कारण इसकी नाटकीय गति में व्याघात पहुँचा है। कवि ने इस छोटे से नाटक में अनेक विषयों का समावेश करने की चेष्टा की है, इस कारण कथानक कुछ जटिल हो गया है। चतुर्थ अंक में सुन्दरक द्वारा जो युद्धभूमि का वर्णन हुआ है वह कवित्वपूर्ण होते हुए भी आवश्यकता से अधिक लंबा होने के कारण नाटकीय दृष्टि से प्रभावपूर्ण नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न दृश्य मुख्य कथा से पूर्णतया संबद्ध नहीं प्रतीत होते। सभी मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं हुआ है। छठे अङ्क में चार्वाक राक्षस के अनर्गल सन्देश द्वारा धीरोदात्त युधिष्ठिर का एक प्रकार से परिहास किया गया है। इसलिये वहां पर जिस करुणरस का चित्रण है वह अस्वाभाविक और प्रभावहीन है। शैली ओजस्विनी होते हुए भी परिष्कृत नहीं है। करुण, वीर, रौद्र और भयानक रसों का कहीं-कहीं मात्रातीत चित्रण हो गया है। करुण असह्य हो जाता है और भयानक बीभत्स। प्राकृत और संस्कृत में प्रयुक्त दीर्घकाय समास तथा जटिल वाक्यविन्यास नाटक के घटना-प्रधान कथानक के उपयुक्त नहीं है।

कुछ आलोचकों का तो यहां तक कथन है कि वेणीसंहार की नाट्य-रचना में तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अङ्क अनावश्यक

हैं। पर यह कथन अतिरंजित है। तीसरे अङ्क में अश्वत्थामा और कर्ण के वाक्कलह का वर्णन है। जो भीम को नाटक का नायक मानते हैं उनके लिये इस कलह का कोई महत्व नहीं। नाटक का नायक दुर्योधन है और उसी की दुःखान्त कथा चित्रित करना नाटककार का लक्ष्य है, इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर यह कलहदृश्य सर्वथा प्रासङ्गिक और महत्वमय बन जाता है। वाक्कलह के परिणामस्वरूप अश्वत्थामा, कर्ण के मौजूद रहते, युद्ध में सहयोग देना अस्वीकार कर देता । क्या नायक दुर्योधन के लिये यह एक बड़ी हानि नहीं है? अश्वत्थामा के इस संकल्प का यदि किसी व्यक्ति पर प्रभाव पड़ सकता है तो वह दुर्योधन ही है, क्योंकि उससे वह अश्वत्थामा जैसे पराक्रमी धनुर्धारी की सेवाओं से वंचित रह जाता है। इसी प्रकार यह कहना भी असंगत है कि विभिन्न अंक या दृश्य मुख्य कथा से पूर्णतया संबद्ध नहीं प्रतीत होते। तीसरे, चौथे और पांचवें अंकों में दुर्योधन पर आ पड़ने वाली विपत्तियों का विवरण है। तीसरे अंक में अश्वत्थामा युद्ध से विमुख हो जाता है। चौथे अंक में दुर्योधन के भाई दुःशासन की मृत्यु होती है। पांचवें अंक में कर्ण की मृत्यु की सूचना मिलती है।

वेणीसंहार संस्कृत के वीररसप्रधान नाटकों में विशेष लोकप्रिय है। इसकी रचना नाट्यशास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल हुई है। यही कारण है कि धनंजय ने अपने दशरूपक में इसके अनेक पद्य उदाहरण रूप में उद्धृत किये हैं। इसके कथोपकथन नाटकीय दृष्टि से प्रभावोत्पादक हैं। तृतीय अंक कवि के नाटकीय कौशल एवं कवित्व-शक्ति का परिचायक है। पात्रों का व्यक्तित्व इस नाटक की विशेषता है। भीम की भीषणता, कर्ण का अहङ्कार, अश्वत्थामा का रोष एवं दयामय स्वभाव, दुर्योधन की

स्वार्थपरायणता एवं विलासप्रियता विशद रूप से अंकित है। पात्रों का तुलनात्मक चित्रण भी इस नाटक का विशिष्ट गुण है। एक ओर भीम द्वारा द्रौपदी के अपमानदग्ध हृदय को वीरोचित ढङ्ग से सांत्वना दिया जाना और दूसरी ओर विलासी दुर्योधन द्वारा भानुमती के प्रति शृङ्गारिक चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाना, अश्वत्थामा की भावुकता औ ब्राह्मणोचित तेज तथा कर्ण की कटूक्तियां और व्यङ्ग—इनका तुलनात्मक विवेचन यथातथ्य हुआ है।

वेणीसंहार की भाषा प्रभावपूर्ण एवं ओजोगुणविशिष्ट है। इसमें वीररस की एक से एक अनूठी उक्तियां भरी पड़ी हैं। अश्वत्थामा अपने निःशस्त्र पिता का वध करने वाले धृष्टद्युम्न पर जलभुन रहा है—

तातं शस्त्रग्रहणविमुखं निश्चयेनोपलभ्य
त्यक्त्वा शंकां खलु विदधतः पाणिमस्योत्तमांगे।
अश्वत्थामा करधृतधनुः पाण्डुपाञ्चालसेना-
तूलोत्क्षेपप्रलयपवनः किं न यातः स्मृतिं ते॥ ३।२३

'तुझे यह भलीभाँति मालूम था कि मेरे पिता शस्त्र-ग्रहण नहीं करेंगे, फिर भी तूने निःशंक होकर उनके सिर पर अपना कठोर हाथ चला दिया। क्या ऐसा करते समय तुझे, पाण्डवों और पाञ्चालों की सेना को रुई की भांति उड़ा देने वाले प्रलयकालीन पवन के समान, मैं याद नहीं आया?' अश्वत्थामा के प्रति कर्ण की चुभती हुई उक्ति देखिए—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥ ३।३७

'मैं चाहे सूत हूँ या सूतपुत्र हूँ अथवा कोई भी क्यों न हूँ, इससे क्या ? ऊँचे कुल में जन्म पाना तो दैवाधीन है, पर पौरुष तो मेरे अधीन है।' भीष्म और द्रोण के निधन के पश्चात् धृतराष्ट्र दुर्योधन को युद्ध समाप्त करने के लिये करुणस्वर में समझा रहे हैं—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्मद्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
मानं वैरिषु मुञ्च तात पितरावन्धाविमौ पालय ॥५।५

'जिनके पराक्रम का भरोसा कर हमने पट्टीदारों की कोई परवाह नहीं की, वे भीष्म और द्रोण मारे गये। कर्ण के देखते-देखते अर्जुन ने उसके पुत्र को मार डाला। सारा संसार उससे भयभीत हो रहा है। मेरे अन्य पुत्रों का भी वध हो चुका है। तुम्हारे जीवित रहने के कारण ही शत्रु की प्रतिज्ञा अभी तक पूरी नहीं हुई है। अतएव, पुत्र, शत्रुओं के प्रति अभिमान को छोड़ो और अपने इन अन्धे माता-पिता का पालन करो।' शान्तरस का एक चित्र देखिए—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥ १।२३

'अपनी अन्तरात्मा में ही रमण करने वाले, निर्विकल्पक समाधि में ही प्रीति लगाने वाले, ज्ञान के प्राचुर्य द्वारा अज्ञान का समूल दूर करने वाले तथा सत्वगुण में स्थित रहने वाले मुनिगण,

जिसे अन्धकार और प्रकाश से परे कोई अनिर्वचनीय तत्व समझते हैं, उस पुरातन परमात्मा (कृष्ण) को यह मूढ़ दुर्योधन भला क्या पहचाने ?' भट्टनारायण की गौड़ी रीति और ओज गुण की किसी कवि ने इस प्रकार प्रशंसा की है—

ओजः संसूचकैः शब्दैः युद्धोत्साहप्रकाशकैः ।
वेणयामुज्जृम्भयन् गौड़ीं भट्टनारायणो बभुः ॥

मुरारि

अनर्घराघव नाटक के प्रणेता मुरारि मौद्गल्य-गोत्र के श्रीवर्धमानक के पुत्र थे। उनकी माता का नाम तन्तुमती देवी था। उन्होंने उत्तररामचरित के दो श्लोकों (६।३०, ३१) को अपनी कृति में (१।६,७) में उद्धृत किया है। अतः वे निश्चय ही भवभूति (७०० ई०) के पश्चात् हुए थे। रत्नाकर (८५० ई०) ने अपने हरविजय (३८।६८) में मुरारि की ओर स्पष्ट संकेत किया है। मंख-कृत श्रीकण्ठचरित (११३५ ई०) में मुरारि राजशेखर (६०० ई०) के पूर्ववर्ती माने गये हैं। इन प्रमाणों के आधार पर मुरारि का स्थितिकाल ८०० ई० के लगभग माना जा सकता है। मुरारि संभवतः माहिष्मती (आधुनिक नर्मदा नदी पर स्थित मान्धाता नगरी) के निवासी थे।

अनर्घराघव सात अङ्कों का नाटक है। इस पर भवभूति के महावीरचरित की स्पष्ट छाप पड़ी है। कथानक भी प्रायः उसी के समान है। ताड़का-वध से लेकर राज्याभिषेक तक की घटनाएं उसमें वर्णित है। कवि ने रामायण की कथा में कुछ रोचक परिवर्तन भी किये हैं। जब परशुराम से लड़ने के लिये उद्यत राम के धनुष की टङ्कार सीता के कानों तक पहुँचती है तब

सीता को भय होता है कि कहीं राम किसी दूसरी स्त्री को पाने के लिये पुनः धनुर्भङ्ग तो नहीं कर रहे हैं। बालि-वध के हेतु में भी नवीन कल्पना की गई है। केवट गुह पर कबन्ध राक्षस आक्रमण करता है। लक्ष्मण कबन्ध को मार कर गुह की रक्षा करते हैं; किन्तु ऐसा करने में वे उस वृक्ष को गिरा देते हैं, जिस पर दुंदुभि का कंकाल लटक रहा था। बाली इस बात से उत्तेजित हो राम को युद्ध के लिये ललकारता है। अतएव राम को विवश होकर उसे युद्ध में मार डालना पड़ता है। सातवें अंक में रामचन्द्र जी की विमान-यात्रा का वर्णन भी अद्भुत एवं रुचिर है। सुमेरु पर्वत, चन्द्रलोक आदि दिव्य लोकों का भ्रमण कर वे मलय और प्रस्रवण पर्वतों के ऊपर होते हुए कांची, महाराष्ट्र देश में स्थित कुण्डनीपुर, उज्जयिनी, माहिष्मती, यमुना, गङ्गा, वाराणसी, मिथिला, चम्पा, प्रयाग आदि तीर्थों का दर्शन कर अन्त में अयोध्या पहुँचते हैं।

अनर्घराघव की प्रस्तावना में मुरारि ने घोषणा की है कि भयानक और वीभत्स जैसे उग्र रसों के निरन्तर आस्वादन से ऊबे हुये प्रेक्षकों को मैंने अद्भुत एवं वीर रस से युक्त एक उदात्त रचना प्रदान की है। उनका कहना है कि श्री रामचन्द्र जी के सर्व प्रसिद्ध कथानक का उपयोग न करना भूल है, क्योंकि राम के चरित्र-चित्रण से कवि की रचना में उदात्तता एवं सौष्ठव का स्वतः संचार होता है। (१।६)। परन्तु अनर्घराघव की समीक्षा करने पर मुरारि की उक्तियां चरितार्थ नहीं होतीं। कथानक का अनावश्यक विस्तार करना कवि को विशेष प्रिय प्रतीत होता है। भावों के प्रदर्शन में अत्युक्तियां का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। पात्रों का प्राचीन रूप प्रायः वैसा ही रखा गया है। हां, अपना पौराणिक ज्ञान कवि ने स्थान-स्थान पर अवश्य प्रकट किया है। मुरारि की शब्दराशि विशाल है। उनकी पदशय्या

प्रौढ़ एवं गम्भीर है। उनकी उपमाएँ प्रायः मौलिक हैं। उनकी इसी विलक्षण मौलिकता को देख कर किसी ने कहा है—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।' उनकी भावप्रकाशनक्षमता उच्चकोटि की है। परवर्ती कवियों ने मुरारि की 'गम्भीरता' की बड़ी प्रशंसा की है। उनके पद्यों का नाद-सौन्दर्य दर्शनीय है। कवित्व की प्रौढ़ि और व्याकरण-विषयक पाण्डित्य की दृष्टि से अनर्घराघव आदर्श कृति है। सच पूछिए तो अनर्घराघव में नाटकीय कला की अपेक्षा पाण्डित्य का ही प्राधान्य है। भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अनर्घराघव से अनेक उदाहरण दिये हैं। मुरारि की शैली के कुछ उदाहरण देखिए:—

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूतांकुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः।
याः कृच्छ्रादतिलंघ्य लुब्धकभयात्तै रेवरेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवी निःशंकमेणीकुलम् ॥ ५।६

'अहा, ये गोदावरी की मनोरम तटभूमियां दिखाई दे रही हैं। मतवाली कोयलों ने आम्र-मञ्जरियों को झकझोर कर इन तटों पर इतनी पराग-राशियां बिखेर दी है कि उनके छोटे-छोटे टीले बन गये हैं। व्याधों के भय से भागती हरिणियां यद्यपि इन टीलों को कठिनाई से पार कर पाती हैं, किन्तु जब इन्हीं टीलों की परागधूलि उड़-उड़ कर उनके पदचिन्हों को तिरोहित कर देती है तो वे सुख की सांस लेने लगती हैं।' मुरारि की अतिशयोक्तियां बड़ी चमत्कारिणी होती हैं—

अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
ऊनस्य नूनं प्रतिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः ॥७।८७

राम सीता से कह रहे हैं कि 'हे सुन्दरी, जब तुम्हारे मुख और चन्द्रमा इन दोनों को तौला गया, तो सौन्दर्य में तुम्हारा मुख ही

अधिक सारवान् सिद्ध हुआ। वजन की उसी कमी को पूरा करने के लिये मानो चन्द्रमा के साथ इन चमकते तारों को भी रखना आवश्यक हुआ।' इसी भाव को कवि ने अन्य स्थल पर और तरह से व्यक्त किया है—'ब्रह्मा ने सीता की सृष्टि करके चन्द्रमा और सीता को तुला पर रखा। सौन्दर्य में सीता का मुख अधिक भारी होने के कारण पृथ्वी पर आ गया और चन्द्रमा हलका होने से आकाश में चला गया!'

मुरारि ने अपने आप को 'बाल-वाल्मीकि' कहा है। भारतीय आलोचकों ने उनकी इस प्रकार प्रशंसा की है—

मुरारिपदचिन्ताचेत्तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ताचेत्तदा माऽघे रतिं कुरु॥

कुछ आलोचक मुरारि को भवभूति से भी बढ़कर मानते हैं—

मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज मुरारिमुररी कुरु॥

शार्ङ्गधरपद्धति में भी मुरारि को भवभूति से ऊंचा स्थान दिया गया है—

भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः॥

मुरारि की निम्नलिखित गर्वोक्ति भी परम प्रसिद्ध है—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं।
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

'सरस्वती की उपासना तो अनेक कवि करते हैं, किन्तु विद्या का असली सार मुरारि कवि ही जानते हैं, क्योंकि उन्होंने गुरु के घर रहकर विद्योपार्जन में घोर परिश्रम किया है। बन्दरों ने महासागर को पार भले ही किया हो, किन्तु उसकी असली गहराई या थाह का पता तो पाताल तक डूबने वाले विपुलकाय मन्दराचल पर्वत को ही है।'

शक्तिभद्र

सन् १९२६ में मद्रास से शक्तिभद्र-रचित आश्चर्यचूड़ामणि नामक नाटक प्रकाशित हुआ। कीथ[१] ने भ्रमवश इसका नाम आश्चर्यमंजरी लिखा है, जो वास्तव में कुलशेखरवर्मा द्वारा रचित एक कथा है[२]। मालाबार की जनश्रुति के अनुसार शक्तिभद्र श्रीशङ्कराचार्य (७८८-८२० ई०) के शिष्य थे। अतः उनका समय नवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री ने आश्चर्यचूड़ामणि को उत्तररामचरित के बाद सर्वोत्कृष्ट राम-नाटक माना है। भास के नाटकों की भाँति इसमें भी मङ्गलाचरण श्लोक के पहले ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। सम्भव है दक्षिण में रचित नाटकों की यही विशेषता रही हो। आश्चर्यचूड़ामणि में शूर्पणखा-प्रसंग से लेकर लङ्काविजय और सीता की अग्नि-परीक्षा तक की कथा वर्णित है। सीताहरण की घटना में परिवर्तन भी किया गया है। पहले मारीच राम और लक्ष्मण को पर्णकुटी में सीता को अकेली छोड़ने पर बाध्य

१—*Sanskrit Drama*, p. 371, foot note 2.

२—S. Kuppusvami Shastri's introduction to आ० चू० p. 11

करता है। फिर रावण राम का रूप धारण कर पर्णकुटी पर पहुंचता है। उसका सारथि लक्ष्मण के रूप में आकर कहता है कि तपस्वियों से मैंने सुना है कि अयोध्या में भरत शत्रुओं के कुचक्र में फंस गये हैं, अतः वहाँ सीता सहित आपका जाना आवश्यक है। इस प्रकार रावण सरलतापूर्वक सीता का अपहरण करता है। उधर शूर्पणखा सीता का रूप धारण कर पर्णकुटी में जा बैठती है। अन्त में उसकी कपट-माया प्रकट हो जाती है। राम उसे क्षमा कर देते हैं और उसके द्वारा रावण के पास यह संदेश भेजते हैं—

त्वरितगतिना सद्यः सीता त्वया न तु वञ्चिता।
नियतविधवाचारा दाराश्चिरं तव वञ्चिता:॥ ३।४०

आश्चर्यचूड़ामणि में प्रधान रस 'अद्भुत' है। 'अङ्कावतार' के यथास्थान उपयोग तथा विष्कंभक के परिमित प्रयोग के कारण इसमें उत्तररामचरित की अपेक्षा अधिक क्रियाशीलता दिखाई पड़ती है। इसकी भाषा सरल, आडम्बरशून्य तथा अर्थगर्भित है। कुछ उदाहरण देखिए—'न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञः', 'आर्ये किं स्नेहस्तुलयति गुणदोषान्', 'कथमौष्ण्यमग्नेश्छाद्यते' आदि। शक्तिभद्र ने वैदर्भी रीति को अपनाया है। उनके पद्यों में प्रसाद और माधुर्य का सुन्दर संनिवेश है। दुर्गम वन में सुन्दरी-वेश में शूर्पणखा को देख लक्ष्मण कहते हैं—

क्वेदं वनं वनचरैरपि दुर्विगाहं
क्वेयं वधूः कुवलयच्छविचोरनेत्रा।
हेमारविन्दमकरन्दरसोपयोगां
कः श्रद्दधीत जलधौ कलहंसकन्याम्॥ १।११

'कहाँ यह वनवासियों के लिये भी दुर्गम घोर वन और कहाँ यह कमलों की भी शोभा चुराने वाले नेत्रों से युक्त रमणी? भला

यह कौन विश्वास करेगा कि स्वर्ण कमलों के मकरन्दरस का पान करने वाली कलहंसी कभी खारे समुद्र में निवास करेगी !'

दामोदर मिश्र

हनूमन्नाटक नामक महानाटक की रचना ८५० ई० के पहले अवश्य हो चुकी होगी, क्योंकि आनन्दवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक (८५० ई०) में इसे उद्धृत किया है। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं। पहले और संभवतः प्राचीनतर संस्करण के रचयिता दामोदर मिश्र हैं। इसमें १४ अङ्क हैं। इसका कथानक रामायण से लिया गया है। इसके आरम्भ में प्रस्तावना नहीं है। सम्पूर्ण नाटक में प्राकृत का बिलकुल प्रयोग नहीं हुआ है। पद्यों की प्रचुरता, गद्य की न्यूनता, पात्रों की बहुसंख्यकता तथा विदूषक का अभाव इसकी उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। हनुमन्नाटक का दूसरा संस्करण मधुसूदन दास-विरचित है। इसमें केवल ६ अङ्क हैं।

राजशेखर

राजशेखर महाराष्ट्र की यायावर नामक क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम दुर्दुक और माता का शीलवती था। उनके पिता 'महाराष्ट्रचूड़ामणि' अकालजलद थे। उनके वंश में सुरानन्द, तरल और कविराज जैसे यशस्वी कवि हुए थे। उनका विवाह चाहमान (चौहान) जाति की अवन्तिसुन्दरी नामक एक सुशिक्षित महिला के साथ हुआ था। धन और यश कमाने के लिये वे कन्नौज चले गये। उन्हें अपनी विद्वता का बड़ा अभिमान था। बालरामायण (१।१६) में उन्होंने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति का अवतार

बताया है। कर्पूर-मंजरी में उनकी दो उपाधियों—'बालकवि' और 'कविराज'—का उल्लेख हुआ है।

अपने नाटकों में राजशेखर ने लिखा है कि वे महेन्द्रपाल या निर्भयराज नामक राजा के गुरु थे। ऑफ्रेक्ट ने इन दोनों को एक ही व्यक्ति सिद्ध किया है। ये महेन्द्रपाल, महोदय अथवा कान्यकुब्ज के प्रतिहारवंशी राजा थे। सियदोनी (Siyadoni) के शिलालेख[१] में महेन्द्रपाल की ६०३-४ ई० और ६०७-८ ई० ये तिथियाँ निर्दिष्ट हैं। अतः राजशेखर का स्थितिकाल ६०० ई० के लगभग था। एक ओर राजशेखर ने उद्भट (८०० ई०) तथा आनन्दवर्धन (८५० ई०) का उल्लेख किया है, दूसरी ओर 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०), 'तिलकमंजरी' (१०००ई०) और 'व्यक्तिविवेक' (११५० ई०) में राजशेखर का उल्लेख है। इस प्रकार उनका समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ ही निश्चित होता है।

राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की—कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण और बालभारत या प्रचण्डपाण्डव। बालरामायण में राजशेखर ने अपने को छः कृतियों का रचयिता बतलाया है। इनमें से चार उक्त नाटक हैं। पांचवां काव्यमीमांसा नामक अलंकार-ग्रन्थ है। छठा, हेमचन्द्र के अनुसार, हरविलास नामक महाकाव्य है। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने अपने भुवनकोश नामक एक भौगोलिक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। सूक्ति-संग्रहों में भी राजशेखर के नाम से कई पद्य मिलते हैं।

कर्पूरमंजरी प्राकृत में चार अंकों का एक 'सट्टक' (नृत्यप्रधान नाटक) है। इसका कथानक रत्नावली के समान है। इसमें राजा

१—Keilhorn: *Epigraphia Indica*, i. 171.

चण्डपाल और कुन्तलराजकुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणय-कथा वर्णित है। यद्यपि इसका कथानक लघु है और चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं है, फिर भी कई दृष्टियों से यह एक महत्वपूर्ण नाटक है-(१) भारतीय साहित्य में आद्योपान्त प्राकृत में रचित यही एकमात्र नाटक उपलब्ध है१। (२) जहां अन्य नाटकों में नान्दी के बाद सूत्रधार आकर नटी या किसी अन्य पात्र के साथ वार्तालाप करता है, वहां कर्पूरमंजरी में नान्दी के पश्चात् स्थापक आकर श्लोक कहता है। (३) इस नाटक की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि उस समय स्त्री-पात्रों का अभिनय स्त्रियाँ करती थीं। (४) कर्पूरमंजरी में प्रवेशक और विष्कम्भक का प्रयोग नहीं हुआ है। (५) इसके प्रत्येक अंक का नाम 'जवनिकान्तर' है और 'जवनिका' शब्द का प्रयोग रंगमंच के पर्दे के अर्थ में पहले पहल यहीं हुआ है। (६) कर्पूरमंजरी में 'चर्चरी' नामक नृत्य का भी प्रयोग किया है, जिसमें हाव-भाव का प्रधान स्थान होता है। (७) भाषा-विज्ञान, पुरातत्व२ तथा ग्रामगीतों३ के लिये भी इस नाटक में पर्याप्त सामग्री है।

कर्पूरमंजरी का पदलालित्य दर्शनीय है। इसका कारण प्राकृत की स्वाभाविक मधुरिमा है। राजशेखर ने तो यहां तक कह दिया है कि सुकुमारता की दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत में उतना ही भेद है जितना स्त्री और पुरुष में (१।७)। प्राकृत छन्दों के प्रयोग में भी राजशेखर कुशल हैं। प्राकृत के गीति-सौन्दर्य, अनुप्रास-माधुर्य और पदलालित्य का एक नमूना देखिए—

१—हाल में रुद्रदास कृत 'चन्द्रलेखा' नामक एक और प्राकृत सट्टक प्रकाशित हुआ है।

२—१।३६, ४।१०—१९ ३—अङ्क २, ३

रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं
कणक्कणिअकिङ्किणीमुहलमेहलाडम्बरम् ।
विलोलवलआवलीजणिअमञ्जुसिञ्जारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणम् ॥२।३२

झूले पर झूलती हुई सुन्दरी का रमणीय शब्दचित्र है। 'उसके मणि-नूपुरों से कैसी मीठी झंकार निकल रही है, उसका कण्ठहार किस प्रकार चमक-दमक रहा है, उसकी करधनी छोटे-छोटे बजने वाले घुंघुरुओं से कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है, उसके हिलते हुये कड़ों से कैसी प्रिय ध्वनि निकल रही है—ऐसी चन्द्रमुखी रमणी को झूलते देख भला किसका हृदय मुग्ध नहीं हो उठता ?'

कर्पूरमंजरी में हास्य रस का भी बड़ा अनूठा चित्रण हुआ है। तृतीय अंक में विदूषक का स्वप्न-वर्णन बड़ा ही सरस और विनोदपूर्ण है। राजा की स्मरपीड़ा तथा विदूषक की विनोदप्रियता का एक साथ चित्रण किया गया है, जो रोचक और परिहासपूर्ण है। विदूषक की अनूठी उक्तियां नाटक के संवादों को सजीव बना देती हैं।

कर्पूरमंजरी के पद्यों में महाराष्ट्री और गद्य में शौरसेनी प्राकृत प्रयुक्त हुई है। उसकी प्राकृत में कई प्रान्तीय तथा देशज शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग बाद में हिन्दी में भी चल पड़ा, जैसे 'चट्टि' (चाटना), 'खडक्किआ' (खिड़की), 'कहिं पि' (कहीं भी), 'ढिल्ल' (ढीला)। कर्पूरमंजरी में लोकोक्तियों का प्रयोग भी सुन्दर हुआ है—'दक्खारसो ण महुरिज्जइ सक्कराए' (द्राक्षारसो न मधुरायते शर्कराभिः), 'एदं तं सीसे सप्पो देसन्तरे वेज्जो' (इदं तत् शीर्षे सर्पो देशान्तरे वैद्यः), 'तडं गदाए वि णावाए न वीससीअदी' (तटं गतायामपि नावि न विश्वस्यते)।

विद्धशालभंजिका राजशेखर की दूसरी कृति है। यह चार अङ्कों की एक नाटिका है। इसका भी कथानक कर्पूरमंजरी के समान ही अत्यन्त रोचक है। पहले अङ्क में लाट का राजा चन्द्रवर्मा अपनी कन्या मृगांकावली को अपना मृगांकवर्मन् नामक पुत्र घोषित कर उसे बालक के वेष में सम्राट् विद्याधरमल्ल की रानी के पास भेजता है। विद्याधर विदूषक से कहता है कि मैंने स्वप्न में एक सुन्दरी बाला को देख कर उसे पकड़ना चाहा, किन्तु वह अपनी मोतियों की माला छोड़ कर भाग गई। राजा के मन्त्री भागुरायण को यह पता था कि मृगांकवर्मन् वास्तव में स्त्री है और जिससे उसका विवाह होगा वह सार्वभौम राजा होगा। अतः दोनों में प्रणय उत्पन्न करने के लिये उसने मृगांकवर्मन् को राजा के पास भेजा। तभी से राजा निरन्तर उसी का चिन्तन करता है। संयोगवश वह अपनी चित्रशाला में अपनी प्रेयसी की खुदी हुई मूर्ति (विद्धशालभंजिका) देखता है। वह उसके गले में मोतियों की माला डाल देता है। दूसरे अङ्क में रानी, कुन्तलराजकुमारी कुवलयमाला का विवाह मृगांकवर्मन् से करना चाहती है। इधर राजा विदूषक के साथ अपने स्वप्न की सुन्दरी मृगांकावली को उद्यान में खेलते हुए तथा एक प्रणय-लेख पढ़ते हुए देखता है। इस प्रकार दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। तीसरे अङ्क में राजा और विदूषक नायिका से मिलते हैं। चौथे अङ्क में रानी, ईर्ष्यावश, मृगांकवर्मन् को वस्तुतः बालक जान उसे स्त्री-वेश पहनाकर उसका विवाह राजा से करा देती है। पर वह स्वयं धोखा खा जाती है। उधर चन्द्रवर्मा के पुत्र उत्पन्न होता है और वह अपनी पुत्रवेषधारी कन्या मृगांकावली का विवाह राजा के साथ कर देना चाहता है। विवश होकर रानी मृगांकावली का विवाह तो राजा

से कर ही देती है, कुवलयमाला का भी विवाह उनसे कर देती है।

बालरामायण दस अंकों का 'महानाटक'१ है। सीता-स्वयंवर में रावण स्वयं उपस्थित होता है, पर शिव-धनुष चढ़ाने का साहस न कर केवल सीता के भावी पति को आपत्तियों का डर दिखाता हुआ चला जाता है। राम के विरुद्ध परशुराम को भड़काकर उसे लेने के देने पड़ जाते हैं और परशुराम से युद्ध होते-होते बचता है। रावण को सीता की मूर्ति भेंट की जाती है। रावण उसे वास्तविक समझ धोखा खा जाता है। फिर खिन्न होकर पुरूरवा की भाँति वह अपनी प्रिया (सीता) के लिये प्रकृति—ऋतुओं, सरिताओं, पक्षियों—से याचना करता है। इसी समय नाक-कान से हीन शूर्पणखा को देख निराश प्रेमी रावण के हृदय में पुरुषोचित आवेश का संचार होता है। लंका की ओर बढ़ती चली आ रही राम की सेना के सम्मुख सीता का कटा मस्तक फेंक कर रावण असफल छल भी करता है। अन्त में रामचन्द्र उसका वध कर आकाशमार्ग द्वारा अयोध्या लौट आते हैं।

बालरामायण में कथा का अनावश्यक विस्तार किया गया है। प्रस्तावना ही पूरे अंक के समान लम्बी हो गई है। प्रत्येक अंक प्रायः एक नाटिका बराबर है। सारे नाटक में शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे विशालकाय छन्दों में विरचित ७४१ पद्य हैं।

बालभारत के केवल दो अंक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें द्रौपदी-स्वयंवर, द्यूतक्रीड़ा तथा द्रौपदी-वस्त्रहरण की घटनाएं वर्णित हैं।

१—सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं सर्वलक्षणसंयुतम्।
समग्रं तत्प्रतिनिधिः महानाटकमुच्यते ॥ भावप्रकाश

राजशेखर के नाटकों में प्रवाह की शिथिलता, हास्यरस की न्यूनता तथा नाट्यकलाकौशल का अभाव स्पष्ट देख पड़ता है। भवभूति की भाँति वे भी अपने नाटकों में पद्यों को दोहराते हैं। फिर भी उनका छन्दःकौशल अनुपम है। स्रग्धरा और शार्दूल-विक्रीडित१ जैसे दीर्घकाय छन्दों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त हैं। प्राकृत में इन छन्दों का वे बड़ी कुशलता से प्रयोग करते हैं। उनके पद्यों का रमणीय गीतिसौन्दर्य, चारु शब्दविन्यास और ध्वन्यर्थक अनुप्रास दर्शनीय है। उनके नाटकों में अनेक सुन्दर लोकोक्तियां पाई जाती हैं तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन सम्बन्धी रोचक बातें ज्ञात होती हैं२। उनका भाषाकौशल अद्भुत है। 'सर्वभाषा-विचक्षण', 'सव्वभासाचदुर' ये विशेषण उनके उपयुक्त ही है। किसी प्राचीन कवि ने उनके विषय में ठीक ही कहा है—

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥

क्षेमीश्वर

नैषधानन्द और चण्डकौशिक के रचयिता क्षेमीश्वर राजशेखर (९०० ई०) के समकालीन थे, क्योंकि इन दोनों के आश्रयदाता

१—शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सौल्लेखैरुच्चशेखरैः॥ क्षेमेन्द्र

२—Dasharatha Sharma: *Gleanings from Sanskrit Literature,* Journal of Indian History Vol. IX pt. II

कन्नौज के राजा महीपाल थे। नैषधानन्द सात अङ्कों का नाटक है, जिसमें नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा वर्णित है। चण्डकौशिक में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान उपनिबद्ध है। भाषा सरल होने पर भी इस नाटक के कथानक तथा वस्तु-विश्लेषण में कोई विशेषता नहीं है।

दिङ्नाग

सन् १९२३ में मद्रास से कुन्दमाला नामक नाटक प्रकाशित हुआ है। कुछ विद्वानों का कथन है कि उसके रचयिता ५ वीं शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग है, जिनका उल्लेख मेघदूत के १४ वें पद्य[१] में हुआ है, और जिनको मल्लिनाथ ने उक्त पद्य की अपनी टीका में कालिदास का समकालीन और प्रतिस्पर्धी माना है। इस आधार पर यह भी कहा जाता है कि भवभूति (७०० ई०) अपने उत्तररामचरित की रचना में कुन्दमाला से प्रभावित हुए हैं[२]।

किन्तु नई खोज के आधार पर उपर्युक्त मत सर्वथा निराधार सिद्ध हो चुका है[३]। कुन्दमाला की रचना दिङ्नाग जैसे बौद्ध दार्शनिक द्वारा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कुन्दमाला में आर्ष वैदिक धर्म का ही दिग्दर्शन उपलब्ध होता है, जो एक बौद्ध कवि

१—स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्॥

२—Intro. to कुन्दमाला ed. by Vedavyas and Bhanot, Lahore 1931.

३—कुन्दमाला and उत्तररामचरित by K. A. Subramania Iyer Pro. Or. Conf. 1933, pp, 91-97.

अथवा दार्शनिक द्वारा कभी संभव नहीं। वास्तव में कुन्दमाला के कर्ता कोई दूसरे दिङ्नाग या धीरनाग (अथवा वीरनाग) हैं। कुन्दमाला का सर्वप्रथम उल्लेख रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण' (११०० ई०) में मिलता है[१]। भवभूति के पूर्ववर्ती साहित्य में कहीं भी कुन्दमाला का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतएव कुन्दमाला के कर्त्ता दिङ्नाग भवभूति के परवर्ती प्रतीत होते हैं और उनका स्थितिकाल १००० ई० के लगभग माना जा सकता है क्योंकि ११०० ई० के पूर्व उनका साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

कुन्दमाला के प्रथम अङ्क में लक्ष्मण गर्भवती सीता को राम के आदेश से गङ्गातट पर छोड़ आते हैं। महर्षि वाल्मीकि सीता को अपने आश्रम में आश्रय देते हैं। द्वितीय अङ्क में लव-कुश का जन्म होता है। वाल्मीकि उन्हें रामायण की शिक्षा देते हैं। उधर राम नैमषारण्य में अश्वमेध की तैयारी करते हैं। वाल्मीकि के आश्रमवासियों को यज्ञ में उपस्थित होने के लिये निमन्त्रण मिलता है। पति-परायणासीता भी सब के साथ जाने के लिये उद्यत होती हैं। तृतीय अङ्क में लव-कुश के साथ सीता नैमिषारण्य में पहुंचती हैं। राम तथा लक्ष्मण गोमती के तीर पर टहलते समय जलधारा में कुन्दपुष्पों की बहती हुई एक माला देखते हैं। राम उसे सीता-निर्मित समझ सीता के वियोग में विलाप करते हैं। सीता पास ही कुंज में खड़ी यह करुणोत्पादक दृश्य देख रही हैं। चतुर्थ अङ्क में तिलोत्तमा नामक अप्सरा राम के संमुख सीता का रूप धारण कर उन्हें और अधिक संतप्त करती है।

१—प्रकर्या यथा-वीरनागनिबद्धायां कुन्दमालायां सीतायास्तदपत्ययोः पालनसंयोजनाभ्यां स्वफलनिरपेक्षस्य वाल्मीकेः। नाट्यदर्पण पृ० ४८

पांचवें अङ्क में लव-कुश राम के संमुख रामायण का गान-परायण कर रहे हैं। छठे अङ्क में पृथ्वीदेवी स्वयं प्रकट होकर सब के सन्मुख सीता की पतिव्रता की घोषणा करती हैं। अन्त में राम, सीता, लव और कुश का आनन्ददायक पुनर्मिलन होता है।

कुन्दमाला और भवभूति के उत्तररामचरित में बहुत-कुछ समानता देख पड़ती है। दोनों का कथानक रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा पर अवलम्बित है। दोनों सुखपर्यवसायी हैं तथा दोनों में अदृश्य सीता की कल्पना की गई है। इसमें संदेह नहीं कि भवभूति दिङ्नाग से अधिक श्रेष्ठ नाटककार हैं, और दोनों की कृतियों की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर यह स्वतः प्रकट हो जाता है कि कुन्दमाला में उत्तररामचरित का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। दिङ्नाग में भवभूति की सी मार्मिकता और भाव-प्रचुरता नहीं है, और न ही वे भवभूति की भाँति मानवमनोभावों के सूक्ष्म पारखी ही हैं। उत्तररामचरित में दाम्पत्य प्रणय के जो मंजुल चित्र प्रस्तुत हैं, उनका कुन्दमाला में अभाव-सा है। दिङ्नाग के वर्णन प्रायः रूढ़ि-सम्मत होते हैं तथा उनकी कविता भी मध्यमश्रेणी की है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि उत्तररामचरित जहां रस एवं भाव की दृष्टि से सर्वांगसुन्दर एवं श्रेष्ठ है, वहाँ कुन्दमाला क्रियाशीलता की दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक है।

दिङ्नाग की शैली प्रासादिक और सरल है तथा उनकी भाषा में दुरूहता नहीं है। लम्बे समासों का प्रायः अभाव है। उन्होंने करुणरस की सुन्दर व्यंजना की है। परित्यक्ता सीता को देखकर वन के प्राणी कितने शोकाकुल हो जाते हैं—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति ।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गता वरममी, न परं मनुष्याः ॥ १।१८

राम सीता के परित्याग का स्मरण कर विलाप कर रहे हैं—

नीतस्तावन्मकरवसतौ वन्ध्यतां शैलसेतुः
देवो वह्नि र्न च विगणितः शुद्धिसाक्ष्ये नियुक्तः ।
इक्ष्वाकूणां भुवनमहिता सन्ततिर्नेक्षिता मे
किं किं मोहादहमकरवं मैथिलीं तां निरस्य ॥३।२

'समुद्र पर पत्थरों का पुल बांधना निरर्थक हुआ; सीता की पवित्रता के साक्षी अग्निदेव को मैंने कुछ न गिना; संसारपूजित इक्ष्वाकुओं की सन्तति का भी मैंने कुछ ध्यान नहीं रखा; हाय, मिथिला-राजकुमारी का परित्याग कर मैंने मोहवश क्या कर डाला ?' भवभूति की भाँति दिङ्नाग ने भी प्रकृति के भयावह पटल का वर्णन किया है—

नादः पातालमूलात् प्रभवति तुमुलं पूरयन् व्योमरन्ध्रं
पातक्लिष्टा इवैते दिशि दिशि गिरयो मन्दमन्दाश्चरन्ति ।
बद्धानन्दाः समन्ताल्लवणजलधयो मथ्यमाना इवासन्
सीमामुल्लंघ्य वेगादुदनिधिसलिलैः स्वानि वेलावनानि ॥६।२४

'पाताल के गर्भ से एक महान् कलकल घोष निकल कर सारे आकाश-मण्डल में व्याप्त हो रहा है। ये पहाड़ियां गिर जाने के भय से मानो दिशाओं में धीरे-धीरे डगमगा रही है। आनन्द से उन्मत्त समुद्र मानो अपने तटवर्ती वनों को अपनी सीमोल्लंघन-कारिणी उत्तालतरंगों से मथ रहा है।'

कुन्दमाला में कुछ स्थलों पर खंडित वाक्य मिलते हैं। उनकी प्राकृत में भी कहीं-कहीं कुछ ऐसे प्रयोग हैं जिनका संस्कृत रूपान्तर नहीं हो सका है। कुन्दमाला के अधिक अध्ययन तथा प्रचार से इन त्रुटियों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

कृष्णमिश्र

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के रचयिता कृष्णमिश्र जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में हुए थे। इस राजा का १०६८ ई० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय ११०० ई० के लगभग था।

संस्कृत नाटकों में प्रबोधचन्द्रोदय शान्तरसप्रधान नाटक है। यह एक रूपकात्मक (Allegorical) नाटक है, जिसमें वेदान्त के अद्वैतवाद का रोचक ढङ्ग से प्रतिपादन किया गया है। भास के बालचरित में सर्वप्रथम अमूर्त भावों को पात्रों के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास की सफल और चरम परिणति प्रबोधचन्द्रोदय में देख पड़ती है। इसमें कवि ने विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त भावों को पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप में कल्पित कर अध्यात्मविद्या का सुन्दर उपदेश दिया है। दार्शनिक दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त महत्वमय है। इसमें भक्ति और ज्ञान का अपूर्व समन्वय किया गया है। इसके दार्शनिक पद्य बड़े प्रभावोत्पादक हैं। इसके पद्यों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावली-
निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ् मग्नोऽपि नाचामति।
निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब-
त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति॥ ४।६

'इस ब्रह्मरूपी प्रशान्त महासागर में कहीं विकाररूपी तरंगें नहीं उठतीं, सर्वत्र अनन्त महिमा व्याप्त हो रही है, सांसारिक विषय-वासनाओं से शून्य निर्मल ज्ञानरूपी आनन्द प्रसार पा रहा है। ऐसे अमृतमय जल में निरन्तर निमग्न रहने पर भी यह मूढ़ मानव उसका जरा भी आस्वादन नहीं करता। किन्तु दूसरी ओर बार बार निराश होने पर भी संसार के मृगतृष्णा-तुल्य निस्सार जल का बारम्बार पान करता है, आस्वादन करता है, उसमें डुबकी लगाता है, रमण करता है तथा डूबता-उतराता है।' शोकरूपी वृक्ष किस प्रकार पल्लवित होता है, इसका रूपकात्मक वर्णन देखिए—

उप्यन्ते विषवल्लिबीजविषमाः क्लेशाः प्रियाख्या नरै-
स्तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति नचिराद्वज्राग्निगर्भांकुराः।
येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतभुग्दाहं दहन्तः शनै-
र्देहं दीप्तशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः॥ ५।१६

'विषलता के बीजों के समान अनर्थकारी पुत्र-कलत्ररूपी क्लेश-बीजों को मनुष्य इस संसार में बोते हैं। इन बीजों से शीघ्र ही वज्राग्नि के समान संतापकारक स्नेहासक्ति-रूपी अङ्कुर फूट निकलते हैं। इन्हीं अङ्कुरों से शोकरूपी वृक्षों का प्रादुर्भाव होता है, जो हजारों दुःखरूपी ज्वालाओं से युक्त हो तुषाग्नि (भूसी की आग) की तरह मनुष्यों की देह को भीतर ही भीतर जलाया करते हैं।' अतएव इस अज्ञानरूपी जड़ वाले संसार वृक्ष का समूल नाश करने का एकमात्र उपाय यही है कि जगदीश्वर परमात्मा के आराधन-बीज से प्रादुर्भूत तात्त्विक ज्ञान का ही आश्रय लिया जाय—

अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः॥ ४।७

प्रबोधचन्द्रोदय का ही अनुकरण कर तेरहवीं शताब्दी में यशःपाल ने मोहपराजय, चौदहवीं शताब्दी में वेङ्कटनाथ ने संकल्प-सूर्योदय तथा सोलहवीं शताब्दी में कवि कर्णपूर ने चैतन्यचन्द्रोदय नामक रूपकात्मक नाटकों की रचना की। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अयोध्याकाण्ड में पञ्चवटी के वर्णन-प्रसंग में जिस आध्यात्मिक रूपक की रचना की है, उसमें प्रबोधचन्दोदय के पात्रों को भी अपनाया है। कवि केशवदास ने इसका छन्दोबद्ध अनुवाद 'विज्ञान गीता' में किया है।

जयदेव

प्रसन्नराघव के कर्ता जयदेव (१२०० ई०) विदर्भदेश के कुंडिननगर के निवासी थे। उनके पिता का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रा था। उन्होंने 'चन्द्रालोक' नामक प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ की रचना की है। ये 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव से सर्वथा भिन्न है। कवि होने के साथ ही वे उच्चकोटि के तार्किक भी थे। प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में वे स्वयं कहते हैं—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः॥ १।१६

'जिसकी वाणी काव्य की कोमलकान्तपदावली की रचना करने में सहज ही समर्थ हो, यदि वह तर्कशास्त्र के कर्कश और वक्र वाक्यों का की गुम्फन कर सके तो इसमें आश्चर्य की कौन

सी बात ! क्या जो लोग आनन्दपूर्वक अपनी प्रिया के कुचमण्डल का स्पर्श अपनी उंगलियों से करते हैं, वे ही बड़े-बड़े मतवाले हाथियों के मस्तक पर उन्हीं उंगलियों से बाणसंधान नहीं करते ?'

प्रसन्नराघव सात अंकों का नाटक है। इसमें रामायण की कथा अनेक रोचक परिवर्तनों के साथ चित्रित है। पहले अङ्क में बाणासुर और रावण दोनों सीता की याचना कर उपहासास्पद बनते हैं। दूसरे अङ्क में राम जनकपुर के उद्यान में सीता को अपनी सखी के साथ भ्रमण करते देखते हैं। राम और सीता दोनों वासन्ती-लता तथा सहकार-वृक्ष के संयोग का वर्णन कर अपने भावी मिलन की ओर उत्कण्ठापूर्ण संकेत करते हैं। दोनों में साक्षात्कार होता है और वे परस्पर आकृष्ट होते हैं। तीसरे अंक में सीता-स्वयंवर तथा चौथे अंक में राम का परशुराम से युद्ध होता है। पांचवें अंक में घटनाओं के वर्णन में कवि की अनूठी सूझ देख पड़ती है। नदियों के संवाद द्वारा राम-वनवास से लेकर सीता-हरण तक की घटनाओं से पाठकों को परिचित करा दिया जाता है। छठे अंक में विरही राम को दो विद्याधर माया द्वारा लंका की घटनाएं दिखाते हैं। सीता रावण के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती हैं। रावण क्रोधवश उन्हें मार डालने के लिये आगे बढ़ता है, इतने में ही उसके हाथ में उसके पुत्र अक्ष का कटा सिर आ जाता है। सातवें अंक में रावण-वध कर राम आकाश-मार्ग से अयोध्या लौट आते हैं।

भवभूति के समान जयदेव का संस्कृत भाषा पर असामान्य अधिकार था। उनकी भाषा में अद्भुत विलास एवं लालित्य है। पदशय्या इतनी मसृण एवं उदार है कि भाषा में अपूर्व

रमणीयता आ गई है। उन्होंने अपने विषय में जो गर्वोक्ति की है—'विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः'—वह बहुत-कुछ उपयुक्त है। उनकी शैली बड़ी ही प्रांजल, प्रासादिक, परिष्कृत एवं मधुर है। उनकी उपाधि 'पीयूषवर्ष' सर्वथा उचित है। सच पूछा जाय तो प्रसन्नराघव में जितना नाटकीय सौन्दर्य नहीं है उससे कहीं अधिक सूक्ति-सौन्दर्य पर ही मुग्ध होकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने उनके कई पद्यों को अपने रामचरितमानस में अनुवाद करके स्वीकार कर लिया है१। उनकी शैली के कुछ नमूने देखिए—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः॥ १।१६

'इस संसार में भला ऐसे सज्जन कितने हैं जो स्वरचित रचनाओं से आनन्दित होते हुए भी दूसरों की काव्य-कृतियों पर पूर्ण परितोष प्रकट करते हैं? क्या आम्र का वह वृक्ष, जिसका थाला अपने सघन मकरन्द रस से ही भर रहा हो, घड़ों के जल से सींचे जाने की कामना नहीं करता?'

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि॥ ६।१

१—तुलसी-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृष्ठ १६३-१७४

सीता के वियोग से व्यथित राम पूर्व दिशा में पूर्णचन्द्रमण्डल को उदित होते देख लक्ष्मण से कहते हैं—'हे लक्ष्मण, चलो किसी पेड़ के नीचे चलें, क्योंकि देखो यह प्रचण्ड सूर्य उदित हो रहा है।'

लक्ष्मण—'हे राघव, रात में सूर्य कहां से आयेगा? यह तो चन्द्रिमा उदित हो रहा है।'

राम—'हे वत्स, यह बात तुम्हें कैसे मालूम हुई?'

लक्ष्मण—'क्योंकि यह मृग के चिन्ह को धारण कर रहा है।' लक्ष्मण के मुख से मृग का नाम सुनते ही मृगनेत्री सीता का स्मरण कर राम कह उठते हैं—'हा प्रियतमे, मृगनयनी, चन्द्रमुखी जानकी! तुम कहां हो?' प्रसन्नराघव के कमनीय शब्द-विन्यास के कुछ नमूने देखिए—'युवतिलोकललामवल्ली', 'कलकण्ठीकण्ठ-संवादभूमिः', 'सततसुखसंवासवसतिः', 'केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय।'

वत्सराज

ये कालंजरनरेश परमर्दिदेव (११६३–१२०३ ई०) के मंत्री थे। इन्होंने छः नाटकों की रचना की—(१) किरातार्जुनीय व्यायोग भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य के आधार पर रचा गया एकांकी 'व्यायोग' है। (२) कर्पूरचरित एक अंक का 'भाण' है, जिसमें द्यूतकर कर्पूर अपने रोचक अनुभवों का वर्णन करता है। (३) हास्यचूडामणि एकांकी 'प्रहसन' है। (४) रुक्मिणीहरण चार अंकों का 'ईहामृग' है। (५) त्रिपुरदाह चार अंकों का 'डिम' है, जिसमें शिव द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंस का वर्णन है। (६) समुद्र-मन्थन तीन अंकों का 'समवकार' है। इसमें देवताओं और राक्षसों द्वारा समुद्र-मन्थन, समुद्र से चौदह

रत्नों की उत्पत्ति, विष्णु और लक्ष्मी का प्रणय तथा विवाह इत्यादि घटनाएँ वर्णित हैं।

भास के अनन्तर वत्सराज ही ऐसे नाटककार हुए हैं जिन्होंने इतने विविध प्रकार के रूपकों की रचना की है। उनकी शैली सरल, सशक्त और ललित है। उसमें दीर्घ समासों तथा दुरूह वाक्य-विन्यास का प्रयोग नहीं किया गया है। उनके छोटे-छोटे नाटकों में नाटकीय क्रियाशीलता, रोचकता तथा घटनाओं की प्रधानता देख पड़ती है। उनकी शैली का नमूना देखिए—

सिध्यन्ति कामा: बलिना बलेन लोकस्थितिः किन्तु न लंघनीया।
दृष्ट्यैव संहर्त्तुमलं गिरीशः शत्रुच्छिदे सज्जयति त्रिशूलम्॥रु०ह०२।१२

बारहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटकों का प्रचार क्रमशः कम होता गया इसका एक कारण यह था कि कविगण अपनी रचनाएँ सुशिक्षित शिष्टवर्ग के लिये करते थे, अतः जनसाधारण के लिये दुर्बोध होने के कारण उनकी कृतियों का प्रचार व्यापक न हो सका। दूसरे, देश में विधर्मियों का शासन स्थापित हो जाने के बाद संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन और सृजन को राजकीय प्रोत्साहन मिलना बन्द हो गया। तीसरे, संस्कृत का प्रयोग दैनिक व्यवहार में कम होता गया और उसका स्थान धीरे-धीरे प्रान्तीय भाषाओं ने ले लिया। फिर भी संस्कृत कई शताब्दियों तक नाटकों की भाषा बनी रही। उदाहरणार्थ, विद्यापति ठाकुर के नाटकों में पात्र संस्कृत और प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं, केवल पद्य मैथिली में हैं। सारे मध्ययुग में तथा अभी तक संस्कृत नाटक लिखे जाते हैं। संस्कृत नाटकों की एक हाल की सूची में ६५० नाटकों के नाम दिये गये हैं।

प्रो० सिल्वन लेवी के शब्दों में भारत की मौलिकता उसकी नाट्यकला में पूर्णतया अभिव्यक्त हुई है—इस कला में भारत की रूढ़ियों, सिद्धान्तों और संस्थाओं का मिला-जुला सार पाया जाता है। नाटक भारतीय प्रतिभा का सर्वोत्तम आविष्कार है, भारत की साहित्यकला का चरम निचोड़ है।

ऊपर संस्कृत के प्रमुख एवं प्रसिद्ध नाटककारों तथा उनकी रचनाओं का विवेचन किया गया है। बारहवीं शताब्दी के बाद रचे गये संस्कृत नाटकों का प्रचार जनता में कम हुआ। उनमें से कुछ प्रसिद्ध कृतियों तथा उनके कर्ताओं का उल्लेखमात्र कर यह अध्याय समाप्त किया जाता है—जयसिंहसूरि-कृत हम्मीरमदमर्दन (१२३० ई०); जगदीश्वर-कृत हास्यार्णव (१६०० ई०); रामभद्रदीक्षित-कृत जानकीपरिणय (१७००ई०); शेक्सपियर के 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' के आधार पर आर० कृष्णमाचारी-कृत वासन्तिकस्वप्न (१८९२ ई०); लक्ष्मणसूरि-कृत दिल्ली-साम्राज्य (१९१२ ई०) तथा मूलशङ्कर याज्ञिक बी०ए० कृत छत्रपतिसाम्राज्य, प्रतापविजय और संयोगिता-स्वयंवर।

संस्कृत नाटकों की विशेषताएं

संस्कृत के नाटक रस-प्रधान होते हैं। उनमें वास्तविकता अथवा कथा-वस्तु की यथार्थता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में किसी रसविशेष का संचार करने की ओर। कवि की विदग्धता केवल रसाभिव्यक्ति की पूर्णता में ही मानी जाती थी। रस ही नाट्यकला का प्रधान लक्ष्य माना गया। प्रधान रस शृङ्गार अथवा वीर इन्हीं दो से कोई होता था। पाश्चात्य नाटकों की तरह चरित्र-चित्रण नाटक का मुख्य अङ्ग नहीं समझा गया। अतः नाटकों

में प्राय: ऐसी ही कथा का आश्रय लिया गया जो प्रसिद्ध होने के कारण प्रेक्षकों के मनोनुकूल हो। इस प्रकार संस्कृत नाटक रसप्रधान तथा कवित्वमय हुए और उनमें आदर्शवाद की सृष्टि हुई। इसका आशय यह नहीं कि संस्कृत नाटक में वास्तविकता का अस्तित्व ही नहीं। सच पूछा जाय तो संस्कृत नाटकों का ही नहीं अपितु समग्र संस्कृत काव्य-साहित्य का उद्देश्य यथार्थ और आदर्श दोनों का समुचित समन्वय उपस्थित करना था।

संस्कृत नाटकों में पात्रों की संख्या नियत नहीं रहती। पात्र लौकिक, दिव्य अथवा अर्धदिव्य होते हैं। कवियों ने व्यक्तिमूलक (individual) पात्रों की अवतारणा की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना समुदायगत (typical) चरित्रों की सृष्टि की ओर। कालिदास, शूद्रक प्रभृति कुछ महान् कलाकारों की कृतियों में भले ही पात्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हों, किन्तु साधारणतया संस्कृत नाटककारों ने परम्पराभुक्त चरित्रों का ही निर्माण किया है। स्वप्नवासवदत्त, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमञ्जरी आदि के नायक-नायिकाओं के व्यक्तित्व में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। पात्र अपनी अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। संस्कृत का प्रयोग केवल नायक अथवा उच्च वर्ग के पात्रों द्वारा होता है। निम्नश्रेणी के लोग और स्त्री-पात्र प्राकृत में ही बोलते हैं।

संस्कृत नाटकों में एरिस्टॉटल द्वारा निर्दिष्ट समय और स्थान की अन्विति (unities of time and place) भी नहीं पाई जाती। केवल 'कर्णभार' और 'ऊरुभङ्ग' दो अपवाद हैं। पाश्चात्य नाटकों की भांति संस्कृत नाटक के अङ्कों का विभाजन विभिन्न दृश्यों में नहीं होता भाषा गद्यपद्यमय होती है। पद्यों को प्राय: स्वर से पढ़ा जाता है। नाटक के अन्तर्गत नाटक, पत्रलेख,

अभिज्ञान (पहिचान की निशानी), विदूषक आदि के उपभोग में संस्कृत तथा पाश्चात्य नाटकों में समानता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत नाटक अभिनय के लिये ही लिखे जाते थे, क्योंकि इनमें नाटकीय निर्देश और अभिनयसंकेत भी दिये गये हैं। दर्शकों के बैठने के लिये नियम भी बने थे। स्त्री पात्रों का अभिनय नटियां किया करती थीं। नाटक का कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक या कवि कल्पित होता है। उसमें रङ्गमञ्च पर वध, युद्ध, विवाह, भोजन, यात्रा, मृत्यु आदि अशुभ या व्रीडाजनक व्यापारों का अभिनय निषिद्ध माना गया है।

संस्कृत नाटक प्रायः सुखान्त होते हैं किन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं कि संस्कृत में दुःखान्त नाटकों का नितान्त अभाव है। यदि दुःखान्त नाटक का अर्थ नायक के शोक, पराभव और मृत्यु का चित्रण करना है तो इस दृष्टि से कर्णभार, ऊरुभङ्ग, वेणीसंहार और चण्डकौशिक निश्चित रूप से दुःखान्त नाटक माने जाने चाहिए। कर्णभार में कर्ण की मृत्यु तो नहीं होती, पर कवच-कुण्डलों से वञ्चित हो जाने के रूप में वह अपने जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति मोल ले लेता है। ऊरुभङ्ग में दुर्योधन की रङ्गमञ्च पर मृत्यु हो जाती है और वेणीसंहार में उसकी मृत्यु की सूचना हमें द्वारपाल के द्वारा मिलती है। चण्डकौशिक में भी हरिश्चन्द्र दुःखों से अभिभूत हो अन्त में स्वर्ग जाते हैं[१]।

प्रत्येक संस्कृत नाटक का आरम्भ 'प्रस्तावना' से होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार, नटी, विदूषक अथवा परिपार्श्वक के साथ

१—*S. Ramachandra Rao:* Tragedies in Sanskrit, Proceedings of 8th. Oriental Conference 1935, pp. 274—301.

बातचीत करता हुआ नाटक की कथावस्तु और कवि का संक्षिप्त परिचय देकर नाटक का आरम्भ कराता है। अङ्क की समाप्ति तक रङ्गमञ्च कभी खाली नहीं रहता। प्रथम अङ्क के आरम्भ में अथवा दो अङ्कों के बीच में 'विष्कम्भक' का प्रयोग होता है, जिसमें संवाद या स्वागत-भाषण द्वारा प्रेक्षकों को ऐसी घटनाओं की सूचना दी जाती है जिनका रङ्गमञ्च पर दिखलाया जाना आवश्यक नहीं, किन्तु कथासूत्र के निर्वाह के लिये जिनका जानना अनिवार्य है। नाटक की समाप्ति 'भरतवाक्य' से होती है, जिसमें प्रधानपात्र देश या समाज की उन्नति की शुभकामना करता है। संस्कृत नाटक में कम से कम पांच और अधिक से अधिक दस अङ्क होते हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध देख पड़ता है। प्रकृति की रमणीयता नाटक की चारुता में अभिवृद्धि करती है। उपवन के वृक्ष, लताएं, नदियां, पशु, पक्षी आदि सभी नाटक के सजीव अङ्ग हैं। संस्कृत नाटकों में अन्तःप्रकृति के साथ ही बाह्यप्रकृति का भी सुन्दर एवं विशद चित्रण पाया जाता है। अन्तःप्रकृति की सूक्ष्म एवं सुकुमार भावनाओं के चित्रण के लिये बाह्य-प्रकृति चित्रफलक का कार्य करती है।

संस्कृत नाटकों की रचना का कलात्मकप्रभाव क्या है? इस इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नाट्यशास्त्र में भरत कहते हैं कि नाटक दुःख, परिश्रम अथवा शोक से त्रस्त लोगों के लिये विश्राम और विनोद का साधन है—

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।
विनोदजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

कालिदास ने भी नाटक को भिन्न रुचि वाले लोगों का एक सामान्य मनोविनोद बतलाया है—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुध्याप्येकं समाराधनम्' (माल० १।४)। भवभूति ने अच्छे नाटकों के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्द्रहृद्यानि विचेष्टितानि ।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च ॥मा०मा० १।६

'विभिन्न रसों का प्रचुर एवं गहन प्रयोग; प्रीतिपूर्ण, रुचिर एवं कमनीय कार्य-कलापों का अभिनय; पराक्रम और प्रणय का चित्रण; विचित्र कथावस्तु तथा निपुण संवाद (ऐसे लक्षणों से युक्त नाटक ही उत्कृष्ट माने जाते हैं)।' धनञ्जय ने दशरूपक में कहा है कि नाटकों की रचना तो केवल आनन्दातिरेक की विशुद्ध अभिव्यक्ति मात्र है; जो अल्प-बुद्धि उन्हें इतिहास आदि के समान व्युत्पत्तिजनक बौद्धिक ग्रन्थ ही मानता है, उसे कलाजन्य सौन्दर्य अथवा आनन्द का लेशमात्र भी बोध नहीं—

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाया ॥ १।६

इस अध्याय के १७ प्रमुख नाटककारों की नामावली इस प्रकार है—

१–भास; २–शूद्रक; ३–कालिदास; ४–अश्वघोष; ५–हर्ष; ६–भवभूति; ७–विशाखदत्त; ८–भट्टनारायण; ६–मुरारि; १०–शक्तिभद्र; ११–दामोदर मिश्र; १२–राजशेखर; १३–क्षेमीश्वर; १४–दिङ्नाग; १५–कृष्णमिश्र; १६–जयदेव; १७–वत्सराज ।

५

गद्य--साहित्य

उत्पत्ति तथा विकास—संस्कृत में गद्य का प्रयोग वैदिक काल से होता आया है। कृष्णयजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् अधिकांश गद्य में ही है। तत्पश्चात् गद्य का प्रयोग महाभारत में देख पड़ता है। यास्क (७०० ई० पू०) का 'निरुक्त' गद्य में विरचित है। पतंजलि (१५० ई० पू०) ने अपना महा-भाष्य गद्य में लिखा है। पद्य की अपेक्षा गद्य की श्रेष्ठता दिखलाने के लिये ही प्राचीन काल से यह उक्ति प्रचलित है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—'गद्य ही कवियों की कसौटी है।' संस्कृत साहित्य में गद्य का उपयोग प्रधानतया टीकाओं में, व्याकरण-ग्रन्थों में तथा ज्योतिष आदि वैज्ञानिक ग्रन्थों में हुआ है। काव्य-माध्यम की दृष्टि से गद्य का स्थान पद्य की अपेक्षा गौण है और उसका प्रयोग कथाओं में, आख्यायिकाओं में तथा आंशिक रूप में नाटकों में हुआ है।

संस्कृत गद्य-काव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इसका उद्भव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। गद्य-काव्य का सर्वप्रथम दर्शन दण्डी, सुबन्धु और बाण की कृतियों में होता है, वह भी पूर्ण विकसित रूप में। उनके पूर्व के लेखकों तथा रचनाओं का इतिहास निबिड़ अन्धकार में छिपा है। हाँ, इतना तो निश्चित है कि गद्य-काव्य भी संस्कृत साहित्य की एक परम प्राचीन शाखा

है। कात्यायन (३०० ई० पू०) अपने वार्त्तिक में 'आख्यायिका' का उल्लेख करते हैं[१]। पतंजलि अपने महाभाष्य में तीन आख्यायिकाओं से परिचित हैं—'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी'[२]। बृहत्कथा, पंचतन्त्र की कथाएं तथा तन्त्राख्यायिका में 'कथा' और 'आख्यायिका' (जो गद्य-काव्य के ही दो भेद हैं) का जो उल्लेख है, उनका गद्य-काव्य से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं। पर यह निर्विवाद है कि गद्य-काव्य की सृष्टि पद्य-काव्य से लोककथाओं के माध्यम द्वारा ही हुई है। बाण 'हर्षचरित' में भट्टार हरिचन्द्र[३] नामक एक उच्चकोटि के गद्य लेखक का उल्लेख करते हैं, किन्तु उनका कोई गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। कुछ उपलब्ध शिलालेखों से गद्य-काव्य का प्रचार एवं प्रसार स्पष्ट लक्षित होता है। रुद्रदामन् के शिलालेख (१५० ई०) में अलंकृत गद्य-शैली का प्रयोग हुआ है। गुप्तकालीन एक शिलालेख (४०० ई०) ऐसी शैली में रचित उपलब्ध हुआ है, जिसकी तुलना बाण की गद्य–शैली से हो सकती है। इन प्रमाणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि गद्य-काव्य की कला का प्रचार दण्डी, सुबन्धु और बाण से कई शताब्दी पूर्व से ही रहा होगा, किन्तु इन कलाकारों ने अपने अनुपम तथा उत्कृष्ट गद्य-काव्यों के प्रभाव से अपने पूर्ववर्ती लेखकों को ऐसा आच्छादित कर दिया कि उनमें से बहुतों के नाम भी उपलब्ध

१—'लुबाख्यायिकेभ्यो बहुलम्', 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च— वार्त्तिक।

२—'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' बहुलं लुग्वक्तव्यः। वासवदत्ता सुमनोत्तरा। न च भवति। भैमरथी। महाभाष्य ४।३।८७

३—पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ हर्षचरित

नहीं होते। दण्डी, सुबन्धु और बाण गद्य-काव्य के विकास-काल की चरमोन्नति के प्रतिनिधि लेखक हैं। इनसे पूर्व दीर्घकाल तक साहित्य के इस अङ्ग का अभ्यास होता रहा होगा, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। वररुचिकृत 'चारुमती', रामिल-सोमिलकृत शूद्रक-कथा[१], तथा श्रीपालिकृत 'तरङ्गवती'[२] इस कथन की पुष्टि करते हैं। यद्यपि ये लेखक और ये ग्रन्थ हमारे लिये केवल नाममात्र ही हैं, तथापि वे गद्यकाव्य की उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास के परिचायक हैं।[३]

कथा और आख्यायिका—संस्कृत गद्य-साहित्य के प्रधान रूपसे दो विभाग किये गये हैं—'कथा' और 'आख्यायिका'। दण्डी[४] के अनुसार इनमें निम्नलिखित भेद होते है—(१) कथा कविकल्पित होती है, आख्यायिका ऐतिहासिक इतिवृत्त पर अवलम्बित[५]। (२) कथा में वक्ता स्वयं नायक अथवा अन्य कोई रहता है; आख्यायिका में नायक स्वयं वक्ता होता है। आख्यायिका को हम एक प्रकार से आत्म-कथा कह सकते हैं। (३) आख्यायिका का विभाग अध्यायों में किया जाता है, जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं, तथा उसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्द के पद्यों का समावेश रहता है, पर कथा में नहीं। (४) कथा में कन्याहरण, संग्राम, विप्रलंभ, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि

१—तौ शूद्रककथाकारौ वन्द्यौ रामिलसौमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम्॥ जल्हण

२—'पुण्या पुनाति गंगेव गां तरंगवती कथा'—तिलकमंजरी

३—*S. N. Vyas*: 'Origin and development of Sanskrit Prose', Introduction to संस्कृत गद्यमंजरी।

४—काव्यादर्श १।२३–३०

५—'आख्यायिकोपलब्धार्था', 'प्रबन्धकल्पना कथा'—अमरकोष १।५।५,६

विषयों का वर्णन रहता है, पर आख्यायिका में नहीं। (५) कथा में लेखक किसी अभिप्राय से कुछ ऐसे विशेष शब्दों (catchwords) का प्रयोग करता है जो कथा और आख्यायिका में भेद स्थापित करते हैं।

उपर्युक्त नियमों का एकांततः पालन संस्कृत गद्य-लेखकों ने नहीं किया है। दण्डी स्वयं कहते हैं कि कथा-आख्यायिका में कोई महत्व का भेद नहीं। इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि ये गद्य-काव्य के दो नाममात्र हैं।

दण्डी

गद्य-काव्य के लेखकों में सब से प्राचीन कृतियां महाकवि दण्डी की उपलब्ध होती है। 'शार्ङ्गधरपद्धति' में राजशेखर के नाम से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

इस कथन के अनुसार दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की। इनमें से दो काव्यादर्श और दशकुमारचरित हैं। काव्यादर्श अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ है तथा दशकुमारचरित गद्य-काव्य है। काव्यादर्श में गद्य-काव्य की शैली एवं कथावस्तु के सम्बन्ध में जिन नियमों का विधान किया गया है, उनका सर्वथा पालन दशकुमारचरित में नहीं देख पड़ता। अतः कुछ विद्वानों की धारणा है उक्त दोनों कृतियां दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की लेखनी से प्रसूत हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने दशकुमारचरित की रचना अपने साहित्यिक जीवन के प्रभातकाल में की, तथा काव्यादर्श की रचना प्रौढ़ प्रतिभा की प्राप्ति के पश्चात्। दण्डी की तीसरी रचना के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना

है कि दण्डी की तृतीय रचना छन्दोविचिति या कलापरिच्छेद है, क्योंकि काव्यादर्श[१] में इन नामों का उल्लेख है। पर उक्त दोनों नाम छन्दःशास्त्र-सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ के हो सकते हैं। पिशेल ने निम्नलिखित दो आधारों पर मृच्छकटिक को दण्डी की तीसरी रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है—(१) 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' वाला प्रसिद्ध पद्य काव्यादर्श (२।२२६) तथा मृच्छकटिक (१।३४) दोनों में पाया जाता है। (२) मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित का सामाजिक चित्रण एक-सा है। अतः दोनों दण्डी की रचनाएं हैं। परन्तु भास के नाटकों की खोज के उपरान्त पहला तर्क निराधार हो जाता है तथा दूसरे तर्क में भी औचित्य नहीं देख पड़ता। कुछ पण्डितों ने 'मल्लिका-मारुत' नामक नाटक को दण्डी की रचना माना है। किन्तु यह नाटक मालाबार प्रान्त के उद्दण्ड रङ्गनाथ (१५०० ई०) की रचना स्वीकृत हो चुका है[२]। भोजदेव ने 'द्विसन्धानकाव्य' का दण्डी की रचना के रूप में उल्लेख किया है और उसका एक श्लोक भी उद्धृत किया है[३]। सन् १६२४ में अवन्तिसुन्दरीकथा नामक एक अपूर्ण गद्य-काव्य प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक एम० आर० कवि महोदय ने इसे दण्डी की रचना माना है[४]। अवन्तिसुन्दरीकथा और दशकुमारचरित के कथानकों में समानता है। अन्तर केवल शैली में है। अवन्तिसुन्दरीकथा की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं, क्योंकि काव्यादर्श की जंघाल-

---

१—१।२१, ३।१७१

२—Keith: *Sanskrit Drama*, p. 237.

३—उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः ।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः ॥

४—Pro. of Or. Conf. 1922, pp. 193-2o1.

कृत टीका में अवन्तिसुन्दरी नामक आख्यायिका का उल्लेख किया गया है। अतः अवन्तिसुन्दरीकथा को ही विद्वानों ने दण्डी की तीसरी रचना माना है।

दण्डी के आविर्भावकाल के विषय में बहुत मतभेद है। ६ वीं शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का उल्लेख पाया जाता है। डा० बार्नेट[१] का कथन है कि सिंहाली भाषा के अलङ्कार-ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालङ्कार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है। इसके रचयिता राजा सेन प्रथम का समय ८४६-८६६ ई० था। ८१४ ई० कन्नड़ी अलङ्कार-ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में भी काव्यादर्श की यथेष्ट छाप देख पड़ती है। अतः दण्डी ८०० ई० के पहले ही हुए होंगे।

काव्यादर्श के कुछ पद्यों में कालिदास का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है[२]। अतः दण्डी कालिदास के बाद के हैं। इसके अतिरिक्त काव्यादर्श में पांचवीं शताब्दी के राजा प्रवरसेन-रचित 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख है। अतएव दण्डी का आविर्भाव-काल ५००—८०० ई० के बीच प्रतीत होता है।

दण्डी बाण के पहले हुए थे या बाद में, इस विषय में मतभेद है। पीटरसन और याकोबी की सम्मति में काव्यादर्श के एक पद्य[३] में 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश की झलक मिलती

१—J. R. A. S. 1906, p. 841.

२—'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीति सुभगं वचः'—दण्डी
'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'—कालिदास

३—अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥ काव्यादर्श २।१९७
केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्। —कादम्बरी

है। दण्डी ने बाण और मयूर की प्रशंसा की है१। अवन्ति-सुन्दरी कथा में कादम्बरी का वर्णन बाण की प्रसिद्ध कथा से मिलता-जुलता है। डा० बेलवेलकर२ ने दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है। कुछ विद्वान् अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर दण्डी को भारवि का प्रपौत्र मानकर उनका उक्त समय ही निर्धारित करते हैं।

किन्तु दण्डी की शैली के अध्ययन से वे बाण के पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। दशकुमारचरित की सरल एवं प्रासादिक शैली बाण की शैली से प्रभावित हुई नहीं जान पड़ती। यदि दण्डी बाण के परवर्ती होते तो उनकी शैली बाण की शैली के समान श्लेष और वक्रोक्ति जैसे अलङ्कारों से अवश्य आक्रान्त होती। इसके अतिरिक्त दशकुमारचरित का भौगोलिक३ और राजनीतिक चित्रण हर्षवर्धन के पूर्व के भारत की ओर संकेत करता है। इसलिये दण्डी का स्थितिकाल ६०० ई० के लगभग प्रतीत होता है।

काव्यादर्श और दशकुमारचरित के आधार पर मालूम होता है कि दण्डी दक्षिणात्य थे और विदर्भ देश के निवासी थे। काव्यादर्श४ में उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत तथा वैदर्भी शैली की प्रशंसा की है। दशकुमारचरित में कलिंग और आन्ध्र देशों के उल्लेख से, 'कावेरीतीरपत्तन' जैसे शब्दों के प्रयोग से तथा दक्षिण में प्रचलित सामाजिक एवं पारिवारिक प्रथाओं के वर्णन

१—भिन्नतीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्यवहारेषु जहौ लीलां न मयूरः······॥

२—Notes on काव्यादर्श pp. 176-77.

३—Collins: *The Geogrrphical Data of the* रघुवंश *and* दशकुमारचरित (1907), p. 46. ४—१।३४, ४१, ४२।

से भी उनका दाक्षिणात्य होना प्रमाणित होता है। दशकुमारचरित के अवलोकन से पता चलता है कि दण्डी एक सम्पन्न व्यक्ति थे तथा उन्होंने सभी प्रकार के सांसारिक अनुभव प्राप्त किये थे।

दशकुमार-चरित का वर्तमान उपलब्ध स्वरूप तीन भागों में विभाजित है—(१) पूर्वपीठिका, जिसमें ५ उच्छ्वास हैं, (२) दशकुमारचरित जिसमें ८ उच्छ्वास हैं तथा (३) उत्तरपीठिका। इनमें से केवल मध्य भाग अर्थात् दशकुमारचरित ही दण्डी की वास्तविक रचना माना जाता है। इतना तो स्पष्ट है कि आरम्भ में दण्डी ने सम्पूर्ण दशकुमारचरित की रचना स्वयं की होगी, किन्तु किसी कारणवश इस ग्रन्थ के आदि तथा अन्त भाग नष्ट हो गए। इस पर दण्डी के किसी भक्त ने, जो मूल ग्रन्थ की शैली एवं कथावस्तु से अवगत रहा होगा, पूर्व तथा उत्तर पीठिका जोड़कर ग्रन्थ को पूर्ण बना दिया। एम० आर० कवि महोदय ने एक और कारण सुझाया है। उनके अनुसार १२५० ई० के लगभग दण्डी के मूल ग्रन्थ का तेलगू में अनुवाद हुआ था। समग्र मूल ग्रन्थ के उपलब्ध न होने पर किसी कुशल लेखक ने बाद में नष्ट हुए भागों का तेलगू से संस्कृत में पुनः रूपान्तर कर दिया।

दशकुमारचरित में दस राजकुमार अपने-अपने पर्यटनों, विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन करते हैं। इसे 'धूर्तों का रोमांस' कहना अनुचित न होगा। छल-कपट, मार-काट तथा चोरी-जारी से ओत-प्रोत यह एक सजीव कृति है। व्यङ्ग और विनोद का पुट देकर उसमें तत्कालीन समाजका बड़ा ही गोचर चित्रण किया गया है। साहस-प्रेमी राजकुमार किस प्रकार उचित अनुचित का विचार छोड़ अपने कार्य की

सिद्धि के लिये प्रयत्न करते रहे हैं, इसका वर्णन एक अनूठी व्यंगात्मक शैली में किया गया है। दम्भी, तपस्वी, कपटी ब्राह्मण, धूर्त कुट्टनी, व्यभिचारिणी स्त्रियां तथा हृदयहीन वेश्याएं—इन सबका खूब भंडाफोड़ किया गया है। दशकुमारचरित में जहां कथानक विचित्र है वहां उसके अनुरूप वर्णनशैली भी सरस एवं प्रवाहपूर्ण है। 'कहीं विलास का विकास हृदय को उन्मत्त कर रहा है; कहीं सौंदर्य का सौरभ अन्तरात्मा को बेसुध बना रहा है; कहीं हास की कोमल लहरी मानसतल को अनूठे ढङ्ग से तरङ्गित कर रही है।' दण्डी का चरित्र-चित्रण विशद है। उनके सभी पात्र सजीव और वास्तविक प्रतीत होते हैं। समाज के उच्च और निम्नवर्ग का वे जीता-जागता चित्र उपस्थित कर देते हैं। दशकुमारचरित से उस समय की प्रचलित अनेक सामाजिक प्रथाओं का भी परिचय मिलता है। दण्डी का रचना-कौशल भी दर्शनीय है। कथा की रोचकता में अभिवृद्धि करने के लिये वे कहीं शिष्ट-हास्य, कहीं मधुर व्यंग और कहीं गम्भीर वर्णन का आश्रय लेते हैं। कहीं वर्णन विस्तार है तो कहीं लघु कथाएँ। कथाओं का क्रम प्रशंसनीय है। वर्णनप्रवाह दीर्घ विषयान्तरों से आक्रान्त नहीं होता। मुख्य कथा के स्रोत में अवान्तर कथाएँ अवरोध नहीं उपस्थित करतीं। व्याकरण की दृष्टि से भी दशकुमारचरित निर्दोष है। इसमें लिट् और लुङ् लकार के प्रयोग पाणिनीय नियमों के अनुसार हैं, जैसा सुबन्धु की वासवदत्ता में नहीं देख पड़ता। विशद चरित्र-चित्रण नैसर्गिक शैली, बुद्धिविलास, शिष्ट परिहास, विषयान्तरों की न्यूनता, रसानुकूल शब्दविन्यास तथा यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सामंजस्य आदि विशेषताएँ दशकुमारचरित को संस्कृत गद्य-साहित्य में विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं।

दण्डी की शैली—दण्डी सुभग एवं मनोरम वैदर्भी गद्य-शैली के आचार्य कहे जा सकते हैं। उनकी वर्णन-प्रणाली सरल और प्रासादिक है। वे अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से चित्र-विचित्र बनाने का प्रयास नहीं करते। इसी कारण वह नैसर्गिक, प्रवाहपूर्ण, माँजी हुई और मुहावरेदार हैं। दण्डी के गद्य में अपनी विशेषता है। सुबन्धु के गद्य के समान न तो वह 'प्रत्यक्षरश्लेषमय' है और न बाण के गद्य की भाँति 'सरसस्वरवर्णपद' से सुशोभित साहित्यिक गद्य का आदर्श है। वह तो बहुत-कुछ प्रतिदिन के कार्य में आने वाला 'व्यावहारिकगद्य' का नमूना है। वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं। वाक्यविन्यास आयासजनक नहीं, अपितु ओजस्वी, ललित एवं सुव्यक्त हैं। अर्थ की स्पष्टता, रस की सम्यक् अभिव्यक्ति, शब्दविन्यास की चारुता तथा कल्पना की उर्वरता दण्डी की शैली के विशेष गुण हैं। दण्डी के पद-लालित्य की बड़ी प्रशंसा हैं—'दण्डिनः पदलालित्यम्'। अनुप्रासमय तथा मनोरम पदविन्यास में वे कुशल हैं, जैसे 'अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति', 'असत्येनास्य नास्यं संसृज्यते', 'अनेकस्यानेक आतंकश्चिरं चिकित्सकैरसंहार्यःसंहृतः', 'स पुण्यैः कर्मभिः प्राप्य पुरुषायुषं पुनरपुण्येन प्रजानामगण्यतामरेषु' इत्यादि। दण्डी अपने शब्दशोधन में तथा लौकिक सत्यों को ओजःपूर्ण भाषा में व्यक्त करने में कुशल हैं, जैसे—'स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्य', 'आत्मानमात्मनाऽनवसाद्य वोद्धरन्ति सन्तः', 'न ह्यलमति-निपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्', 'इह जगति हि न निरीहं देहिनं श्रियः संश्रयन्ते', 'जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाण्यहानि'। यत्र-तत्र दण्डी अवश्य ही भाषा को अलंकृत करना नहीं चूकते। उदाहरणार्थ, सोती हुई अम्बालिका के वर्णन को लीजिए अथवा

सत्रहवें उच्छ्वास को, जहाँ वे ओष्ठ्य वर्णों का प्रयोग ही नहीं करते। किन्तु उनके वाक्यालंकार परिमित मात्रा में ही प्रयुक्त होते हैं और वे सर्वत्र मनोहर एवं उपयुक्त हैं, न कि दुरूह और अनवरत। सुन्दर, सुभग एवं सुबोध संस्कृत गद्य-लेखक के नाते दण्डी हमारी प्रशंसा के पात्र तथा अध्ययन के आदर्श हैं। एक भारतीय आलोचक ने दण्डी को ही एक मात्र कवि बताया है—'कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः'। एक दूसरे आलोचक ने कहा है कि वाल्मीकि के प्रदुर्भाव के बाद 'कवि' शब्द का एक बचन में प्रयोग हुआ करता था, व्यास के बाद द्विवचन में (कवी) तथा दण्डी के बाद बहुबचन में (कवयः) होने लगा—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

'मधुराविजय' महाकाव्य की रचयित्री गङ्गादेवी ने दण्डी को उच्चकोटि का कवि स्वीकार किया है—

आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसंपदाम्।
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणम्॥

सुबन्धु

वासवदत्ता नामक गद्य-काव्य के रचयिता सुबन्धु का स्थिति-काल अनिश्चित है। कुछ विद्वानों[१] की धारणा है कि सुबन्धु बाण के परवर्ती थे। सुबन्धु कई शब्दों, पदों[२] तथा घटनाओं के लिये बाण के ऋणी हैं। वासवदत्ता में 'इन्द्रायुध' शब्द का प्रयोग[३]

१—M. Krishnamachariar: *Cl. Skt. Lit. p. 469.*
२—जैसे, 'कि बहुना', 'देवः प्रमाणम्', 'अचिन्तयच्च', आसीच्चास्य मनसि'।
३—वज्रेणेवेन्द्रायुधेन मनोजवनाम्ना तुरगेण सह नगरान्निर्जगाम।

चन्द्रापीड के उसी नाम के घोड़े की ओर संकेत करता है। महाश्वेता और कादम्बरी अपने अपने प्रेमियों की मृत्यु पर प्राण दे देने का संकल्प करती हैं, किन्तु आकाशवाणी उन्हें ऐसा करने से रोकती है। 'वासवदत्ता' में भी अपनी प्रेमिका के खो जाने पर कन्दर्पकेतु की ऐसी ही स्थिति दिखाई पड़ती है। साथ ही बाण ने हर्षचरित में उस 'वासवदत्ता' का संकेत किया है, जिसका उल्लेख पतंजलि के ग्रन्थ में है। इन आधारों पर कुछ विद्वान् सुबन्धु का स्थितिकाल बाण के बाद मानते हैं।

उक्त मत के समर्थन में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। टीकाकार भानुचन्द्र (१६०० ई०) के अनुसार बाण ने अपनी 'कादम्बरी' को 'अतिद्वयी कथा' कह कर 'वासवदत्ता' और 'बृहत्कथा' की ओर संकेत किया है। म० म० काणे[१] महादेय ने सप्रमाण दिखाया है कि बाण सुबन्धु के परवर्ती थे तथा उन्होंने हर्षचरित में सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' का ही उल्लेख[२] किया है—(१) वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' में सुबन्धु की 'वासवदत्ता' और बाण की 'कादम्बरी' से उदाहरण दिये हैं। अतः ये दोनों ७५० ई० के पूर्व हुए होंगे। (२) कविराज (१२०० ई०) ने 'राघवपाण्डवीय'[३] में सुबन्धु, बाणभट्ट और स्वयं को वक्रोक्ति में कुशल बताया है। ऐसा जान पड़ता है कि कविराज ने इन तीनों नामों का स्थितिकाल के अनुसार यथाक्रम उल्लेख किया है। (३) वाक्पतिराज के

१—Introduction to his edn. of कादम्बरी, pp.17-18

२—कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया ।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥

३—सुबंधुर्बाण भट्टश्च कविराज इति त्रयः ।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥ १।४१

प्राकृत-काव्य 'गौडवहो'१ (७३६ ई०) में सुबन्धु की रचना का उल्लेख हुआ है, पर बाण का नहीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वाक्पतिराज के समय में सुबन्धु की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी, पर बाण अभी तक अप्रसिद्ध ही थे। इस प्रकार सुबन्धु बाण के पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं। मंख के 'श्रीकण्ठचरित'२ में सुबन्धु और बाण की एक साथ प्रशंसा की गई है। ११६८ ई० के एक कन्नड़ी शिलालेख में सुबन्धु के काव्यकलाकौशल की की प्रशंसा है।

सुबन्धुकृत वासवदत्ता के वर्णन में तथा भवभूतिकृत मालती के वर्णन में पर्याप्त साम्य३ देख पड़ता है। जैसा कि पीछे दिखलाया जा चुका है, भवभूति ने कालिदास के ग्रन्थों से अनेक शब्द तथा भाव लिये हैं। सम्भव है कि मालती के वर्णन में वे सुबन्धु से प्रभावित हुए हों। इस अनुमान के आधार पर सुबन्धु भवभूति (७०० ई०) के पहले माने जा सकते हैं।

१—भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अजस्स रहुआरे।
सोबंधवे अ बंधम्मि हारियन्देअ आणन्दो॥ ८००

२—मेण्ठे स्वर्द्विरदाधिरोहिणि वशं याते सुबन्धौ विधेः।
शान्ते हन्त च भारवौ विघटिते बाणे विषादस्पृशः॥ २।५३

३—हृदयं विलिखितमिव उत्कीर्णमिव प्रत्युप्तमिव कीलितमिव ··· वज्रलेपघटितमिव ··· मर्मान्तरस्थितमिव ··· कन्दर्पकेतुं मन्यमाना।
—वासवदत्ता (श्रीरंगम् संस्करण पृष्ठ १९१-२)

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव सा
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभिः
(चिन्तासन्ततितंतुजालनिविडस्यूतेव लग्ना प्रिया) ॥ मा० मा० ५।१०

सुबन्धु ने अपनी कृति में एक रमणी का इस प्रकार वर्णन किया है—'न्यायस्थितिमिवोद्योत्करस्वरूपां, बौद्धसंगतिमिवालङ्कार-भूषिताम् ।' स्वर्गीय कीथ महोदय के मतानुसार सुबन्धु इस स्थल पर श्लेष द्वारा नैयायिक उद्योतकर तथा बौद्धधर्मकीर्ति के 'बौद्ध-संगत्यलंकार' नामक ग्रन्थ की ओर संकेत करते हैं[१]। इन लेखकों का समय ७ वीं शताब्दी का प्रारम्भ था[२]। इसके अतिरिक्त जिनभद्र-क्षमाश्रमण-कृत 'विशेषावश्यक-भाष्य' (६०८ई०) में 'वासवदत्ता' और 'तरंगवती' का उल्लेख हुआ है[३]। अतएव सुबन्धु का समय ६०० ई० या इससे कुछ पूर्व माना जा सकता है।

वासवदत्ता ही सुबन्धु की एकमात्र उपलब्ध रचना है। सुबन्धु की यह कृति संस्कृत गद्य-काव्य के उस रूप का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें कथानक अति लघु रहता है, वर्णनविस्तार का प्राधान्य होता है तथा पाण्डित्य कल्पना का स्थान ले लेता है। राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में अपनी भावी प्रियतमा के दर्शन करता है और स्मरपीड़ित हो उसकी खोज में निकल पड़ता है। अतिसंक्षेप में 'वासवदत्ता' का यही कथानक है। किन्तु इस कथा की प्रमुख विशेषता कथानक में नहीं, वरन् नायक-नायिका के रूप-सौन्दर्य के सूक्ष्म वर्णन में, उनकी गुणावली के गान में, उनकी तीव्र विरहातुरता, मिलनाकांक्षा तथा संयोग-दशा के चित्रण में निहित है। सुबन्धु के विषय में श्री आनन्दवर्धन का यह कथन पूर्णतया चरितार्थ होता है कि कविगण बहुधा कथावस्तु के प्रवाह तथा रस की अभिव्यक्ति का

१—*Cl. Skt. Lit.* p. 77.

२—Keith: J.R.A.S. 1914, pp. 1102 ff.

३—जह वा निद्दिट्ठवसा वासवदत्ता तरंगवइयाइं ।
तह निद्देसग वसओ लोए मणुरक्खवाओ त्ति ॥

ध्यान नहीं रखते और अपना शब्द-कौशल दिखाने में ही मग्न रहते हैं—'दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षित-रसाः प्रबन्धेषु।'१ सुबन्धु की कृति में विषयान्तरों का बाहुल्य है। उनके द्वारा वे अपने अलङ्कार-कौशल एवं पाण्डित्य का प्रदर्शन करते हैं। १२० पंक्तियों के एक वाक्य में वासवदत्ता के विलास-विभ्रम का अतिरंजित चित्रण किया गया है। सुबन्धु की रचना में जहां उनके वर्णन-विस्तार तथा शब्द-भण्डार का परिचय स्थल-स्थल पर मिलता है, वहां कल्पना तथा चरित्र-चित्रण का अभाव खटकता है।

सुबन्धु की शैली—सुबन्धु की गद्य-शैली अतिशयोक्ति, अनुप्रास तथा समास-प्रधान गौड़ी शैली का उदाहरण है। उनकी यह गर्वोक्ति सत्य है कि मैंने एक ऐसे विलक्षण काव्य की रचना की है, जिसके प्रत्येक अक्षर में श्लेष है२। उनकी रचना श्लेष तथा विरोधाभास का ऐसा दुर्गम महाकान्तार है कि उसमें वास्तविक काव्य-सौन्दर्य को ढूंढ़ निकालना कठिन हो जाता है। अलङ्कारों, दीर्घकाय समासों तथा पौराणिक संकेतों के प्रयोग में वे औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर बैठते हैं और इस कारण रस का आस्वादन दुर्लभ हो जाता है। दण्डी में वीरता, विचित्रता तथा शृङ्गारिकता का स्निग्ध एवं रमणीय चित्रण है, किन्तु सुबन्धु चित्र-काव्य लिखने के फेर में पड़ कर इन रम्य भावों का सफल अंकन नहीं कर सके हैं। स्थान-स्थान पर नये रंगों को भर कर उन्होंने प्रत्येक चित्र को अतीव विचित्र बना डाला है। उनमें न तो दण्डी का हास, ओज और वैचित्र्य है

१—ध्वन्यालोक (नि० सा० १९११) पृ० १५१

२—प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्ध्यनिधिप्रबन्धम् ।
सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः ॥

और न बाण की सी कल्पना-शक्ति और वर्णन प्रतिभा ही। उनकी समास-प्रचुर भाषा में सौष्ठव, प्रसाद और माधुर्य कम है, आडम्बर, कृत्रिमता और असंगति अधिक है।

सुबन्धु की चित्रोपम एवं अलंकृत गद्यशैली की आलोचना करते समय यह स्मरण रखना होगा कि उनके कथानक के लिये सरल और अलङ्काररहित शैली अनुपयुक्त सिद्ध होती है। शृङ्गारिक वैभव के चित्रण में, तीव्र मनोराग की अभिव्यक्ति में एवं प्रभावोत्पादक वर्णन में पंचतंत्र की सरल शैली सर्वथा अप्रासङ्गिक होती। यह दूसरी बात है कि सुबन्धु अलङ्कारों का मात्रातीत प्रयोग कर अपनी शैली के लालित्यमय प्रवाह की रक्षा नहीं कर सके हैं। एक ही क्रिया पर आश्रित विपुलकाय वाक्य की रचना करने में सुबन्धु अद्वितीय हैं, साथ ही वे आवश्यकता होने पर छोटे-छोटे वाक्यों का भी, विशेषकर संवादों में, प्रयोग कर सके हैं। उनके समासों में एक प्रकार का स्वरमाधुर्य है तथा उनके अनुप्रासों में संगीत है। वामनभट्ट बाण ने सुबन्धु की इस प्रकार प्रशंसा की है—

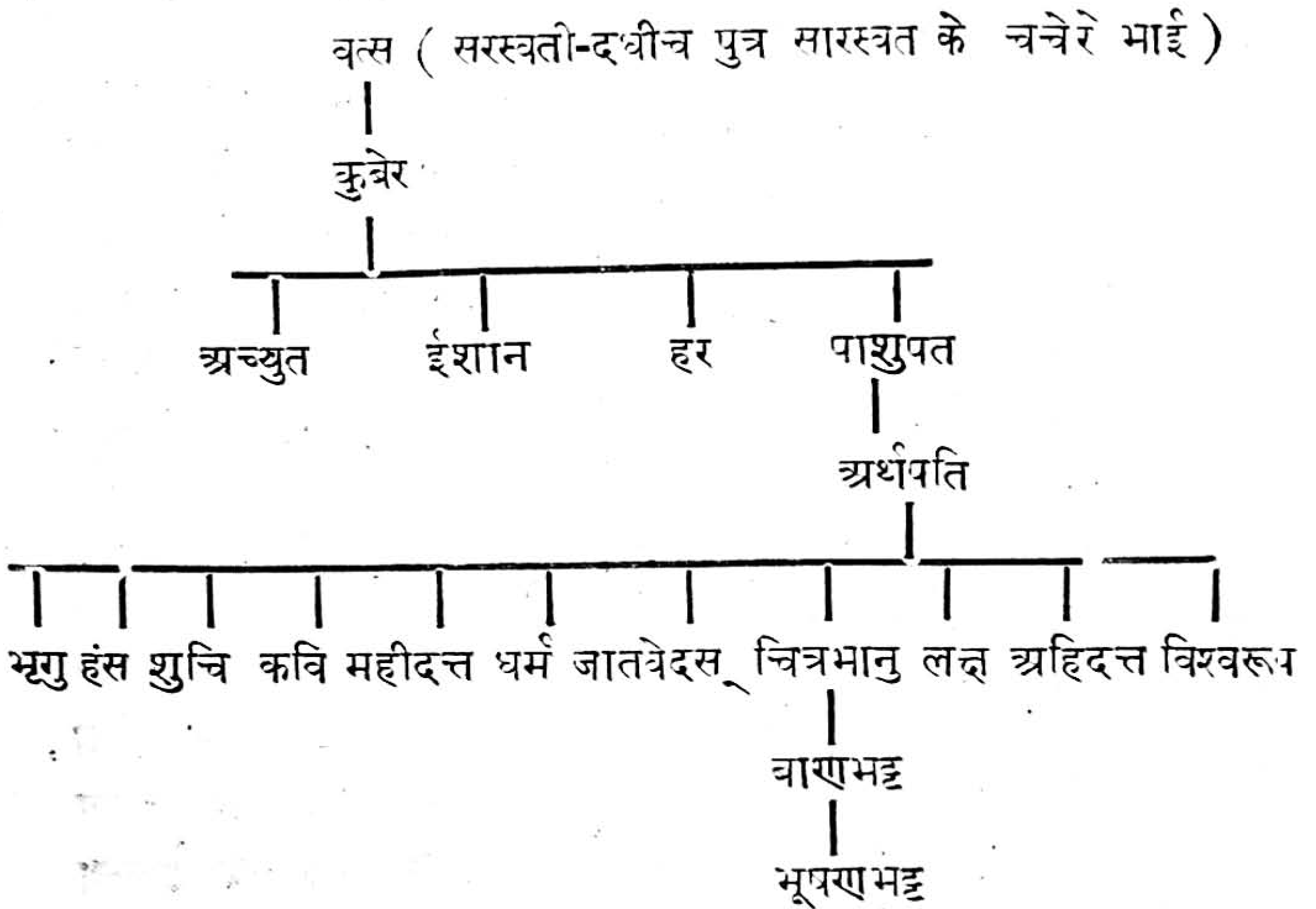
प्रतिकविभेदनबाणः कवितातरुगहनविहरणमयूरः ।
सहृदयलोकसुबन्धुर्जयति श्रीभट्टबाणकविराजः ॥

बाणभट्ट

संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष बाणभट्ट की कृतियों में पाया जाता है। बाण ने दो गद्य-काव्य लिखे—हर्षचरित और कादम्बरी। हर्षचरित के पहले तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है। कादम्बरी के प्रारम्भ में भी उन्होंने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। बाण ने

अपने कुल१ की पौराणिक उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वंश के प्रवर्तक दधीच तथा सरस्वती के पुत्र सारस्वत के चचेरे भाई वत्स थे। वत्स के कुल में कुबेर का जन्म हुआ, जिनका समय ४५०–४८० ई० के लगभग प्रतीत होता है। कुबेर उद्भट विद्वान् थे। कादम्बरी२ में बाणभट्ट कहते हैं कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग सतर्क होकर वेदगायन किया करते थे, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं पिंजड़े में टंगे तोते या मैना पक्षी उन्हें टोक न दें। कुबेर के चार पुत्र हुए—अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत। पाशुपत बाण के प्रपितामह थे। कादम्बरी में बाण ने इनका उल्लेख नहीं किया है। इनके पुत्र अर्थपति हुए, जिनके

१—बाण का वंशवृक्ष इस प्रकार है—



२—जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवःपदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः ॥१२

ग्यारह पुत्रों में से एक बाण के पिता चित्रभानु थे। बाण की माता का नाम राज्यदेवी था। बाण के दो पारशव (शूद्र स्त्री से उत्पन्न) भाई—चित्रसेन और मित्रसेन—तथा चार चचेरे भाई—गणपति, अधिपति, तारापति, और श्यामल—थे। बाण की बाल्यावस्था में ही उनकी माता का देहान्त हो गया। तब उनके पिता ने उनका माता की भाँति लालन-पालन किया। वत्स के समय से ही बाण के पूर्वजों का निवासस्थान प्रीतिकूट नामक ग्राम था, जो हिरण्यवाह अथवा शोण नद के पश्चिमी तट पर स्थित था। उसी के समीप मल्लकूट और यष्टिगृह नाम के दो ग्राम थे, जिनके उपरान्त हर्ष का साम्राज्य आरम्भ होता था।

बाण के उपनयन के पश्चात् उनके पिता अकाल ही में कालकवलित हो गये। इस समय बाण की आयु १४ वर्ष की थी। किसी सुयोग्य अभिभावक के न रहने के कारण इनका यौवन-काल कुछ अव्यवस्थित रहा। वे अपने अंतरंग मित्रों के साथ पर्यटन के लिये निकल पड़े। अपने प्रवास में उन्होंने प्रचुर अनुभव प्राप्त किया, कई राजदरबारों में वे गये, अनेक गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त की, विद्वानों से वार्तालाप किया तथा अन्त में परिपक्व बुद्धि, सांसारिक अनुभव तथा उदार विचारों के साथ घर लौटे।

एक दिन राजा हर्षवर्धन के भाई कृष्ण के दूत ने आकर उन्हें एक पत्रदिया, जिसमें लिखा था कि कुछ लोगों ने महाराज के पास तुम्हारी शिकायत की है। अतः तुम्हें यहां पर शीघ्र आकर अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहिए। जब बाण राजदरबार में पहुँचे, तब सर्वप्रथम तो राजा ने उनकी अवहेलना की तथा अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करने के लिये व्यङ्ग किया—'महानयं भुजङ्गः'। बाण ने विनयपूर्वक अपनी कुलीनता

तथा उच्च विद्याभ्यास की ओर राजा का ध्यान अकृष्ट किया तथा अपने पिछले कृत्यों के लिये पश्चात्ताप प्रकट करते हुए नया जीवन प्रारम्भ करने की इच्छा प्रकट की। कुछ ही दिनों में हर्ष ने उनके चरित्र एवं विद्वता से प्रसन्न हो उन पर कृपावृष्टि की तथा 'वश्यवाणीकविचक्रवर्ती' की उपाधि से सम्मानित किया।

कुछ समय बाद बाण अपने निवासस्थान को लौटे। वहीं उनके बन्धु-बान्धवों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। सूचिबाण नामक सूत ने उन्हें दो आर्या गीत सुनाये, जिसमें सम्राट् हर्ष के जीवन की ओर मार्मिक संकेत था। उन्हें सुनकर बाण के चचेरे भाई उत्सुकतावश एक दूसरे की ओर ताकने लगे। उनमें से सबसे छोटे श्यामल ने साहस कर बाण से हर्षचरित सुनाने की प्रार्थना की।

इसके बाद बाण के जीवन का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। हर्ष की मृत्यु (६४८ ई०) के बाद जब उनके राज्य में अराजकता फैल गई तो बाण संभवतः कन्नौज से अपने घर प्रीति-कूट लौट आये। हर्ष की मृत्यु हो जाने के कारण बाण अपने ग्रन्थ हर्षचरित की समाप्ति के प्रति उदासीन हो गये। अपनी कादम्बरी कथा को समाप्त करने के पूर्व ही उनका देहावसान हो गया। इसकी समाप्ति उनके सुयोग्य पुत्र ने की। डॉ० बूलर[१] के अनुसार बाण के पुत्र का नाम भूषणबाण था। कुछ लोग उनका नाम भूषणभट्ट बतलाते है। कादम्बरी की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'पुलिन्द' अथवा 'पुलिन' नाम मिलता है[२]। धनपाल

१—Peterson's introduction to कादम्बरी p. 4.

२—S. R. Bhandarkar: *Report on the search for Mss., 1904-5, 1905-6, p. 34.*

ने अपनी 'तिलकमंजरी'१ में श्लेष द्वारा बाण के पुत्र का नाम 'पुलिन्द' ही सूचित किया है।

मातंगदिवाकर और मयूर नाम के दो अन्य कवि भी बाण के समकालीन बताये जाते हैं२।

स्थितिकाल—सम्राट् हर्षवर्धन के सभा-पण्डित होने के कारण बाणभट्ट का स्थितिकाल सरलतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है। हर्ष का राज्याभिषेक अक्टोबर ६०६ ई० में हुआ तथा उनकी मृत्यु ६४८ ई० में हुई। ये तिथियां ताम्रदानपत्रों तथा ६२६ से ६४५ ई० तक भारत में भ्रमण करने वाले चीनीयात्री ह्वेनसांग के संस्मरणों के आधार पर स्वीकृत हो चुकी हैं३। अतः बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ।

उक्त समय की पुष्टि बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग प्रमाणों से भी होती है। रुय्यक ने अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' (११५० ई०) में बाण के हर्षचरित का कई बार उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र (१०५० ई०) ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर बाण के नाम का उल्लेख किया है। रुद्रट-कृत 'काव्यालङ्कार' के टीकाकार नमिसाधु (१०६६ ई०) ने कादम्बरी और हर्षचरित को क्रमशः

१—केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान्कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसंधानं पुलिन्दकृतसन्निधिः॥ तिलकमंजरी २६

२—अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥ राजशेखर
सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीश्वरः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः। नवसाहसांकचरित

३—Peterson's intro. to कादम्बरी; V. A. Smith: *Early Hist. of India*, chap. 13.

कथा तथा आख्यायिका का नमूना बताया है। भोज (१०२५ ई०) ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में एक स्थल पर बाण के पद्य की अपेक्षा उनके गद्य को अधिक उत्कृष्ट बताया है—'यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः'। धनंजय (१००० ई०) के 'दशरूपक' में बाण का इस प्रकार उल्लेख हुआ है—'यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य'। आनन्दवर्धन (८५० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में बाण की दोनों गद्य-कृतियों का उल्लेख है। वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में कादम्बरी के 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इन शब्दों को उद्धृत किया है। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से लगातार आठवीं शताब्दी के प्रमुख लेखकों ने बाण तथा उनकी कृतियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः सप्तम शतक के पूर्वार्द्ध में उनकी स्थिति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अन्तरङ्ग प्रमाणों से भी उक्त समय ही सिद्ध होता है। अपने हर्षचरित के प्रारम्भिक पद्यों में बाण ने इन कवियों एवं कृतियों का उल्लेख किया है—व्यास, वासवदत्ता, भट्टारहरिचन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेनकृत सेतुबन्धु, भास, कालिदास, बृहत्कथा और आढ्यराज। इन कवियों में से कोई भी सातवीं शताब्दी के बाद में नहीं हुए। हर्ष की सभा में बाण का प्रवेश उनके शासनकाल के उत्तरार्ध में हुआ होगा। हर्षचरित में बाण हर्ष के उन पराक्रमों का वर्णन करते हैं जिनका संपादन हर्ष, बाण के मिलने के पहले कर चुके थे। इस वर्णन में दो स्थलों पर बाण ने लिखा है कि हर्ष ने अपना समस्त धन-वैभव ब्राह्मणों तथा बौद्ध भिक्षुओं को दान कर दिया था। ह्वेनसांग ऐसे एक अवसर पर ६४३ ई० में उपस्थित था। हर्ष से मिलने के समय बाण युवक ही रहे होंगे। उनकी युवावस्था की चपलताओं का

पता राजा को लग चुका था तथा उनका हाल ही में विवाह भी हुआ था—'दारपरिग्रहादभ्यागारिकोऽस्मि। ...का मे भुजङ्गता ...चापलैः शैशवमशून्यमासीत्'।

रचनाएं—हर्षचरित तथा कादम्बरी के अतिरिक्त बाण की कुछ अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध होती हैं। चण्डीशतक भगवती दुर्गा की स्तुति में १०० पद्यों की रचना है। पार्वतीपरिणय नामक नाटक को महामहोपाध्याय काणे१ महोदय बाण की कृति मानते हैं, किन्तु कीथ२ उसे १५ वीं शताब्दी के कवि वामनभट्ट बाण की रचना मानते हैं। 'नलचम्पू' के टीकाकारद्वय चण्डपाल और गुणविनयगणि लिखते हैं कि बाण ने मुकुटताड़ितक नामक नाटक की रचना की थी, पर यह अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा'३ में बाण-रचित एक पद्य को उद्धृत किया है जिसमें चन्द्रापीड की प्रेयसी कादम्बरी की विरहव्यथा का वर्णन है। संभव है कि बाण ने पद्य में भी कादम्बरी की कथा लिखी हो।

हर्षचरित बाण की प्रथम गद्य कृति है। जैसा कि बाण स्वयं कहते हैं४, यह एक आख्यायिका है। इसमें आठ उच्छ्वास हैं।

१—Introduction to कादम्बरी pp. 23-24

२—*H. S. L. p. 315.*

३—'यथा वा भट्टबाणस्य—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥
अत्र विप्रलम्भभरभग्नधैर्यायाः कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना'।

४—तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः।
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्॥ हर्षचरित

प्रथम तीन उच्छ्वासों में बाण की आत्मकथा वर्णित है तथा शेष में सम्राट् हर्ष का जीवनचरित्र। हर्षचरित में ऐतिहासिक विषय पर गद्य-काव्य लिखने का प्रथम बार प्रयास किया गया है। इसके ऐतिहासिक वृत्तान्त और महत्व पर 'ऐतिहासिक काव्य' वाले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से भी हर्षचरित में कई विशेषताएं हैं। बाण की अद्भुत वर्णनाशक्ति का परिचय स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रभाकर-वर्धन के अन्तिम क्षणों का वर्णन ओज एवं कारुण्य को लिये हुए है। सती होने के पूर्व यशोवती जो उद्गार प्रकट करती है, वह अनन्यता, तेजस्विता एवं कारुण्य से परिपूर्ण है। छठे उच्छ्वास में सिंहनाद का उपदेश कादम्बरी के शुकनासोपदेश की कोटि का ही है। हर्ष सर्वत्र एक महान् सम्राट् के रूप में हमारे संमुख आते हैं। वे निर्भीक और साहसी, कर्तव्य-परायण और स्नेहमय है। राज्यवर्धन भी आज्ञाकारी पुत्र, स्नेहशील भाई और शूर योद्धा हैं। सोड्ढल ने हर्षचरित की इस प्रकार प्रशंसा की है—

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति।

कादम्बरी बाणभट्ट की, अथवा यों कहिए, समस्त संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट गद्य-रचना है। उसकी कथा का सार इस प्रकार है—विदिशा के राजा शूद्रक की सेवा में एक चाण्डाल-कन्या अपना परम मेधावी शुक भेंट करती है। यह शुक राजा को विंध्यारण्य में अपने जन्म से लेकर महर्षि जाबालि के आश्रम में पहुँचने तक का वृत्तान्त सुनाता है। जाबालि मुनि से शुक अपने पूर्वजन्म का हाल सुनता है। जाबालि द्वारा वर्णित कथा इस प्रकार थी—

उज्जयिनी के राजा तारापीड तथा रानी विलासवती ने तपस्या द्वारा चन्द्रपीड नामक पुत्ररत्न प्राप्त किया। विद्याध्ययन की की समाप्ति के बाद राजकुमार चन्द्रापीड अपने पिता के सचिव शुकनास के पुत्र और अपने अभिन्न मित्र वैशम्पायन के साथ दिग्विजय के लिये निकल पड़े। एक बार वह अपने घोड़े इन्द्रायुध पर एक किन्नर युगल का पीछा करते हुए अच्छोद नामक एक परम रमणीय सरोवर पर आ पहुँचे। वहाँ राजकुमार का महाश्वेता नामक एक शुभ्रवर्णा तपस्विनी युवती से परिचय हुआ। महाश्वेता एक गन्धर्व राजकन्या थी, जिसके हृदय में पुण्डरीक नामक तपस्वी युवक को देख उसके प्रति प्रेमाङ्कुर जागरित हो उठा था। पर मिलन के पूर्व ही पुण्डरीक की स्मरपीडा से मृत्यु हो गई। इस पर महाश्वेता तपस्विनी का व्रत धारण कर भावी मिलन की आशा में अच्छोद सरोवर के किनारे रहने लगी। महाश्वेता की सखी कादम्बरी ने भी कौमार्य व्रत धारण करने का निश्चय किया। महाश्वेता चन्द्रापीड को साथ लेकर कादम्बरी को समझाने जाती है। प्रथम साक्षात्कार में ही दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। पर उज्जैन से पिता के बुला लेने पर चन्द्रापीड को शीघ्र ही लौट जाना पड़ता है। वह वैशम्पायन को सेना के साथ लौट आने के लिये कह जाते हैं। बहुत समय व्यतीत होने पर भी जब वैशम्पायन नहीं लौटा तब चन्द्रापीड उसकी खोज में अच्छोद सरोवर जाते हैं। वहां महाश्वेता उन्हें बताती है कि वैशम्पायन मुझ पर आसक्त हो मुझ से प्रेम-प्रस्ताव करने लगा, इस पर मैंने उसे शुक हो जाने का शाप दे दिया। अपने प्राणतुल्य सुहृद् का यह अन्त सुन कर चन्द्रापीड के भी प्राण उसी क्षण निकल गये। इसी अवसर पर कादम्बरी घटना-स्थल पर पहुंचती है और अपने प्रेमी को निष्प्राण पाकर स्वयं प्राण-विसर्जन करने के लिये उद्यत हो

जाती है। पर एक आकाशवाणी उसे ऐसा करने से रोकती है और आश्वासन देती है कि महाश्वेता और कादम्बरी का अपने अपने प्रेमी से संयोग निकट भविष्य में अवश्यंभावी है। यहां जाबालि की कथा समाप्त हो जाती है।

तब शुक ने राजा शूद्रक से कहा कि जाबालि से अपने पूर्व जन्म का वृत्तांत सुन मेरे हृदय में महाश्वेता के प्रति अपने पूर्व प्रेम की स्मृति हो आई और मैं आतुर हो आश्रम से उड़ा, किन्तु इस चाण्डालकन्या ने मुझे पकड़ कर अपने यहाँ रख लिया। इसी ने मुझे आप को समर्पित किया है। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता। तब चाण्डाल-कन्या ने राजा शूद्रक से निवेदन किया कि मैं पुण्डरीक (जिसका पुनर्जन्म वैशम्पायन के रूप में हुआ था) की माता लक्ष्मी हूँ और अब इसे तथा आप (शूद्रक) को मिले शाप की अवधि समाप्ति पर ही है। इस पर शूद्रक (जो अपने पूर्व जन्म में चन्द्रापीड थे) को कादम्बरी के प्रति अपने प्रेम की स्मृति हो आई। उनके प्राण तुरन्त निकल गये और उधर चन्द्रापीड जीवित हो उठे।

चाण्डाल कन्या (अथवा लक्ष्मी) ने जिस शाप की ओर संकेत किया उसका रहस्य इस प्रकार है। महाश्वेता के प्रेमी पुण्डरीक ने चन्द्रमा को बार-बार जन्म लेने का शाप दिया था। चन्द्रमा ने भी पुण्डरीक को ऐसा ही शाप दिया। इन शापों के फलस्वरूप चन्द्रमा ने चन्द्रापीड के रूप में तथा पुण्डरीक ने वैशम्पायन के रूप में जन्म लिया। चन्द्रापीड और वैशम्पायन ने पुनः शूद्रक तथा शुक के रूप में जन्म लिया। शुक की कथा की समाप्ति के बाद शाप की अवधि भी समाप्त हो गई। इसके बाद पुण्डरीक और महाश्वेता, चन्द्रापीड और कादम्बरी का सुखद मिलन हुआ और वे अवर्णनीय आनन्द का आस्वादन करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाण ने 'कादम्बरी का कथा-बीज गुणाढ्य की बृहत्कथा से लिया है। बृहत्कथा अब उपलब्ध नहीं, पर उसके जो संस्कृत रूपान्तर मिलते हैं, उनमें आई सुमनस की कथा तथा 'कादम्बरी' की कथा में कुछ साम्य अवश्य देख पड़ता है। सम्भव है, बाण ने अपनी कथा की मूल घटनाएं बृहत्कथा से ली हों, किन्तु यह निर्विवाद है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा का पुट चढ़ाकर उसे एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक रूप दे दिया है।

'कादम्बरी' संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। उसके कथानक में, कथा और उपकथा के संमिश्रण से कुछ जटिलता अवश्य आ गई है, फिर भी उसके स्वाभाविक विकास और कुशल निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। सारी कथा कुतूहलमय रोचकता से ओतप्रोत है। पाठक की रुचि और उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। प्रधान नायिका कादम्बरी का उल्लेख कथा के मध्य भाग में जाकर होता है। महाश्वेता की प्रणय-कथा तो कादम्बरी के प्रणय की एक भूमिका मात्र है। शूद्रक की राजसभा में चाण्डाल-कन्या का विलक्षण वैशम्पायन शुक को लेकर प्रवेश करना, यह प्रारम्भिक घटना ही ऐसे रहस्य में लिपटी हुई है कि उसके उद्घाटन के लिये आगे बरबस बढ़ना पड़ता है। यह रहस्योद्घाटन कथा के अन्त में जाकर होता है। वहां शूद्रक को ही प्रधान नायक जानकर 'अद्भुत रस' की प्रतीति होती है। कवि ने कादम्बरी और महाश्वेता दोनों की प्रणय-कथा स्वाभाविक रूप से परस्पर संबद्ध कर अपने वस्तु-विन्यास-कौशल का परिचय दिया है।

बाण ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़े विशद रूप से किया है। 'कादम्बरी' के सभी पात्र संजीव हैं। सौम्य युवक

हारीत, उदार नृपति तारापीड, आदर्श अमात्य शुकनास, सुकुमार रानी विलासवती, छाया की भाँति चन्द्रापीड का अनुसरण करने वाली किन्तु कवि की उपेक्षिता पत्रलेखा, स्नेहमय पर कठोर कपिंजल, शुभ्रवदना तपस्विनी महाश्वेता—ये पाठक के अन्तस्तल पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। कादम्बरी के चित्रण में बाण ने अपने अप्रतिम कल्पना-वैभव, वर्णन-पटुता और मानवमनोवृत्तियों के मार्मिक निरीक्षण का परिचय दिया है। चन्द्रापीड के प्रति आकृष्ट होने पर वह किस प्रकार आशा और निराशा, मिलन और विरह के परस्पर विरोधी भावों के बीच झूलती है, इसका बाण ने बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है।

'कादम्बरी' में बाण ने केवल अपनी कल्पना के अतिरंजित चित्र उपस्थित नहीं किये हैं, प्रस्तुत अपने बहुमुखी जीवन के विविध अनुभवों को रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। प्रासाद, नगर, बन तथा आश्रमों का यथातथ्य वर्णन उनके पर्याप्त भ्रमण का द्योतक है। शुकनास के मुख से उन्होंने चन्द्रापीड को जो उपदेश दिलाया है, वह आज भी प्रत्येक नवयुवक स्नातक के लिये दीक्षान्त भाषण से कम नहीं।

'कादम्बरी' की वर्णन-विविधता दर्शनीय है। सच तो यह है कि यदि संस्कृत साहित्य में चित्राङ्कन के विषयों की कमी नहीं है तो संस्कृत कवियों में बाणभट्ट की भांति चित्राङ्कन में कोई निपुण नहीं हुआ। समस्त कादम्बरी-काव्य एक चित्रशाला है—'इस कुंजवन की गली में नये-नये रंगों के अनेक लता-वितान हैं, प्रलोभनीय अंशों की बहुलता है।' कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी का रोमाञ्चकारी दृश्य है, कहीं जाबालि के शान्त और पावन आश्रम की सात्विक शोभा का चित्र है, कहीं शूद्रक और तारापीड के राजकीय विलास और वैभव का वर्णन है।

कहीं वीणावादिनी महाश्वेता की विरहविधुरा मूर्ति का दर्शन है तो कहीं कमनीय कलेवरा कादम्बरी के प्रणयोन्माद और सलज्ज कौमार्य का स्निग्ध चित्रण है। अच्छोद सरोवर तथा हिमालय के भव्य दृश्यों का वर्णन भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। द्रविड़ यति का वर्णन इस बात का सूचक है कि बाण उपहासयोग्य विषयों का भी सफल अङ्कन कर सकते हैं। परिहास का भी उनमें अभाव नहीं, उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्त की नाक उनकी वंशावली के समान ही लम्बी बताई गई है। इन्द्रायुध अश्व के सजीव वर्णन से बाण को 'तुरङ्ग-बाण' की पदवी मिली। साधारणतः लोग घटना-वर्णन करके कथा प्रारम्भ करते हैं, पर बाणभट्ट चित्र सज्जित करके कथा बढ़ाते हैं। इसीसे उनकी कथा गतिशील नहीं है, वह वर्णच्छटा से ही अङ्कित है। चित्र भी धारावाहिक रूप से हों, सो नहीं। एक-एक चित्र के चारों ओर कारुकार्यविशिष्ट और बहुविस्तृत भाषा रूपी सोने के चौखटे जड़े हुए हैं। फ्रेम सहित ऐसे चित्रों के सौन्दर्य का जिसने उपभोग नहीं किया, उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

'कादम्बरी' के अध्ययन से हमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का परिज्ञान हो सकता है। स्त्रियों द्वारा सन्तान-प्राप्ति के लिये जादू-टोनों का प्रयोग; राज्याभिषेक की परिपाटी; शैव, शाक्त और क्षपणक आदि के सम्प्रदाय; सद्योजात शिशु के उपचार; स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा और आभूषण; विलास और आमोद-प्रमोद की सामग्री; वर्णव्यवस्था; सती-प्रथा आदि सभी सामाजिक जीवन के अङ्गों पर 'कादम्बरी' में स्थल-स्थल पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है[१]।

१—K. R. Potdar: 'Contemporary life as revealed in Bana's works.' *Journal of Bombay Univ. XI-2.*

'कादम्बरी' का प्रधान रस शृङ्गार है। 'कादम्बरी' जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कारों का, 'जननान्तर-सौहृद' का सजीव चित्रण है; विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के सुकुमार तारों से संयुक्त करने वाली काव्य-शृंखला है; मानव हृदय की मूक प्रणय-वेदना की मर्मभरी कथा है। बाण ने जिस प्रेम का चित्रण किया है, वह सर्वथा उदात्त एवं परिष्कृत है। उनके द्वारा चित्रित प्रेम का उद्दाम वेग कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। दशकुमारचरित की भांति 'कादम्बरी' के शृङ्गाररस-चित्रण में कहीं अश्लीलता की गन्ध नहीं पाई जाती। सच तो यह है कि महाश्वेता के प्रेम में पागल पुण्डरीक की कपिंजल द्वारा भर्त्सना करा कर कवि ने यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रेम मानसिक और शारीरिक दुरवस्था का कारण होता है। सच्चा प्रणय सत्य की भांति चिरन्तन है। काल की कराल छाया उसे आक्रांत नहीं कर सकती; समय का प्रवाह उसे विस्मृति के गर्त्त में लीन नहीं करसकता। तपस्या की कठोरता अथवा राजसी जीवन की विलासिता उसके उद्दाम वेग को दबा नहीं सकती। प्रणय की ज्योति आशा और अटल विश्वास से नूतन जीवन धारण करती है तथा आदर्श स्नेह के सहारे मृत्यु के अन्धकार में भी अभिनव आलोक छिटकाती है।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों में 'कादम्बरी' सदा से अत्यन्त लोकप्रिय रही है। प्रियतम की शय्या की ओर स्वेच्छा से संचरण करती हुई नवोढ़ा वधू की भांति वह अपने अतुलनीय रसास्वाद से पाठकों के चित्त-चञ्चरीक को निरंतर आप्यायित करती आई है१। भूषणभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

१—स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥कादम्बरी ८

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव।
मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम् ॥

'कादम्बरी' की प्रशंसा में कुछ और उक्तियों का अवलोकन कीजिए—'कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते', 'सहर्षचरितारब्धाद्भुतकादम्बरीकथा'। 'कीर्तिकौमुदी' में लिखा है कि बाण की कादम्बरी रूपी ध्वनि को सुन कर कवि लोग अनाध्याय का पालन करने लगते हैं—

युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः।
बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः॥ १।१५

बाण की शैली—बाण ने गद्य-शैली का आदर्श सूचित करते हुए हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽश्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥

अर्थात् मौलिक कल्पना, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रूप से प्रतीयमान रस तथा दृढ़बन्ध पदावली, इन समस्त गुणों का एकत्र संनिवेश दुर्लभ है। दूसरे के मन के भावों का यथातथ्य चित्रण (अन्यचिन्तितस्वभावाभिप्रायवेदकम्) तथा अभिनव अर्थ की कल्पना (उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसंचयम्) को बाण उत्कृष्ट गद्य-शैली का प्रधान लक्षण मानते हैं।

बाण के गद्य की रीति 'पांचाली' है जिसमें अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का गुम्फन होता है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पांचालीरीतिरिष्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥ सरस्वतीकण्ठाभरण

बाण की शैली में शब्द और अर्थ, भाषा और भाव का रुचिर सामंजस्य स्पष्ट लक्षित होता है। विषय के अनुरूप ही शब्दावली का प्रयोग किया गया है। विकट विन्ध्याटवी के वर्णन में कवि ने विकट शब्दों एवं समासों का यथेच्छ व्यवहार किया है—'क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला, क्वचिदुद्धृत्तमृगपतिनादभीतेव कण्टकिता।' बसन्त के वर्णन में तदनुरूप सुकुमार वर्णों का विन्यास किया गया है—'अशोकतरुताडनारणितरमणीमणिनूपुरझङ्कारसहस्रमुखरेषु सकलजीवलोकहृदयानन्ददायकेयु मधुमासदिवसेषु'!

बाण को शैली में अलङ्कारों का समुचित प्रयोग अपूर्व रमणीयता का सञ्चार करता है। उनके अलङ्कारों की छटा दर्शनीय है। उनके लंबे-लंबे समास यदि गिरि-नदी के उद्दाम प्रवाह की भांति हैं, तो उनकी श्लिष्ट उपमाएं इन्द्रधनुष की छाया की भांति उसे रङ्गीन बना देती हैं। उनके अनुप्रास भाषा में विलक्षण स्वर-माधुर्य का सञ्चार करते हैं—'इभकलभकोल्लनपल्लववेल्लितलवलीलयैः', 'मधुकर कुलकलंककालीकृतकालेयककुसुमकुड्मलेषु।' उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चम्पक पुष्पों की भांति हैं—'निरन्तर-श्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।' उनकी रसनोपमा का एक मनोहर उदाहरण देखिए—'क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम्।' विरोधाभास का नमूना देखिए—'शिशिरस्यापि रिपुजनसंतापकारिणः, स्थिरस्याप्यनवरतं भ्रमतः, निर्मलस्यापि मलिनीकृताराातिवनितामुखकमलद्युतेः, अतिधवलस्यापि सर्वजनरागकारिणः'। अर्थापत्ति अलंकार की छटा देखिए—'किं बहुना। तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिरुत्सपन्तीभिरनिशमुपपादितकृष्णाजिनोत्तरासङ्गशोभाः फलमूल-

भृतो वल्कलिनो निश्चेतनास्तरवोऽपि सनियमा इव लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः समीपवर्तिनः। किं पुनः सचेतनाः प्राणिनः।' बाण के गद्य में एक ही ध्वनि उत्पन्न करने वाले ललित पदविन्यास की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है—'वशीकर्तुकामंकाममिव सनियमम्', 'हर्षनयनजलकणनीहारिणी वियद्विहारिणि मनोहारिणि', 'कर्पूरधूलिधूसरेषु मलयजरसलवलुलितेषु बकुलावलीवलयेषु स्तनेषु।'

बाण का प्रकृति-चित्रण विशद, सजीव, अलंकृत और उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचायक है। 'एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसम्पुटभिदि किंचिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति मरीचमालिनि'—शब्दों की कैसी लड़ी है! अरुण वर्ण के तरुण सूर्य का आभास कराना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है, किन्तु भाषा के इन्द्रजाल से, केवल विशेष्य-विशेषण के विन्यास से, हृदय में एक सुरम्य, सुगन्ध, सुवर्ण और सुशीतल सुप्रभातकाल तत्क्षण नाच उठता है। इसी प्रकार—'दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना संध्या'—कपिला धेनु के साथ सन्ध्याकालीन रंग की तुलना करते हुए कवि क्षण भर में हृदय के भीतर संध्या की समस्त शान्ति, श्रान्ति तथा धूसर छाया भर देता है। बाण की दृष्टि प्रकृति के घोर और रम्य दोनों पक्षों पर पड़ी है। रमणीय अच्छोद सरोवर, हिमालय के भव्य दृश्य, तथा भयानक विंध्याटवी के वर्णन इसके उदाहरण हैं। प्रकृति-वर्णन में उन्होंने श्लिष्ट उपमाओं का विशेष प्रयोग किया है—'यौवनमिवोत्कलिकाबहुलं, षण्मुखचरितमिव श्रूयमाणक्रौञ्चवनिताप्रलापं, भारतमिव पाण्डुधार्तराष्ट्रकुलकृतक्षोभं, कद्रुस्तनयुगलमिव नागसहस्रपीतपयोगण्डूषमच्छोदं नाम सरो दृष्टवान्।' इस प्रकार वे प्रकृति-वर्णन करने के साथ-साथ अपना पौराणिक, शास्त्रीय तथा अनुभव-जन्य ज्ञान भी प्रकट

कर देते हैं। यह शैली सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती, क्योंकि इससे कवि के पाण्डित्य का जितना बोध होता है उतना प्राकृतिक दृश्य के वास्तविक बिम्ब का नहीं। बाण का प्रकृति-चित्रण अन्तःप्रकृति के अनुरूप होता है। सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रमा, वसन्त ऋतु के वर्णन में यह विशेषता स्पष्ट देख पड़ती है। तपःपूत जाबालि के आश्रम में सूर्यास्त का वर्णन कैसे शान्त एवं पवित्र भावों का परिचायक है—'अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेन घर्विधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनाङ्गरागं रविरुदवहत्। ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्बविनिहितदृष्टिभिरुष्मपैस्तपोधनैरिवपरिपीयमानतेजःप्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत्। उद्यत्सप्तर्षिसार्थ-स्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपादः पारावतचरणपाटलरागो रविरम्बर-तलादलम्बत। विहाय धरणितलमुन्मुच्य कमलिनीवनानि शकुनय इव दिवसावसाने तपोवनतरुशिखरेषु पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वत।'—'इसी समय दिन ढल चला। मुनियों ने स्नान के बाद अर्घ्य देते समय जो चन्दनराग पृथ्वी पर अर्पित किया था, मानो उसी रक्त चन्दन को आकाश में स्थित सूर्य ने अपने अङ्गों में धारण कर लिया है। ऊपर की ओर मुख उठा कर सूर्य-मण्डल पर दृष्टि डाले, सूर्य-किरणों का पान करने वाले तपस्वियों द्वारा मानो चारों तरफ फैला हुआ प्रकाश पाया जा रहा है, तभी तो दिन क्षीणता को प्राप्त हो रहा है। कपोत के चरणों के समान लाल-लाल सूर्य आकाश के छोर पर पहुँच कर अपने पाद (किरण) इसलिये समेट रहा है कि कहीं वे इस उगते हुए सप्तर्षि-मण्डल से छू न जायं। दिन डूबने की इस घड़ी में सूर्य-रश्मियां पृथ्वी-तल को छोड़ आश्रम के वृक्षों तथा पर्वतों के शिखरों पर पक्षियों की भाँति बसेरा ले रही हैं।' बाण मानवीय मनोभावों का प्रकृति के दृश्यों पर आरोप

करने में कुशल हैं। सूर्य के विदेश-गमन पर उसकी प्रियतमा कमलिनी शीघ्र पति-समागम की इच्छा से तपस्विनी का व्रत धारण करती है—कमल का मुकुल उसका कमण्डलु है, श्वेत हँस उसका उत्तरीय है, कमल की नाल उसका शुभ्र यज्ञोपवीत है तथा भ्रमरों की पंक्ति उसकी रुद्राक्ष-माला है।

बाण की वर्णन-शक्ति अद्भुत है। 'कादम्बरी' के वर्णनात्मक स्थलों में वे कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग करते हैं। कहीं वाक्यावली संक्षिप्त कर भावों का द्रुतवेग से उन्मेष करना आवश्यक प्रतीत होता है तो कहीं भाषा का प्रलोभन संवरण भी दुस्साध्य हो जाता है। जहां विषय भाव-प्रधान, मार्मिक अथवा गम्भीर होता है, वहां उनकी शैली बड़ी ही सशक्त और प्रभावोत्पादक होती है। वाक्य छोटे-छोटे होते हैं, दीर्घसमासों का अभाव होता है और विशेषणपद न्यून होते हैं। एक उदाहरण देखिए। कपिंजल मदनव्यथा से पीड़ित पुण्डरीक की भर्त्सना कर रहा है—'सखे पुण्डरीक नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्रजनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित्प्राकृत इव विक्लवीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। कुतस्तवापूर्वोऽयमद्य न्द्रियोपप्लवो येनास्येवं कृतः। क्व ते तद्धैर्यं, क्वासाविन्द्रियजयः। .... निरुपकारो गुरूपदेशविवेकः। निष्प्रयोजना प्रबुद्धता निष्कारणं ज्ञानम्। यदत्र भवादृशा अपि रागाभिषंगैः कलुषीक्रियन्ते प्रमादैश्चाभिभूयन्ते।' कैसी शक्तिशाली भाषा है! अन्यत्र, उपदेश देते समय अथवा शिष्टाचार दिखाते समय बड़ी सरल शैली प्रयुक्त हुई है। शुकनास चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोष समझा रहे हैं—'न ह्येवंविधमपरमपरिचितमिह जगति किंचिदस्ति यथेयमनार्या। लब्धाऽपि खलु दुःखेन पाल्यते। दृढ़गुण-पाशसंदाननिष्पन्दीकृतापि नश्यति। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न

शील पश्यति । न वैदग्ध्यं गणयति । ......न लक्षणं प्रमाणी-करोति । गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एव नश्यति ।' किन्तु राजवैभव, रमणीविलास, अथवा प्राकृतिक भव्यता के चित्रण में उनकी शैली अलंकृत, अपेक्षाकृत क्लिष्ट एवं प्रगाढ़ हो जाती है। दीर्घकाय समास, विपुल वाक्य, विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली तथा चित्र-काव्य के सभी साधनों का प्रचुर प्रयोग देख पड़ता है; 'कल्लोलमुखर समुद्र की लहर की भांति जहां तक सम्भव है, भाषा उद्वेलित हो उठी है—सीमा पार कर गई है, अकृपणा कविप्रतिभा ने कल्पना की यथेष्ट वृष्टि की है।' शूद्रक, जाबालि-आश्रम, विंध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी के वर्णन ऐसी शैली के उपयुक्त उदाहरण हैं। ऐसे स्थलों पर भी बाण बीच बीच में छोटे-छोटे वाक्य बैठा देते हैं, जिससे वर्णन-विस्तार आयासजनक न हो जाय। प्रायः यह भी देखा जाता है कि इस प्रकार के क्लिष्ट स्थलों के बाद तुरन्त ही सरल और प्राकृतिक शैली के दर्शन होते हैं।

बाण की शैली में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, अलंकृत वर्णन-प्रणाली, प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम, उर्वर कल्पना; अजस्र शब्दराशि तथा मौलिक अर्थों की उद्भावना—ये सभी गुण सर्वत्र समान रूप से पाये जाते हैं। इसका आशय यह नहीं कि उनकी शैली सर्वथा दोष रहित है। उनके वर्णन प्रायः बहुत लम्बे हो जाते हैं। किसी प्रस्तुत प्रसंग को वे तब तक नहीं छोड़ते जब तक वह पूर्णतया आलोडित न हो जाय। कोई पर्यायवाची विशेषण बाकी नहीं बचता; कोई श्लिष्ट या लाक्षणिक प्रयोग रह नहीं जाता। उनकी कल्पना सदा मुक्तहस्त रही है, अस्थान और अपात्र में भी उसने अपनी सम्पत्ति की अजस्र वर्षा की है। पाश्चात्य आलोचक उनमें गद्य की एक ऐसे भीषण अरण्य से उपमा देते हैं, जहां क्लिष्ट एवं दुरूह शब्दों के झाड़ खड़े हैं, सूक्ष्म

पौराणिक संकेतों की कन्दराएं हैं और विपुलकाय विकट समासों के रूप में व्याघ्र विचरण कर रहे हैं। बाण कथानक में यथास्थान विस्तार और संकोच नहीं करते। कथा के बीच अवान्तर वर्णनों के बाहुल्य से कथानक की प्रगति कुण्ठित हो जाती है। उज्जयिनी, शुकनास-प्रासाद; चण्डिका-मन्दिर; चन्द्रोदय आदि के वर्णन कवित्व की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं; किन्तु विशेष विस्तृत और अतिरंजित होने के कारण कथानक के प्रवाह को शिथिल कर देते हैं।

वस्तुतः बाण के गद्य-काव्यों का यथार्थ महत्व उनके कथानक चरित्र-चित्रण अथवा वस्तु-विन्यास में नहीं, वरन् उनके कवित्व एवं रसमय प्रवाह में है। 'संस्कृत भाषा का उन्होंने अनुचरों से घिरे सम्राट् की भांति प्रस्थान कराया है और कथा को पीछे-पीछे प्रच्छन्न भाव से छत्रधर की भांति छोड़ दिया है।' उनके भाषा-कौशल और कल्पना-वैचित्र्य से ही उनकी कृतियां इतनी आकर्षक और लोकप्रिय हुई हैं। अपनी इस असाधारण शैली द्वारा ही वे बृहत्कथा के सीधे-साधे कथानक को साहित्यिक सौन्दर्य प्रदान कर सके। उनका गद्य व्यावहारिक कार्यों के लिये भले ही अनुपयुक्त हो; किन्तु 'कादम्बरी' के समान उत्कृष्ट गद्य-काव्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है। उनके वाक्य विपुलकाय होते हुए भी अस्पष्ट नहीं। समासों और विशेषण-पदों का आधिक्य होते हुए भी वे विशद और परिष्कृत हैं। उनके पौराणिक संकेत हम भारतीयों के लिये कदापि क्लिष्ट नहीं हैं। उनके शब्द-चित्रों में विविधता तथा प्रभविष्णुता है। उनका शब्द-भण्डार अक्षय है। उनका वाक्यप्रबन्ध चारु एवं स्निग्ध है। औचित्य का वे कभी अतिक्रमण नहीं करते। उनके संवाद अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रभावशाली होते हैं। उनकी कल्पना अजस्र और उत्तरोत्तर विकासशील होती है। महाश्वेता के

निम्नलिखित वर्णन में उनकी कल्पना-विभूति का कैसा प्रसार है—'शुक्लपक्षपरम्परामिव पुंजीकृतां, शङ्खादिवोत्कीर्णां, मृणालैरिव विरचितावयवां, दन्ततलैरिव घटितां, इन्दुकरकूर्चकैरिव प्रक्षालितां, अमृतफेनपिण्डैरिव पाण्डुरीकृताम्।'

आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों की कसौटी पर बाण की शैली की समीक्षा करना अनुचित होगा। कोई भी लेखक अपने समय प्रचलित आदर्शों और रूढ़ियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। बाण की आलोचना करते समय भी हमें यही दृष्टिकोण सम्मुख रखना चाहिए। अलंकृत गद्य-शैली ही उनके समय में समादृत थी। उस समय समास-बाहुल्य तो गद्य का प्राण ही समझा जाता था—'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।'[१] प्रत्येक कला कुछ प्रचलित रूढ़ियों के द्वारा ही अपने आदर्श पर पहुँच सकती है। समास बहुलता एक ऐसी ही रूढ़ि थी। यदि हम इस रूढ़ि के पार देखेंगे तो हमें स्वीकार करना होगा कि बाण उच्चकोटि के गद्य-कवि थे। कथाकार की कला में, मानव-हृदय के सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति में, उन्नत चरित्रों की सृष्टि में, उदात्त जीवन एवं सौजन्यपूर्ण व्यवहार के चित्रण में तथा शिष्ट संवादों के निरूपण में बाण भारतीय साहित्य में अनुपमेय हैं और विश्व-साहित्य में उच्च स्थान पाने योग्य हैं।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों को बाण की शैली के सौन्दर्य को हृदयंगम करने में भले ही कठिनाई होती हो, किन्तु जिस भाषा में बाण ने अपनी कृतियों की रचना की है, उसके पण्डितों ने उनकी शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। 'विदग्धमुख-मण्डन' के रचयिता धर्मदास किस विलक्षण ढङ्ग से बाण की प्रशंसा करते हैं—

१—काव्यादर्श १।८०

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि बाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

'रुचिर स्वर, वर्ण तथा पदों से विभूषित, रस और भावों से अलंकृत वह संसार के चित्त को आकृष्ट कर रही है।' 'क्या तुम किसी तरुणी की बात कर रहे हो ?' 'नहीं, नहीं, मैं तो बाण की सरस मधुर वाणी के सम्बन्ध में कह रहा हूँ।' त्रिलोचन के अनुसार बाण की कविता के समान अन्य कवियों की रचना केवल चपलता है—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत्कविकुरंगाणां चापलं तत्र कारणम् ॥

'पारवतीपरिणय' में 'नृत्यति यद्रसनायां वेधोन्मुखलासिका वाणी' इस प्रकार बाण के विषय में ठीक ही कहा गया है। बाण की सर्व-व्यापिनी प्रतिभा को लक्ष्य में रख कर ही 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' कहा जाता है। गोवर्धनाचार्य का कहना है कि जिस प्रकार पूर्व समय में अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिये शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी प्रकार पुरुष रूप में अधिक चमत्कार पाने की अभिलाषा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का अवतार लिया—

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूव ह ॥

प्रसन्नराघव के कर्त्ता जयदेव ने बाण को कविता-कामिनी के हृदय-मन्दिर में निवास करने वाला साक्षात् कामदेव ही बता दिया है—'हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः।' त्रिविक्रमभट्ट ने अपने 'नलचम्पू' में बाण की लोकप्रियता की इस प्रकार प्रशंसा की है—

शश्वद्बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा ।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः ॥ १।१४

गङ्गादेवी के अनुसार बाण की भारती वीणा की सुमधुर तान को हरने वाली है—

वाणीपाणिपरामृष्टवीणानिक्वाणहारिणीम् ।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम् ॥

श्री चन्द्रदेव कहते हैं कि कुछ लोग श्लेष में, कुछ शब्दों के उपयुक्त गुम्फन में, कुछ रसाभिव्यक्ति में, कुछ अलंकार, अर्थ-व्यक्ति अथवा कथा-वर्णन में कुशल होते हैं, किन्तु बाण तो कविता की विन्ध्याटवी में कवि-कुंजरों के गण्डस्थल को विदीर्ण करने वाले सिंह हैं—

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरेऽ-
लंकारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने ।
आ सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पंचाननः ॥

बाणभट्ट के पश्चात् भी गद्यकाव्य लिखे जाते रहे। उनमें प्रायः बाण की कृतियों का ही अनुकरण है। धनपाल (१००० ई०) की तिलकमंजरी पर 'कादम्बरी' का प्रभाव स्पष्ट है। पर तिलक-मंजरी की विशेषता यह है कि उसमें चित्रकला, प्रस्तरकला तथा अन्य कला-कौशलों का स्थल-स्थल पर विशद उल्लेख हुआ है। तत्कालीन भारत में विविध कलाओं के अनुशीलन का यथातथ्य चित्रण तिलकमंजरी में उपलब्ध होता है[१]। वादीभसिंह (१०००

१—'Art notes from Dhanapala's Tilakamanjari,' *Indian Culture* Oct. 1935 pp. 199-210.

ई०) की गद्यचिन्तामणि का कथानक 'कादम्बरी' के समान ही है। रीति और भाषा-भंगिमा में भी बाण का अनुकरण देख पड़ता है। वामनभट्ट बाण (१५०० ई०) का वेमभूपालचरित हर्षचरित की प्रतिकृति मात्र है। बाद के गद्य-काव्य साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्व के नहीं। पर दो-एक आधुनिक गद्य-काव्यों का उल्लेख करना आवश्यक है। साहित्याचार पं० अम्बिका दत्त व्यास ने शिवराजविजय नामक गद्य-काव्य की रचना की है, जो काशी से १६०१ ई० में प्रकाशित हुआ है। व्यास जी का स्थितिकाल १८५८-१६०० ई० था। इनके पूर्वज जयपुर राज्य के निवासी थे, पर इनके पितामह काशी में आकर बस गये थे। वहीं उनका अध्ययन संपन्न हुआ। 'बिहारी-बिहार' में उन्होंने 'संक्षिप्त निज वृत्तान्त' स्वयं लिखा है। मृत्यु के समय वे गवर्मेण्ट संस्कृत कालेज पटना में प्रोफेसर थे। बिहार में 'संस्कृत संजीवनी समाज' स्थापित कर उन्होंने संस्कृत शिक्षा-प्रणाली का सुधार किया। व्यास जी ने छोटी-बड़ी मिलाकर संस्कृत और हिन्दी में कुल ७८ पुस्तकें लिखी हैं।

शिवराजविजय छत्रपति शिवाजी के जीवन को चित्रित करने वाला एक रोचक उपन्यास है। ऐतिहासिक घटनाओं पर कल्पना का रंग चढ़ा कर लेखक ने सारी कृति को अतीव हृदयग्राही बना दिया है। विशद वर्णनाशक्ति स्थल-स्थल पर प्रस्फुटित हुई है। कहीं रोचक एवं स्वाभाविक संवाद हैं, कहीं विनोद और हास्य का पुट है, कहीं प्रणय का विमुग्धकारी चित्रण है, कहीं विषम गिरि-दुर्गों पर आक्रमण का वर्णन है, कहीं महाराष्ट्र शिविर तो कहीं मुगल-दरबार का दृश्य है। रोचकता की दृष्टि से शिवराजविजय आधुनिक उपन्यासों से किसी मात्रा में घटकर नहीं है। उसमें विशद वर्णन के साथ ही

घटनाओं की तीव्र गतिशीलता भी है। उनकी शैली में प्रासादिकता, और प्रवाह के साथ परिष्कृत प्रौढ़ता भी है। उसमें दण्डी और बाण की शैलियों की सफल अनुकृति देख पड़ती है। स्थल-स्थल पर ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो अभी तक कोष में ही पड़े थे, जैसे 'चिल्लम्', 'सरकः'; 'चिरंटी', 'कवरी' आदि। शिवराजविजय की शैली का एक उदाहरण देखिए। शिवा जी दिल्ली में प्रवेश कर रहे हैं—"तावत्ते सेतुमुल्लंघ्य परं तटमायाता दिल्लीं प्रविविशुः। तत्र च प्रघाणस्थैः परिवर्तितग्रीवैर्लोलोष्णीष-बन्धैर्भटैः, आपणोपविष्टैः स्तब्धशष्कुलैः स्वर्णकारैः, कर्णार्पित-लेखनीकैश्चित्रकारैः, समुपेक्षिततुलादण्डैर्वाणिजैः, विशिथिल-स्खलितमानदण्डैः पटविक्रयिभिः, रुद्धसीवनैः स्यूतिकारैः, विस्मृत-हारग्रन्थनैर्मालाकारैः, घण्टापथे विचिरद्भिः समाकृष्टवल्गैः सादिभिः, आसादितप्रान्तैः पर्यटकैः, आशीर्वचन-स्फुरितोष्ठैरिव ब्राह्मणैः, परिवर्जितक्रीडैर्बालकैः, गवाक्षस्थैः शिथिलितव्रीडैरंगुल्यग्रापसारि-ततिरस्करिणीविच्छेदप्रहितकटाक्षावलोकनैः कुलयुवतिजनैश्च सकौ-तुकं निरीक्ष्यमाणः, कोऽयं, कुतोऽयं, सोऽयं, स एवायं, वीरोऽयं, वीरवरोऽयं, महाराष्ट्रराजोऽयं, दुर्धर्षोऽयं, चिरश्रुतोऽयं शास्तिखा-नशास्तिशास्त्रज्ञोऽयं, विजयपुरविजयदीक्षितोऽयं; गोलखण्डखण्ड-खण्डनपण्डितोऽयं, अम्बरपुरन्दरप्रीतिपरवशोऽयं, सम्राजमुप-सर्पति। अम्बरराजकुमारेण सह नीयते।" व्यासजी निःसंकोच 'अभिनव–बाण' कहे जा सकते हैं।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में निबन्ध-लेखन का प्रचार नहीं था। आधुनिक समय में ओरिएंटल कालेज लाहौर के पण्डित हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य (१८५०-१९१३ ई०) ने सामयिक विषयों पर सुरुचिपूर्ण निबन्ध लिख कर मौलिक प्रणाली का प्रचार किया है। उन्होंने 'विद्योदय' नामक संस्कृत पत्रिका का ४४ साल तक संपादन किया। 'विद्योदय' में शास्त्रीजी के

सामयिक समस्याओं पर सरस और विनोदपूर्ण शैली में लेख रहते थे। विद्वानों ने उनके विषयों की नवीनता तथा विविधता की प्रशंसा की है। मैक्समूलर ने भी शास्त्रीजी के अद्भुत कार्य को पसन्द किया था। १६ वीं शताब्दी में एक संस्कृत पत्रिका का नूतन विचार प्रणाली से तथा पाश्चात्य विचार-शैली में सम्पादन कर शास्त्रीजी ने इस युग में संस्कृत साहित्य की अमूल्य सेवा की है तथा अपने प्रबन्धों से उसकी श्रीवृद्धि की है। उनके लेखों का एक संग्रह प्रबन्ध मंजरी १६३० ई० में प्रकाशित हुआ है। यह 'सकलरस-परम्परातरङ्गितानां प्रबन्धानां संग्रहः' है। इसमें एक लेख 'उद्भिज्ज-परिशद्' है, जिसमें पेड़-पौधों की सभा में मनुष्यों के सम्बन्ध में बड़ी रोचक चर्चा होती है—'अश्वत्थ-महोदयः स्वशाखाहस्तमुत्थाप्य प्रतिपादयति—भो भो नानादिग्देशसमागताः सुभद्रा वनस्पतयः, परमप्रियतमा लतावंध्वश्च, सावहिताः शृण्वन्तु भवन्तः। अद्य मानववार्त्तैवास्मत् समालोच्यविषयः। ....मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टिः। समन्तादभिनवोत्तरविलक्षणसृष्टिमुत्पादयता भगवता जगत्सवित्रा यादृग् बुद्धिप्रकर्षः सृष्टिनैपुण्यञ्च प्रदर्शितं, मानवसर्गं विदधता पुनरनेन तत्सर्वमेकपद एवापहारितम्, एतावदुच्चावच-सृष्टिपरम्परामवलोक्य स्रष्टुरगाधबुद्धिमत्त्वं सृष्टिश्चेयं बुद्धिपूर्विकेति यदस्माभिरनुमितमासीत् पूर्वं, साम्प्रतं मानवसर्गसन्दर्शनेन तु निःशेषतोऽपागतोऽसौ संस्कारः, संजातश्च तद्विपरीतः 'स्रष्टुर्न स्वल्पापि बुद्धिर्विद्यत' इत्येवंरूपः कोऽपि निश्चयः।'

प्रबन्ध-मंजरी की भाषा अत्यन्त प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण है। संस्कृति में व्यङ्ग-शैली (satire) का प्रथम प्रादुर्भाव इन्हीं निबन्धों से माना जायगा। भट्टाचार्य की भाषा में भी बाण की शैली की पूरी छाप है। इनके विषय में म० म० पं० गिरिधर शर्मा कहते हैं—

मुद्रयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मुहुराणाम् ।
स्मरयति च भट्टबाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी ॥

संस्कृत गद्य-काव्य की विशेषताएं

संस्कृत गद्य-काव्यों के कथानक का मूल प्रायः लोक-कथाओं (folk-tale) से लिया गया है। लोक-कथाओं की भांति कथा में उपकथा का संनिवेश करने की प्रथा भी गद्य-काव्यों में देख पड़ती है। किन्तु गद्य-काव्यों की व्यंजना-प्रणाली लोक-कथाओं से भिन्न है। उनकी शैली बहुत-कुछ पद्य-काव्यों से प्रभावित हुई है। शिष्ट एवं संभ्रान्त वर्ग के लिये लिखे जाने के कारण इन गद्य-काव्यों में उत्कृष्ट एवं अलंकृत भाषा का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ ही वर्णन-शैली का भी अत्यधिक परिष्कार हुआ है। दीर्घकाय समास, अनुप्रास, श्लेष, यमक, परिसंख्या आदि अलंकारों तथा सूक्ष्म पौराणिक संकेतों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। प्रकृति का विस्तृत चित्रण तथा नायक-नायिका की शारीरिक और मानसिक दशाओं का अतिरंजित वर्णन भी हुआ है। शृङ्गार-रस ही इनका प्रधान रस है। लोककथाओं के सरल और प्रवाहयुक्त आख्यानों पर कल्पना और पाण्डित्य का गहरा रंग चढ़ाया गया है। कथा-भाग गौण हो गया है और अलंकृत वर्णन-शैली ही प्रधान हो गई है। पद्य-काव्यों के व्यापक प्रभाव के कारण संस्कृत में व्यावहारिक गद्यशैली का विकास बहुत कम देख पड़ता है।

संस्कृत के गद्य-काव्य इस धारणा के पोषक हैं कि कविता के लिये छन्द अनिवार्य नहीं हैं; छन्दोबद्धता तो उसका केवल एक बाह्य परिच्छद है। गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से कविता की रचना हो सकती है। यही कारण है कि संस्कृत

गद्य-काव्य सहृदयों के हृदय में वास्तविक काव्यानन्द का सञ्चार करते हैं। यदि भाषा-सौष्ठव, वर्णन-नैपुण्य, कल्पना-वैचित्र्य, रसास्वाद, पद-लालित्य, श्लेष-चातुर्य और अलंकार-वैभव—इन समस्त काव्यात्मक गुणों का एकत्र अवलोकन करना हो तो संस्कृत के गद्य-काव्यों का अनुशीलन करना चाहिए। ऐसी अलंकृत, उदात्त एवं परिष्कृत गद्य-शैली का विकास स्यात् ही किसी भाषा के साहित्य में हुआ हो।

आदौ दण्डी ततश्चासीत् सुबन्धुः श्लेषमार्मिकः।
तथा श्रीबाणभट्टश्च त्रयो गद्ये प्रकीर्तिताः॥

९

गीति-काव्य

जिन काव्यों में महाकाव्य के सभी गुण या लक्षण नहीं पाये जाते, उन्हें खण्डकाव्य या गीतिकाव्य कहते हैं१। मानव जीवन के एक ही पक्ष का उद्घाटन अथवा अन्तरात्मा के किसी एक ही पटल का चित्रण गीतिकाव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है। जहां महाकाव्य में मानव जीवन की समग्रता का प्रसार है, वहां गीतिकाव्य में जीवन की एकदेशीयता की तन्मयता है। गीतिकाव्यों का आकार-प्रकार महाकव्यों से छोटा है। प्रधानतया उनमें एक ही विषय वर्णित रहता है—शृङ्गारिक, धार्मिक अथवा नैतिक। गीतिकाव्यों में लालित्य एवं माधुर्य का विशेष पुट देख पड़ता है। ऋग्वेद में उषा के प्रति की गई स्तुतियों में गीतिकाव्य की सर्वप्रथम झलक देख पड़ती है। सुभाषित-ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से भी कुछ गीति-पद्य उपलब्ध होते हैं। गीति-पद्यों का नाटकों में भी प्रयोग होता है। स्वतन्त्र गीतिकाव्यों में प्रायः मुक्तक पद्यों का प्रयोग किया जाता है। मुक्तक—काव्य की विशेषता यह है कि उसमें एक ही पद्य में रस की पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा किसी विषय का सांगोपांग चित्रण होता है। प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतन्त्र होता है। उसे समझने में पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा नहीं होती—'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचवर्णा क्रियते तदेव मुक्तकम्।' (ध्वन्यालोक)

१—खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। साहित्यदर्पण ६।३२९

मालाएँ, मादक मद्य, प्रेमोद्दीपक संगीत, ये सभी ऋतु की प्रचण्डता को शान्त करने के साधन हैं। कमनीय कान्ताओं के साथ प्रासादपृष्ठ पर संगीत का आनन्द लेते हुए युवकों की विरल रात्रियाँ व्यतीत हो जाती हैं—

व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो ।
निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ॥

अब वर्षा-ऋतु का शुभागमन होता है। शस्यश्यामला वसुन्धरा तरुणी की भांति प्रतीत होती है। नदियां यौवनोन्मत्त चञ्चल नारियों की भांति बड़े वेग से समुद्र की ओर चली जा रही हैं। विद्युत अंधेरी रात में प्रिय-समागम के लिये आतुर अभिसारिकाओं के पथ को आलोकित करती है। मेघों के गम्भीर गर्जन से भयभीत कोमलांगी अपने प्रियतम के अपराधों को बिना मानापनोदन के ही क्षमा कर देती है। ऋतु प्रणयिनी की भाँति पुष्पों से अपना शृङ्गार करती है। युवक-युवतियां उत्कण्ठित हो उठती हैं।

नवविवाहिता वधू की भाँति रमणीय शरद् ऋतु आ गई। पुष्पित काश कुसुम ही उसका वस्त्र है। विकसित कमल-समूह उसका मनोहर मुख है। उन्मत्त कलहंसों की ध्वनि उसके नूपुरों की झंकार है। पके धान के खेतों के समान उसके अंगों का पीत गौर वर्ण है। शरद् ऋतु के इस अनिन्द्य सौन्दर्य के सामने रमणी-सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। हंस अंगनाओं की चाल को, खिले कमल उनके मुखचन्द्र की कान्ति को, नीले कमल उनको नेत्र-सुषमा को, तथा लोल लहरियां उनके भ्रूविभ्रमों को मात कर देती हैं। निशासुन्दरी मेघरूपी अवगुण्ठन को हटाकर अपने मुखचन्द्र की शोभा सर्वत्र बिखेर रही है। शीतल मन्द वायु मंजरियों के साथ ही युवक-हृदयों को दोलायमान कर रही है।

हेमन्त में लोध्रवृक्ष पल्लवित हो जाते हैं। कमल के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। तुषार-पात सर्वत्र होने लगता है। स्त्रियां कौशेय वस्त्रों का त्याग कर देती हैं। प्रियंगुलता विरहिणी विलासिनी की भांति पीली पड़ जाती है। प्रेमीजन प्रगाढालिंगन में बद्ध होकर शयन करने लगे। युवतियां बालातप की सौख्यपूर्ण रश्मियों में स्नान करती हैं।

प्रकृष्ट प्रेम का आवाहन करने वाली शिशिर ऋतु का स्वागत कीजिए। इस ठिठुरते जाड़े में मन्दद्युति नक्षत्रों तथा नीहार से आच्छादित रजनी की शोभा निरखने भला कौन बाहर निकलता है? इस समय तो लोग आग, गरम वस्त्र तथा प्रिया के प्रगाढ़ परिरम्भ का सेवन करते हैं। कन्दर्प के दर्प का तो कहना ही क्या है? शिशिर बिछुड़े प्रेमियां को अवश्य संतापकारिणी है, पर धान के खेतों की सुनहली छटा देखते ही बनती है।

अब प्रेमियों का सच्चा संदेशवाहक वसन्त प्रणय को प्रगाढ और परिपक्व बनाता हुआ अपने आगमन की सूचना दे रहा है। जिधर देखिए आनन्द और उल्लास का ही दृश्य छा रहा है। वृक्ष कुसुमों से, जलाशय कमलों से, स्त्रियां प्रेमोद्रेक से, वायु सुगन्ध से, सन्ध्या शीतलता से, दिवस प्रफुल्लता से, संक्षेप में, समग्र दृश्य जगत् बसन्त की चारुता से प्रिय तथा स्निग्ध प्रतीत हो रहा है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते॥

नववधू के कर्णपाश का कर्णिकार-कुसुम क्या ही शोभा दिखा रहा है; उसके काले केशपाशों में अशोक-पुष्प की क्या ही निराली छटा है! मादक वासंतिक समीर सर्वत्र हर्षोन्माद का प्रसार करता हुआ मन्द-मन्द डोल रहा है। अहा, वह

विश्वविजयी कामदेव अपने अभिन्न सहचर वसन्त के साथ आप सब का कल्याण करें, पलाशपुष्प जिनका धनुष है, आम्र-मञ्जरियां जिनके तीर हैं, अलिकुल जिनकी प्रत्यंचा है, धवल चन्द्र जिनका कलंकरहित छत्र है, मलयानिल मत्तगजेन्द्र है तथा कोकिल चारण या बन्दीजन हैं—

आम्री मंजुलमंजरी वरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।
मत्तेभो मलयानिलः परभृतो यद्वन्दिनो लोकजित्
सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥

यह है संक्षिप्त परिचय ऋतुसंहार की कविता का। उसकी प्रत्येक पंक्ति में कवि के यौवन का उद्दाम वेग प्रवाहित हो रहा है। युवकों पर वह संमोहन का इन्द्रजाल डाल देती है।

कालिदास की प्रौढ़ कृतियों की तुलना में ऋतुसंहार का अधिक महत्व नहीं है। उसमें कवि का प्रारम्भिक प्रकृति-प्रेम चित्रित है। फिर भी उसमें भावों की नूतनता नहीं। प्रेमियों के हृदय पर प्रकृति के प्रभाव का वह उल्लासपूर्ण चित्रण है। तरुण कवि की प्रथम कृति होने के कारण ऋतुसंहार में कालिदास की कविता का सर्वश्रेष्ठ गुण—ध्वनि—का एक प्रकार से अभाव है। किन्तु कालिदास की प्रासादिकता सर्वत्र विद्यमान है।

<u>मेघदूत</u> संस्कृत के गीतिकाव्य-साहित्य का एक परम उज्ज्वल रत्न है। इसमें १२१ पद्यों में कवि ने एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण किया है। इसके दो भाग हैं—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। अलकापुरी के आधीश्वर कुबेर ने अपने किंकर यक्ष को कर्तव्यपालन में त्रुटि दिखाने के कारण एक

वर्ष के लिये निर्वासित कर दिया। बेचारा यक्ष अपनी प्राणवल्लभा पत्नी से दूर भारत की निम्नभूमि में आकर रामगिरि[१] नामक पर्वत पर अपने वियोग के दिन काटने लगा। जैसे-तैसे आठ मास व्यतीत करने के बाद वर्षाऋतु के आगमन ने उसके प्रेमी-हृदय में विरह की तीव्र वेदना जागरित कर दी। उसके मन में मेघ द्वारा अपनी प्रियतमा के पास प्रणय-संदेश भेजने की कल्पना आई। पूर्वमेघ में वह मेघ के लिये रामगिरि से अलका तक के मार्ग का विशद वर्णन करता है तथा उत्तरमेघ में अलकापुरी, अपने भवन और अपनी पत्नी की विरहदशा का वर्णन कर अन्त में अपना संदेश सुनाता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि मेघदूत में विरही यक्ष का चित्रण कर कालिदास ने प्रकारान्तर से अपने ही जीवन की किसी घटना को चित्रित किया है। पर इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं जान पड़ता। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ जनश्रुति के आधार पर कहते हैं कि कालिदास ने मेघदूत की कल्पना वाल्मीकि-रामायण की उस घटना से ली है, जहाँ राम सीता के प्रति हनूमान द्वारा संदेश भेजते हैं (सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि विधाय मेघसन्देशं कृतवानित्याहुः)। मेघदूत की कुछ पंक्तियां इस कथन का समर्थन भी करतीं हैं जैसे—'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु', 'रामगिर्याश्रमेषु', 'रघुपतिपदैरंकितम्', 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा'। अन्य स्थलों पर भी वाल्मीकि की कुछ उक्तियों का अनुकरण देख

१—यद्यपि मल्लिनाथ ने भ्रमवश चित्रकूट को ही रामगिरि माना है, किन्तु आधुनिक अनुसन्धान के आधार पर यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो चुका है कि नागपुर के उत्तर में स्थित वर्तमान रामटेकरी नामक पहाड़ी ही रामगिरि है।

पड़ता है[१]। अतः यह असंभव नहीं कि कालिदास को मेघदूत का कल्पना-बीज रामायण से प्राप्त हुआ हो। परन्तु जिस सूक्ष्म रचना-कौशल द्वारा उन्होंने उसमें अपूर्व रमणीयता का संचार किया है, उसे देखते हुए उनकी कल्पना नितांत मौलिक ही कही जायगी।

संस्कृत के गीतिकाव्यों में मेघदूत का स्थान अग्रगण्य है। जैसी रमणीय एवं सुकुमार कल्पना इस काव्य में हुई हैं, उसी के अनुरूप इसकी भाषा एवं शैली भी अत्यन्त मनोहर है। इसकी भाषा बड़ी ही प्रांजल, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण है। शब्दों के चुनाव में कवि ने विशेष कौशल दिखाया है। कहीं माधुर्य की व्यंजक स्निग्ध मधुर पदावली है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।

कहीं कोमलकान्तपदावली द्वारा प्रेमिका की अतिसुकुमार हृदयकली का आभास कराया गया है—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।

कहीं शब्दों की नादात्मक ध्वनि से ही वर्णित विषय का चित्र उपस्थित किया गया है—

१—वाल्मीकि—मेघाभिकामा परिसंपतन्ती संमोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वातावधूता वरपौण्डरीकी लम्बेव मालारुचिराम्बरस्य॥ ४।२८।२३

मेघदूत—नूनमाबद्धमालाः, सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।

वाल्मीकि—प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्। ४।२८।१५

मेघदूत—यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्।

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम् ।

तो कहीं सुभग शब्दमैत्री द्वारा छन्द में रमणीयता का संचार किया गया है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

मेघदूत की शैली कालिदास की स्वाभाविकता और प्रसादिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है। मेघदूत के पद्यों की रमणीयता, स्वरसौष्ठव, माधुर्यविलास एवं कोमल संगीत-लहरी दर्शनीय है। सारा काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है, जिसकी मंद-मधुर गति विप्रलंभ शृङ्गार के करुण-कोमल भाव को व्यंजित करने में विशेष सहायक सिद्ध हुई है। तभी तो कालिदास के मन्दाक्रान्ताछन्द की प्रशंसा करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते ।
सद्श्वदमकस्येव काम्बोजतुरगांगना ॥

परिमित पदावली में भाव की विशद व्यंजना कर देना मेघदूत का विशेष गुण है। स्थल स्थल पर भावों और दृश्यों के सुन्दर शब्द-चित्र अङ्कित हैं। कैलाश पर्वत की गोद में पड़ी हुई अलका का कैसा बिम्बग्राही चित्र है—

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।

हे स्वच्छन्द विहार करने वाले मेघ, अपने प्रियतम कैलाश-गिरि की गोद में पड़ी उस अलका-सुन्दरी को देखते ही तुम पहचान जाओगे, जिसकी गङ्गारूपी साड़ी खिसक कर नीचे सरक गई

है।' यक्ष-प्रेयसी कङ्कणयुक्त करों से ताल दे देकर किस प्रकार अपने बाल-मयूर को नचाती है, इसका चित्र देखिए—

तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ।

अथवा अलका के रमणीय क्रीडाशैल का चित्र देखिए, जिसके चारों ओर रुचिर कनककदली की बाड़ लग रही है—

तस्यस्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।

विरह विधुरा यक्षपत्नी का कैसा स्वाभाविक एवं संक्षिप्त शब्द-चित्र है—

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्-
भूयो भूयः स्वयमपिकृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

'हे सौम्य मेघ, वहां पहुंच कर तुम देखोगे कि मेरी विरह-कातर पत्नी मलिन वस्त्र पहने हुए, गोद में वीणा लेकर कुछ ऐसे गीत गाने की चेष्टा कर रही होगी, जिनमें मेरे नाम का प्रयोग किया गया होगा। उस समय वह अपनी आँखों के आँसुओं से भीगी उस वीणा को जैसे-तैसे पोंछ कर मेरा स्मरण हो आने से ऐसी विह्वल हो जायगी कि बार-बार की अपनी अभ्यस्त मूर्छनाओं को भी वह भूल जायगी।' निम्नलिखित पद्यों में मेघ तथा अलका के प्रासादों की पारस्परिक तुलना में कवि ने कैसी समास-शैली का परिचय दिया है—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

'हे मेघ, अलकापुरी के वे ऊंचे-ऊंचे भवन सभी प्रकार से तुम्हारी समता करने में समर्थ हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनों में विद्युत् के समान गौरवर्ण सुन्दरियां हैं। यदि तुम इन्द्र-धनुष से युक्त हो तो वे भवन भी रंग-बिरंगे चित्रों से सज्जित हैं। यदि तुम मृदु-गम्भीर गर्जन कर सकते हो तो वे भी मृदंग के मधुर नाद से निनादित हैं। यदि तुम्हारे अन्दर स्वच्छ स्फटिकोपम जल भरा है तो वहां भी फर्शों पर उज्ज्वल मणियां जटित हैं और यदि तुम ऊंचे हो तो वहां भी गगनचुम्बी अट्टालिकाएं हैं।'

मेघदूत में अलङ्कारों का यथास्थान उपयुक्त प्रयोग नैसर्गिक चारुता का संचार करता है। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का तो बड़ा ही सुन्दर एवं समुचित प्रयोग हुआ है। कालिदास की उपमाओं का तो कहना ही क्या है! प्राकृतिक दृश्यों का मानवीय सौन्दर्य से सुरुचिपूर्ण सादृश्य स्थापित किया गया है। वर्षाकाल में महलों पर शुभ्र जलबिन्दु की झड़ी लगाने वाले मेघवृन्द अलकासुन्दरी के मुक्ता-मण्डित केशकलाप की भांति हैं—

या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।

कभी कालिदास मानवीय सौन्दर्य की तुलना प्रकृति-सौन्दर्य से करते हैं। चिन्ता से कृशकाय, विरहशय्या पर एक ही करवट

पड़ी यक्ष-पत्नी प्राची में कृष्णपक्ष की क्षीण चन्द्रकला की भांति है—

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।

बेचारी बिरहिणी यक्षपत्नी, बरुनियों में निरन्तर आंसू के बड़े बड़े बूँद भरे रहने के कारण, मेघाच्छन्न दिवस में स्थल-कमलिनी की भांति न जागती ही है, न सोती ही—

चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं नप्रबुद्धां नसुप्ताम्।

मेघदूत में स्थान-स्थान पर अभिनव उत्प्रेक्षाओं का भी सुन्दर उपयोग हुआ है। कैलाशपर्वत की शुभ्र धवल हिमाच्छादित चोटियां ऐसी शोभित हो रही हैं मानो भगवान् शङ्कर के प्रतिदिन अट्टहास की राशियां लगी हों। मेघ को ऊपर जाते देख जब मृगनयनी यक्षपत्नी के नेत्र फड़क उठते हैं तो उस समय उनकी शोभा उस कमल के समान होती है जो किसी मछली के उछलने के कारण चंचल हो उठा हो। पर्वत की चोटी पर छा जाने वाला श्यामवर्ण मेघ शिव के शुभ्र वृषभ के सींग पर लगे पंक की छवि धारण करता है।

मेघदूत में कालिदास ने बाह्य-प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। बाह्य-प्रकृति के चित्रण में कवि की अन्तरात्मा प्रत्येक दृश्य के साथ मानो रम गई है। बाह्य-प्रकृति के प्रति कवि का अनन्य अनुराग देख पड़ता है। दृश्यों का ऐसा ब्यौरेवार और संश्लिष्ट चित्रण किया गया है कि हमारे मानसिक नेत्रों के सम्मुख उनका एक चित्र उपस्थित हो जाता है। सारा पूर्वमेघ बाह्य-प्रकृति का ही मनोहर रूपयो-

जनात्मक चित्रण है। वर्षाऋतु का जैसा स्निग्ध और हृदयग्राही वर्णन मेघदूत में किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कहीं प्रथम वृष्टि के कारण नये जुते खेतों से सोंधी महक उड़ रही है, कहीं खिले केतक-कुसुमों के पराग से उपवन का परिसर धवल हो रहा है, कहीं मत्त मयूर नाच रहे हैं, कहीं हिरन चौकड़ी भर रहे हैं और कहीं मतवाले हाथी सूंड़ों की सिसकारी भर मन्द समीर का पान कर रहे हैं। मेघदूत के प्रकृति-वर्णन में ऐसे स्थल हैं जिन पर उत्कृष्ट कोटि के चित्र बनाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, मानसरोवर को जाने वाले राजहंसों का विशद चित्र देखिए, जो अपनी चोचों में पाथेय के लिये कमलनाल के मृदुलदलों को दबाये मेघ के साथ-साथ उड़ते जा रहे हैं—

आ कैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः।

गङ्गा के स्फटिक-समान निर्मल जल को पीने का लोभी मेघ जब अपने अगले तन का विस्तार करके दिग्गज की भाँति नभ में झुक जाता है तो उसके श्याम प्रतिबिम्ब से गङ्गा तत्काल यमुना-संगम की छटा धारण कर लेती है।

यक्ष के प्रणय-सन्देश को लेकर जाते हुए मेघ का 'नयनसुभग' रूप स्थल-स्थल पर अङ्कित है। अनुकूल पवन से प्रेरित हो कभी वह सीधे, कभी मुड़कर और कभी लम्बे-तिरछे होकर उड़ता है। कहीं वह गिरिशिखरों पर विश्राम करता है, कहीं क्षीण होने पर सरिता के सरस सलिल का पान करता है, तो कहीं मूसलाधार वृष्टि बरसाता है। कहीं वह घनश्याम-सा श्याम बन जाता है, कहीं सायंकाल होने पर अभिनव जपा-कुसुम की लालिमा धारण करता है और कहीं कनककसौटी की रेखा जैसी विद्युत की छटा दिखाता है। प्रदोषकाल की पशुपति-पूजा में मन्द-मन्द गर्जन

कर वह डंके का काम करता है। कभी फ़ौवारे जैसा उड़कर, कभी करिशावक जैसा बनकर और कभी पर्वत-शिखरों पर चिकनी चोटी की तरह चिपट कर वह भांति-भांति की क्रीड़ा करता है।

कालिदास ने मेघ को भाफ, पवन, पानी और पावक का निरा संघात ही नहीं बनाया है, अपितु एक सजीव प्राणी के रूप में चित्रित किया है, जिसमें विनोदप्रियता है, रसिकता है और है यक्ष के ही समान प्रणय-पिपासा। कभी वह कनककमलाकर मानसरोवर के सलिल का पान करता है, तो कभी नानाविधि क्रीड़ा में निरत हो गिरि-शृङ्गों पर विहार करता है, तो कभी ऐरावत का मुख-पट बन उसे महान् मोद देता है। सहृदय मेघ दशपुर-वधुओं के भ्रू विलासों से वंचित नहीं रहता। रुचिर रमणियों के पदराग से अङ्कित उज्जयिनी के सुरम्य महलों की छतों पर रात बिताकर वह मार्गश्रम दूर करता है। मुरझाते कर्णकमलों से सुशोभित मालिनों के मुखड़ों पर छाया कर वह उनका प्रीतिपात्र बनता है। रसिक और सहृदय होने के कारण वह अपने घोर गर्जन से अभिसारिकाओं को डराता नहीं। मछली की किलोल के रूप में चंचल कटाक्ष करने वाली नदी को वह निष्ठुर बन निराश नहीं करता।

कालिदास के अनुसार प्रकृति में सर्वत्र प्रेम की शीतल छाया प्रसार पा रही है। सारी चराचर प्रकृति सचेतन एवं भावना-शील है। नदियां, मानिनी प्रेमिका की भाँति, इठलाकर अपनी लहररूपी भौहें तान लेती हैं। भोर ही सूर्य अपनी खण्डिता प्रियतमा नलिनी के ओसरुपी आंसुओं को अपने करों से पोंछता है। प्रियतम-सा चाटुकार शिप्रावात कामिनियों के सुखमय गात्र का स्पर्श करता है। प्रकृति के रमणीय दृश्य मानवों को ही नहीं,

पशु-पक्षियों और जड़ पदार्थों को भी उत्कण्ठित कर देते हैं। घटाओं में घिरे मेघ को देखते ही उसका सगा पपीहा चहकने लगता है। बगुलियां गर्भाधान का समय जान उड़कर मेघ का सम्मान करती हैं। सजलनयन केकी कूकों से उसका स्वागत करते हैं। पर्वत उसको गले लगाकर खिले कदम्बों से पुलकित हो उठता है। प्रकृति में पारस्परिक समवेदना के भाव भी देख पड़ते हैं। पहाड़ बहुत दिनों से अपने स्नेही मेघ को देखकर गरम आंसू बहाता है; मेघ पहाड़ से सखा की भांति मिलकर उससे बिदा मांगता है।

प्रकृति के विविध दृश्य मानव-हृदय को भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्कण्ठाओं एवं प्रेरणाओं से आन्दोलित करते हैं। अन्तः और बाह्य-प्रकृति का यह घनिष्ट सम्बन्ध मेघदूत में सर्वत्र देखने को मिलता है। वर्षाकाल की सुहावनी घटा को देखकर विरही यक्ष अनमना हो जाता है। विरहिणी पथिक-रमणियाँ हवा पर सवार मेघ को देख अपने प्रियतम के आगमन की आशा में धैर्य धारण करती हैं। सरलस्वभावा सिद्धांगनाएं अकाश में घने कृष्णवर्ण के मेघों को देख कर उन्हें हवा में उड़ती पहाड़ की चोटियां समझती हैं। 'भ्रूविलासानभिज्ञ' ग्राम-तरुणियां अपनी 'नेहभरी भोली चितवन' से मेघ का स्वागत करती हैं। कटाक्ष करने में चतुर पौरस्त्रियां अपने 'चल चपला से चकित चुटीले बांके नैनों' में मेघ को उलझाने का प्रयत्न करती हैं।

प्रकृति में सहानुभूति की भावना का भी मनोरम आरोप किया गया है। यक्ष की करुण दशा को देख प्रकृति उसके प्रति समवेदना प्रकट करती है। जब यक्ष स्वप्न में अपनी प्रियतमा के आलिंगन के लिये शून्य गगन में बाहें फैलाता है तो वन-देवियां उसकी दशा देख मोतियों के समान आंसू की बड़ी बड़ी बूँदें टपकाती हैं।

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

प्रकृति के साहचर्य में ही मानव के संतप्त हृदय को सान्त्वना मिल सकती है। हिमालय के देवदारु वृक्षों की गन्ध से सुगंधित वायु के स्पर्श में यक्ष को अपनी पत्नी के कोमल अंगों का आलिंगन-सुख मिलता है। प्रियंगुलता में उसके अंगों की, मोरपंख में उसके केशकलाप की, हरिणी के चंचल नयनों में उसके नेत्रों की, चन्द्रमा में उसके मुख की और नदी की चंचल लहरों में उसके भ्रूविलास की छाया देख वह विरह में भी सान्त्वना पाता है। गेरू से शिला पर प्रिया का चित्र खींच वह विरह-विनोद करता है।

पूर्वमेघ में विरही यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने दुःखी हृदय को आश्वासन देता है; उत्तरमेघ में वह प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत एवं भावी मिलन-सुख का स्वप्न देखता है। प्रकृति की अलौकिक प्रेरणा यक्ष के प्रेम को संकीर्णता की परिधि से बाहर निकाल विश्व-प्रेम में परिणत कर देती है। 'असंगता विश्वप्रेम का प्रधान कारण है। संगम का परिच्छिन्न प्रेम" विरह में अपरिच्छिन्न हो जाता है।' अलका के भवन में बैठी यक्षपत्नी यक्ष को प्रत्येक वस्तु में दिखाई देती है—

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥

तभी तो उसे पेड़-पल्लव, नदी-नद, खोह-पहाड़, पशु-पक्षी, भले-बुरे, जड़-चेतन सभी से प्रेम हो गया है।

कालिदास ने यक्ष और उसकी प्रेयसी की विरहावस्था का वर्णन कर उनकी अन्तःप्रकृति का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। वास्तव में मेघदूत एक विरहपीडित, उत्कंठित हृदय की मर्मभरी आह है; प्रत्येक पद्य में उसकी विकलता, उसकी विह्वलता, उसकी कातरता, उसकी आतुरता, उसके स्पन्दन, उसके क्रन्दन की करुण तान झंकृत हो रही है। यक्षपत्नी के बाह्य एवं अन्तः-सौन्दर्य का सुकुमार और करुण अंकन अपूर्व है—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥

'हे मेघ, विरह-चिन्ता के कारण चुप रहने वाली मेरी उस प्रियतमा को मेरा दूसरा प्राण ही जानना, जो मुझसे बिछुड़ कर, अपने सहचर से वियुक्त चक्रवाकी की भांति, विरह की हूक सह रही होगी। वियोग के इन दीर्घ दिनों में मेरी उस वियोगिनी प्रिया की दशा उस कमलिनी के समान होगी, जो पाला पड़ जाने के कारण बिलकुल मुरझा गई हो।' अलका की सुरम्य आनन्दमयी नगरी में वही नारी दुखी और अकेली होगी। उस आभूषणहीन, अधीर, कृश शरीर वाली मेरी पत्नी को देख, हे मेघ! तुम्हारा भी आर्द्र-हृदय भर आयेगा और तुम्हारे नयनों से नीर झरने लगेगा। मेरे विरह के दिन से ही वह देहली के फूलों को धरती पर फैलाकर गिन रही होगी कि अब विरह के कितने दिन बाकी हैं। मेरे वियोग में रोते-रोते उसके नेत्र सूज गये होंगे, उष्ण निःश्वासों से उसके अधरों का वर्ण फीका पड़ गया होगा, चिन्ता के कारण वह हाथ पर कपोल धर कर बैठी

होगी, बिखरे केशों के कारण उसका अस्पष्ट देख पड़ने वाला कमनीय मुखचन्द्र, मेघाच्छन्न चन्द्रमा के समान धुंधला और उदास दिखाई दे रहा होगा। देखो, प्रिय मेघ! वह या तो देवताओं की पूजा में सलग्न देख पड़ेगी या कल्पना द्वारा मेरे विरह-कृश शरीर का चित्र बना रही होगी या पिंजरे में बैठी मधुर-भाषिणी मैना से पूछ रही होगी कि हे सारिके! क्या तुझे अपने प्रिय स्वामी की भी याद आती है?—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृशं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिकां पंजरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हिं तस्य प्रियेति॥

अपने हृदय के दुःख-दर्द की गाथा सुनाने वाला तथा अपनी प्रियतमा के पास प्रणय-सन्देश भेजने वाला अभागा यक्ष बरबस हमारी हृत्तंत्री के तारों में समवेदना की मधुर झंकार उत्पन्न कर देता है। उसके शब्दों में प्रगाढ़ता एवं अनन्यता की पूर्ण अनुभूति होती है। यक्ष के प्रेमकातर हृदय का चित्रण कर महाकवि कालिदास ने उस मानवहृदय का चित्र अंकित किया है, जो विधाता के अटल विधान को मूकवेदनापूर्वक स्वीकार करते हुए भी तिमिराच्छन्न आकाश में प्रकाश की क्षीणरेखा—आशा की ज्योति—देखता है। तभी तो पुनर्मिलन की उसे पूर्ण आशा है—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥

'देखो, प्रिये, आगामी देवोत्थानी एकादशी को जब विष्णु भगवान् शेषशय्या से उठेंगे, उसी दिन मेरा शाप भी समाप्त हो जायगा। इसलिये इन शेष बचे हुए चार मासों को जैसे-तैसे आंख मीच कर व्यतीत कर दो। फिर तो हम दोनों, विरह के दिनों में सोची हुई अपने मन की साधें, शरद् की सुहावनी चांदनी रात में पूरी कर ही डालेंगे।' सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख के अटल नियतिचक्र में उसका पूर्ण विश्वास है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

मेघदूत की कल्पना शृङ्गारिक होते हुए भी उसमें शिष्ट नैतिकता का कहीं त्याग नहीं किया गया। अपनी जिस प्रियतमा के विरह में यक्ष क्षीणकाय हो सन्देश भेज रहा है, वह उसकी विवाहिता पत्नी है। उसकी प्रेयसी विधाता के नारी-रचना-कौशल का प्रथम अवतार ही नहीं है, पति की प्राणेश्वरी ही नहीं है, प्रत्युत विविधकलाप्रवीण, सहृदया, साध्वी और आदर्श पतिव्रता गृहणी भी है। यक्ष-दम्पत्ति का प्रणय मानवीय प्रेम का ही आदर्श प्रतिरूप है और है दाम्पत्य प्रणय की एकनिष्ठता का मूर्तिमान प्रतीक। कुबेर द्वारा निर्वासित होने के पूर्व यक्ष का प्रेम उद्दाम वासना से प्रेरित और कर्तव्य का विरोधी था। उद्दाम वासना से अभिभूत होने के कारण ही वह कर्तव्य-विरोधी प्रणय मानो अपने उच्च अलौकिक धरातल (अलका) से च्युत होकर निम्न पार्थिव स्तर (रामगिरि) पर आ पड़ा था। किन्तु दीर्घ वियोग ने इस वासना के अंश को भस्मसात् कर उसे पुनः विशुद्ध प्रणय में परिवर्तित कर दिया। सच पूछिए तो कालिदास ने अपने मेघदूत-काव्य द्वारा संसार को प्रणय-सिद्धान्त का यही

गूढ़ सन्देश दिया है। वियोग ही सच्चे प्रेम का पोषक और परिणति-विधायक है—'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।' जहां संयोग-दशा में निरन्तर आस्वादन के कारण प्रेम घटता हुआ प्रतीत होता है, वहां वियोग में स्नेहरस के उत्तरोत्तर पुंजीभूत होने के कारण वही प्रेम एक महान् राशि के रूप में परिणत हो जाता है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ।

विरही यक्ष का यह अतृप्त अनुराग, हमारा अनुराग बन जाता है; प्रिया के प्रति उसकी उत्कण्ठा, हमारी उत्कण्ठा हो उठती है। 'कालिदास की यह प्रसन्न-मधुर वाणी, मन्दाक्रान्ता की यह झूमती चाल, देश की यह मनोहर रूपमाधुरी—सबने मिलकर मेघदूत को उस अलौकिक रस से परिप्लावित कर दिया है जो काव्यप्रकाश में इस प्रकार वर्णित है—सर्वथा पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वांगीणमिवालिंगन्, अन्यत्सर्व-मिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कार-कारी··रसः। प्रातिभ और प्रत्यक्ष उभयविध गोचरों की जैसी रमणीय एकात्मता मेघदूत में है, वैसी कहीं नहीं।'[१] कालिदास का यह गीतिरत्न केवल वस्तुओं के रूपरंग में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाता, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखता है। इसमें जहां स्निग्ध-श्यामल बलाहकों से व्याप्त व्योममण्डल का बिंबग्राही वर्णन है, वहां प्रेमी-प्रेमिका के विरहजन्य प्रेमोत्कर्ष का भी हृदयग्राही चित्रण है। जहां जलकण-वाही, सुखशीतल, केतकगन्धी गन्धवाह का अथवा प्रिय-समागम

१—पं० केशवप्रसादमिश्र कृत मेघदूत के पद्यानुवाद की भूमिका।

से प्रीत मयूर के प्रमोद नृत्य का अथवा अभिनव जलधारा से आप्यायित वीरबहूटियों का स्निग्ध चित्रण है, वहीं अमिट सख्यभाव का, हृदय के औदार्य का, कृतज्ञता, सज्जनता, दया, त्याग एवं निःस्वार्थभाव का भी अंकन किया गया है। 'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा', 'न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय, प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः', 'मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः', 'आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानां', 'प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव' जैसी पंक्तियां इस काव्य की रमणीयता में गांभीर्य का संचार करती हैं। संक्षेप में, उदात्त कल्पना, कलात्मक सृष्टि-नैपुण्य, रसानुकूल भावव्यंजना, उच्च आदर्श तथा सुललित पदविन्यास-अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण मेघदूत गीतिकाव्य-कला का चरम निदर्शन है। 'अमोघराघव' (१२९९ ई०) के रचयिता दिवाकर ने कालिदास की जो प्रशंसा की है, वह मेघदूत पर अक्षरशः घटित होती है—

रम्या श्लेषवती प्रसादमधुरा शृङ्गारसंगोज्ज्वला
चाटूक्तैरखिलप्रियैरहरहस्सम्मोहयन्ती मनः।
लीलान्यस्तपदप्रचाररचना सद्वर्णसंशोभिता
भाति श्रीमति कालिदासकविता कांतेव कांते रता॥

कालिदास की ख्याति और लोकप्रियता जितनी रघुवंश और शाकुन्तल पर आश्रित है, उतनी ही इस सरस गीतिकाव्य मेघदूत पर भी। कुछ विद्वानों की तो यहां तक धारणा है कि यदि कालिदास अन्य किसी ग्रन्थ की रचना न करके केवल इस मेघदूत की ही रचना करते तो भी संसार के श्रेष्ठ महाकवियों में उनकी गणना की जाती। सन्देशकाव्य की अभिनव एवं मौलिक कल्पना का श्रेय महाकवि कालिदास को ही है। संस्कृत में

दूतकाव्यों का श्रीगणेश मेघदूत से ही होता है। मेघदूत के अनुकरण पर बाद में अनेक दूतकाव्यों की रचना हुई। ८ वीं शताब्दी के जैन कवि जिन सेन की रचना 'पार्श्वाभ्युदय' में समस्या पूर्ति के ढङ्ग पर मेघदूत की पंक्तियों का उपयोग किया गया है। १२ वीं शताब्दी के कविराज धोयी ने 'पवनदूत' की रचना की। इसके बाद तो नेमिदूत, हंसदूत, कोकिलदूत, शीलदूत, उद्धवदूत, जैसे सन्देशकाव्यों की परम्परा ही चल पड़ी। मेघदूत पर कुल मिलाकर ४० टीकाएं लिखी गई हैं। 'मेघे माघे गतं वयः' यह उक्ति मेघदूत के व्यापक अध्ययन की परिचायक है।

मेघदूत के हिन्दी में छः पद्यानुवाद हो चुके हैं। इनमें राजा लक्ष्मणसिंह तथा राय देवीप्रसाद के अनुवाद व्रजभाषा में हैं। श्री लक्ष्मीधर बाजपेयी और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने खड़ी बोली में समश्लोकी अनुवाद किया है। श्री दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने भी एक पद्यानुवाद किया है। किन्तु खड़ी बोली में सबसे सुन्दर और सरस अनुवाद आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र का है।

मेघदूत का विदेशों में भी खूब प्रचार हुआ है। जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने अपने 'मेरिया स्टुअर्ट' नामक नाट्य-काव्य में कालिदास के अनुकरण पर मेघ द्वारा सन्देश भेजने की कल्पना की है। प्रो० मैक्समूलर ने मेघदूत का जर्मन पद्य में तथा श्वेट्ज़ (Schutez) ने जर्मन गद्य में अनुवाद किया है। डॉ० एच० बेक्ह (Beckh) ने मेघदूत का तिब्बती भाषा में एक संस्करण प्रकाशित किया है। अमेरिका के आर्थर राइडर महोदय ने मेघदूत का अंग्रेज़ी में बड़ा ही मनोहर पद्यानुवाद किया है।

श्री हरिनाथ डे महोदय ने राजेन्द्रनाथ विद्याभूषणकृत 'कालिदास' नामक बंगला पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है कि

मेघदूत की रचना के पूर्व ही चीन का स्यू काङ् (Hsiu Kan) नामक कवि (२०० ई०) मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना कर चुका था। किन्तु यह धारणा कालिदास के काल-विषयक उस मत पर आश्रित है, जिसके अनुसार वे ४०० ई० के आस-पास के माने जाते हैं। नवीन अनुसन्धान के आधार पर कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० में प्रमाणित हो चुका है। अतः मेघदूत की प्रथम कल्पना का श्रेय कालिदास को ही है।

जनश्रुति है कि कालिदास ने शृङ्गारतिलक नामक एक और काव्य की रचना की थी। शृङ्गारतिलक २३ पद्यों का एक छोटा-सा शृङ्गारप्रधान गीतिकाव्य है। इसमें शृङ्गाररस का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी प्रासादिक भाषा और सरल शैली देखकर इसे कालिदास की कृति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं देख पड़ती। कोमलांगी किन्तु कठोरहृदया प्रियतमा का क्या ही सुन्दर वर्णन है—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय धाता कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः॥

प्रियतमा के मुखचन्द्र की कैसी असाधारण कल्पना है—

झटिति प्रविश गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः
तव मुखमकलंकं वीक्ष्य नूनं स राहु-
र्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय॥

'प्रिये, देखो अभी चन्द्रग्रहण होने जा रहा है, इसलिये तुम झटपट घर के भीतर चली जाओ, नहीं तो यदि कहीं राहु तुम्हारा यह निष्कलंक मुखचन्द्र देख लेगा तो वह धब्बे वाले चन्द्रमा को छोड़ कर इसे ही ग्रस लेगा।' इस पद्य में 'समय'

और 'वेला' तथा 'मुख' और 'मुखेन्दु' की पुनरुक्ति से स्पष्ट आभासित होता है कि यह एक तरुण कवि की तरुण रचना है।

घटकर्पर

परंपरागत प्रसिद्धि के अनुसार घटकर्पर महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। अतः उनका समय १०० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। घटकर्पर ने इसी नाम का २२ पद्यों का एक लघुकाव्य रचा है। 'घटकर्पर' नाम से उनकी प्रसिद्धि सम्भवतः उनके इस पद्य से हुई, जिसमें वे प्रतिज्ञा करते हैं कि जो कोई यमक-अलंकार के प्रयोग में मुझसे बाजी मार लेगा, उसके यहां मैं घड़े के खप्पर से पानी भरूंगा—

आलम्ब्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयं भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥

घटकर्पर में मेघदूत का कथानक उलट कर काम में लाया गया है। वर्षाऋतु के आरम्भ में एक विरहिणी पत्नी अपने दूरस्थ पति के पास प्रणय-सन्देश भेजती है। इसके पद्यों में यमक-अलंकारों की भरमार है। एक नमूना देखिए—

किं कृपापि नास्ति कान्तया पाण्डुगण्डपतितालकान्तया।
शोकसागरेऽद्य पातितां त्वद्गुणस्मरणमेव पाति ताम्॥

हाल

प्राकृत में भी गीतिपद्यों की रचना हुई। इसमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हाल-रचित गाथा-सप्तशती है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। हाल का दूसरा नाम सातवाहन था। बाण अपने हर्षचरित के आरम्भ नें सातवाहन का

उल्लेख करते हैं[१]। यह नाम पुराणों में आन्ध्रभृत्यों की वंशावली के अन्तर्गत भी आया है। अतः हाल १२५ ई० के पहले हुए होंगे[२]। कुछ विद्वान सातवाहन राजा हाल को ७८ ई० के शक शालिवाहन संवत् का प्रवर्त्तक मानते हैं। इस आधार पर चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय सप्तशती की रचना पहली शताब्दी ई० में मानते हैं[३]। कीथ सप्तशती की महाराष्ट्री प्राकृत की शैली के आधार पर उसे २००ई० पूर्व की रचना नहीं मानते। किन्तु नवीनतम शोध के अनुसार हाल का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० सिद्ध हो चुका है।

सप्तशती में ७०० गाथाओं (आर्याछन्दों) का संग्रह है। इन सबकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है, जिसकी प्रशंसा में दण्डी कहते हैं—'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।' इनमें कुछ तो स्वयं हाल द्वारा विरचित हैं, पर अधिकांश पद्य कई तत्कालीन अथवा पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएं हैं, जिनके नाम का अब पता नहीं। हाल ने, जैसा वे स्वयं कहते हैं, शृंगाररस से सनी लाखों गाथाओं में से ७०० ऐसी उक्तियां चुनकर रख दीं, जो उन्हें अत्यन्त सुन्दर एवं रस-भाव-पेशल प्रतीत हुईं इस प्रकार यह सुभाषित-संग्रह का प्रथम ग्रन्थ है। सप्तशती का प्रत्येक पद्य अपने-आप में स्वतन्त्र है और आमुष्मिकता की चिन्ता से एकदम मुक्त है। मुक्तककाव्य के प्राचीनतम उदाहरण गाथा-सप्तशती के पद्य हैं।

१—अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥ हर्षचरित, श्लो० १३

२—D. R. Bhandarkar in *Bhandarkar Com. Vol.* p. 187

३—*Indian Review*, Dec. 1909.

कालिदास और भवभूति की उदात्त रचनाओं से परिचित पाठक के लिये सप्तशती की कविता का स्तर सर्वथा नूतन एवं मौलिक प्रतीत होगा। सप्तशती में लोकजीवन के विविध पटलों की सजीव अभिव्यक्ति की गई है। उसकी गाथाओं के दृश्य अधिकतर सरल ग्राम्य-जीवन से लिये गये हैं। वहां के लोग नगर की विलास-सामग्रियों से भले ही वंचित हों, पर प्रेम, दया, सहृदयता, एकनिष्ठता जैसे भावों के धनी हैं। सप्तशती ऐसे ही लोगों के सुख-दुःख के अवसरों का मंजुल चित्र उपस्थित करती है। उसमें प्रधानतया तत्कालीन समाज के संयोग एवं विप्रलम्भ शृङ्गार का मूर्तिमान चित्रण है। उसकी नायिकाएं गांवों की मुग्ध युवतियां हैं। शृङ्गार के अतिरिक्त उसमें प्रकृतिचित्रण तथा नीतिविषयक सूक्तियाँ भी पाई जाती हैं। इन गद्यों द्वारा कहीं कहीं तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं पर भी प्रकाश पड़ा है। प्रत्येक गद्य में किसी न किसी प्रकार का चमत्कार, माधुर्य या सौष्ठव है; व्यंग्यार्थ की सुन्दरता तो सर्वत्र दर्शनीय है।

सप्तशती में प्रकृतिक दृश्यों का प्रायः उपमापूर्ण वर्णन किया गया है। ये उपमाएं बड़ी मौलिक एवं सुन्दर हैं। कहीं मरकत की सुई से बिंधे मोती के समान; तृण की नोक पर चमकते जलबिन्दु को मृग चाट रहे हैं; कहीं काले मेघों के प्राण की भांति बिजली धुक धु कांप रही है; कहीं कुमुद-दलों पर निश्चय भाव से बैठे काले भौंरे अन्धकार की ग्रन्थियों के सदृश्य प्रतीत हो रहे हैं—

राजन्ति कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः।
ग्रन्थय इव तिमिरस्य हि शशिकरनिःशेषनाशितस्येमाः॥ १

सप्तशती का सरस सूक्ति-सौन्दर्य अवलोकनीय है। संसार में बहरों और अन्धों का ही समय सुख से बीतता है, क्योंकि

१—ये उदाहरण संस्कृत रूपान्तर में ही दिये गये हैं।

बहरे कटु शब्द नहीं सुन सकते और अंधे दुष्टों की समृद्धि नही देख पाते। कृपण के लिये उसका धन उतना ही निष्फल है, जितनी ग्रीष्म की कड़ी धूप से व्याकुल पथिक के लिये उसकी अपनी छाया। टेढ़ों और सीधों का साथ कहीं निभ सकता है? तभी तो टेढ़ा धनुष सीधे और गुणग्राही बाणों को दूर फेंक देता है—

चापः स्वभावसरलं क्षिपति शरं किल गुणेऽपि निपन्ततम्।
ऋजुकस्य च वक्रस्य च सम्बन्धः किं चिरं भवति॥

ग्रामीण जीवन के कुछ चित्र देखिए। किसान की मुग्धा पुत्रवधू को एक नई रङ्गीन सारी मिली है; उसका उल्लास इतना असीम हो रहा है कि गांव के चौड़े रास्ते में भी वह तन्वी नहीं समा रही है। गांवों की दरिद्रता के करुण दृश्य बड़े हृदयस्पर्शी हैं। कृषक युवक अपनी गर्भवती पत्नी से उसकी दोहद अभिलाषा पूछता है; पति को आर्थिक कष्ट न देने के लिये वह केवल जल के लिये इच्छा प्रकट करती है। मूसलाधार पानी बरस रहा है; झोपड़ी में टप टप पानी चू रहा है; कृषक-पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिये उस पर झुक कर पानी की बूंदें अपने सिर पर ले रही है. पर कवि कहता है, उसे यह नहीं पता कि इस प्रकार वह अपने नयनों से झरते नीर से उसे भिगो रही है।

प्रणय का मार्मिक चित्रण सप्तशती की विशेषता है प्रेम और करुणा के भाव तथा प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाओं का सजीव चित्रण हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेम-गाथाएं, ग्राम-वधुओं की शृङ्गार-चैष्टाएं, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के चित्र इतने मोहक और सरस हैं कि हमारी मृदुल भावनाएं बरबस आकृष्ट हो जाती हैं। गाथा-सप्तशती

का अनुशीलन करते समय पाठक 'एक अभिनव जगत् में प्रवेश करता है। जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं, कुश और वेदिका का नाम नहीं सुन पड़ता, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती और उन सब बातों को भुला दिया जाता है जिन्हें पूर्ववर्ती साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।' तृषार्त पथिक पानी पिलाती हुई प्रमदा के चन्द्रमुख की सुधा का आकंठ पान कर रहा है; इस रोमांचकारी अनुभव का अधिक देर तक आस्वादन करने के लिये वह अपनी उंगलियों के बीच से पानी निकल जाने देता है; वह कामिनी भी, उत्कंठावश, पथिक के प्रति उदार होकर, पानी की पतली धार धीमे-धीमे गिराती है। पुष्पमालाएं गूंथनेवाली मालिन की भुजलता का सौन्दर्य ही प्रेमी को आकृष्ट करता है, माला खरीदने से उसे कोई मतलब नहीं। धान के खेत की रखवाली करने वाली कृषक-सुन्दरी का सारा समय पथिकों को मार्ग बताने में बीत जाता है, रास्ता जानने वाले भी उससे मार्ग पूछते ही रहते हैं।

सप्तशती में दाम्पत्य जीवन की अनेक रोचक घटनाएं वर्णित हैं। अपराधी पति रूठी हुई पत्नी के पैरों पर गिर कर क्षमा-याचना करता है, इतने में उसका छोटा बालक आकर पिता की पीठ पर चढ़ जाता है; मानिनी भार्या अपनी हँसी नहीं रोक सकती।। पत्नी पति को अपने शिशु के उगे हुए पहले दांत को दिखाने में किस अकथनीय हर्षोल्लास का अनुभव करती और कराती है। प्रगाढ़ रूप से अनुरक्त पति-पत्नी के लिये संसार में अन्य कोई पुरुष या स्त्री है ही नहीं। रसोई बनाते समय कहीं पत्नी के कालिख लगे हाथ से मुंह पर काला धब्बा लग गया; उसे देख मुस्कराता हुआ पति बोल उठा—वाह, अब तो तुम्हारे मुख और चन्द्रमा में जरा भी अन्तर नहीं रहा—

गेहिन्या माहानसकर्ममसीमलिनितेन हस्तेन ।
स्पृष्टं मुखमुपहसति चन्द्रावस्थां गतं दयितः ॥

कवि की कोमल भावुकता दर्शनीय है। प्रेमिका चन्द्रमा से अनुनय करती है कि मुझे तू उन्हीं करों (किरणों) से स्पर्श कर, जिनसे तूने मेरे प्रियतम को स्पर्श किया है; वह रात्रि को अनन्त बन जाने के लिये कहती है, क्योंकि सूर्योदय होने पर उसके हृदयेश प्रवास को चले जायंगे। पति के शुभआगमन में पत्नी अपने हर्षातिरेक को इसलिये दबा रखती है कि कहीं उसकी पोषितभर्तृका पड़ोसिन को दुःख न हो। पतिप्राणा पत्नी के गुण-निर्भर हृदय में पति के दोषों के लिये स्थान ही कहाँ है ? जिस प्रिय के वियोग में जीवन नहीं धारण किया जा सकता, उसके अपराध करने पर भी उसकी खुशामद ही की जाती है; सारे नगर को जलाकर खाक कर डालने वाली आग जाड़ों में किसे प्रिय नहीं होती—

येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥

सर्वत्र शृङ्गार की स्निग्धता व्याप्त है। प्रेमिका के उरोज बादलों को चीर कर निकलते हुए चन्द्रमा के समान हैं। नायिका के मुख की समता चन्द्रमा नहीं कर सकता, इसपर कवि की कल्पना देखिए—

तव मुखसादृश्यं नो लभत इति हि पूर्णमण्डलो विधिना ।
घटयितुमिवान्यमयमिव पुनरपि परिखण्ड्यते शशभृत् ॥

अर्थात् जब ब्रह्मा ने देखा कि पूर्णचन्द्र बनाने पर भी वह नायिका के मुख की समता नहीं कर सका, तब वे उसे फिर से

बनाने के लिये खण्ड-खण्ड कर डालते हैं। एक सुकुमार अन्योक्ति देखिए—

ईषत्कोषविकासं यावन्नाप्नोति मालतीकलिका ।
मकरंदपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयसि ॥

सप्तशती के उपर्युक्त पद्य का ही भाव लेकर महाकवि बिहारी ने अपने निम्नलिखित दोहे की रचना की, जिसके प्रभाव से जयपुर के महाराज जयसिंह की मोह-निद्रा भङ्ग हुई थी—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल ।
अली, कली ही सो बिंध्यो आगे कौन हवाल ॥

गाथा-सप्तशती की अनेक उक्तियों को आलंकारिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उदाहरण रूप से उद्धृत किया है। इसी के आदर्श पर गोवर्धनाचार्य ने संस्कृत में अपनी 'आर्या-सप्तशती' की रचना की। हिन्दी में भी सतसई-साहित्य के सूत्रपात का श्रेय गाथा-सप्तशती को ही है। हाल की प्रशंसा करते हुए अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' में सोड्ढल कहते हैं कि आज भी हाल का स्मरण करते ही सहृदयों के मुख से पहले 'हा' यही अक्षर निकलता है—

हाले गते गुणिनि शोकभराद्बभूवुरुच्छन्नवाङ्मयजडाः कृतिनस्तथाऽमी ।
यत्तस्य नाम नृपतेरनिशं स्मरन्तो हेत्यक्षरं प्रथममेव परं वदन्ति ॥

भर्तृहरि

नीतिशतक, शृङ्गारशतक तथा वैराग्यशतक के प्रसिद्ध रचयिता भर्तृहरि के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण है। जनश्रुति के आधार पर वे महाराज विक्रमादित्य के बड़े भाई

थे। भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टि और उक्त शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि, इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानना उचित नहीं। कीथ के मतानुसार प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के रचयिता वही भर्तृहरि थे, जिनकी मृत्यु इत्सिंग के अनुसार लगभग ६५० ई० में हुई थी। इत्सिंग के कथनानुसार भर्तृहरि सात बार गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम के बीच भटकते रहे। किन्तु यह कल्पना सम्भवतः शृङ्गारशतक और वैराग्यशतक के परस्पर विरोधी भावों को लक्ष्य में रख कर ही की गई है। उक्त शतकत्रय के कर्त्ता भर्तृहरि बौद्ध वैयाकरण भर्तृहरि नहीं हो सकते। नीति और वैराग्य शतकों में प्राचीन वैदिक आदर्शों एवं पौराणिक सिद्धान्तों के कई उल्लेख मिलते हैं, अतः इन्हें बौद्ध मानना बुद्धि संगत नहीं। यदि भर्तृहरि उन्हीं विक्रमादित्य के भाई थे, जिन्होंने ६४४ ई० में कहरूर की लड़ाई में हूणों को परास्त किया था, तो उनका स्थितिकाल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

नीतिशतक में मनुस्मृति और महाभारत की गम्भीर नैतिकता कालिदास की सी प्रतिभा के साथ प्रस्फुटित हुई है। विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, उदारता, परोपकार-परायणता जैसी उदार वृत्तियों का बड़ी सरस पदावली में वर्णन किया गया है। इनमें जिन नीति-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे संसार की किसी भी जाति अथवा धर्म के लिये भूषण-स्वरूप हैं। नीतिशतक के प्रसिद्ध पद्यों का प्रचार प्रायः समग्र भारतवर्ष में है।

भर्तृहरि की शैली प्रासादिक, मुहावरेदार और मंजी हुई है। उसमें प्रवाह, पदलालित्य, भावप्रवणता और अर्थव्यक्ति है। भाषा इतनी सरल, स्वाभाविक और सुबोध है कि कवि का

तात्पर्य पद्यों को एक बार पढ़ने से ही भलीभांति ज्ञात हो जाता है। दैनिक जीवन के गूढ़ एवं प्रत्यक्ष सत्यों को भर्तृहरि ने बड़े हृदयग्राही ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। कहीं नीति के अनुभवजन्य उपदेश निर्दिष्ट हैं, कहीं रमणियों के रूप-विलास का आकर्षण अंकित है और कहीं वैराग्य का शुभ्र प्रकाश वितरित है। छन्दों की विविधता, विषय की रोचकता, उदाहरणों की अनुरूपता तथा सूक्तियों की सुन्दरता भर्तृहरि के काव्य को चारुता प्रदान करती है। उनकी शैली के नीतिशतक से कुछ उदाहरण देखिए—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परिशुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

'जिस कामिनी का मैं निरंतर चिन्तन करता हूँ, उसके हृदय में मेरे प्रति कोई अनुराग नहीं। वह एक ऐसे पुरु पर आसक्त है जो स्वयं किसी अन्य स्त्री से प्रेम करता है। मेरे लिये कोई और ही स्त्री उत्कंठित हो रही है। धिक्कार है उस कामिनी को, उस पुरुष को, कामदेव को, इस स्त्री को और मुझको।' अहिंसा, परद्रव्यहरण में संयम, सत्यवाणी, यथाशक्ति दान, पर-स्त्री की चर्चा न करना, इन्द्रिय-दमन, गुरुजनों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार तथा सब प्राणियों के प्रति दया—यही शास्त्रों द्वारा अनुमोदित कल्याण का पथ है। लोभ के रहते दूसरे अवगुणों की क्या आवश्यकता, दुष्टता के रहते पापों की, सत्य के रहते तपस्या की, पवित्र मन रहते तीर्थों की, सज्जनता के रहते सद्गुणों की, यश के रहते अलङ्कारों की, सद्विद्या के रहते धन की और अपयश के रहते मृत्यु की क्या आवश्यकता? तेजस्विता आयु की अपेक्षा

नहीं रखती, तभी तो एक सिंहशावक बड़े-बड़े मतवाले हाथियों पर टूट पड़ता है—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥

ऐसे सज्जनों की संख्या उंगलियों पर गिने जाने योग्य है, जिनके मन-वचन-कर्म पुण्यरूपी अमृत से पूर्ण हैं, जो सारे संसार को अपने सत्कार्यों से प्रसन्न रखते हैं तथा जो दूसरों के परमाणु-तुल्य गुणों को भी पर्वत के समान समझते हैं—

मनसि वचसि काये पुण्यपियूष-
पूर्णास्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिःप्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्यनित्यं-
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

साहित्य और संगीत से वञ्चित मनुष्य बिना सींग और पूंछ के उस पशु के समान है जो अन्य पशुओं के भाग्य से घास नहीं खाता—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

संसार में खलने वाली बातें सात हैं—सूर्य की प्रभा से मलिन चन्द्रमा, गलित-यौवन कामिनी, कमलों से रहित सरोवर, सुन्दर किन्तु निरक्षर पुरुष, लोभी स्वामी, निरन्तर विपत्तिग्रस्त सज्जन और राजा का प्रीतिपात्र दुर्जन। दैन्य-ग्रस्त मनुष्यों के लिये भर्तृहरि कहते हैं—

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥

'प्रिय मित्र चातक, क्षण भर के लिये मेरी बात ध्यान देकर सुनो। आकाश में बहुत तरह के बादल हैं, किन्तु वे सभी तुम्हें तृप्त करने वाले नहीं हैं। उनमें कुछ तो पृथ्वी पर पानी बरसाते हैं, पर कुछ व्यर्थ ही गरजते रहते है। अतः जिस जिस को तुम देखो, उसी के सम्मुख दैन्य-सूचक शब्दों का प्रयोग मत करो।' नीति-शतक की कितनी ही सूक्तियां आभाणक के रूप में प्रचलित हो गई हैं—'बिभूषणं मौनमपण्डितानाम्', 'मूर्खस्य नास्त्यौषधम्', 'सत्संगतिः किं न करोति पुंसाम्', 'प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति', 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते', सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः', 'न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः', 'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखं'; 'शीलं परं भूषणम्', न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः', 'विधिरहो बलवानिति मे मतिः', 'यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः' इत्यादि।

शृङ्गारशतक में कवि ने ललति मधुर शैली में यह दिखाया है कि स्त्रियां अपने आकर्षण द्वारा पुरुषों पर कैसा जादू डाल देती हैं—

कुंकुमपंककलंकितदेहा गौरपयोधरकम्पितहाराः ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्माः कं न वशीकुरुते भुवि रामाः ॥

शूर से शूर पुरुष भी कामदेव का गर्व चूर कर देने में प्रायः असमर्थ हैं—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

कामदेव वह लुटेरा बटमार है जो कामिनियों के सौन्दर्यरूपी कानन में दुर्गम कुच-पर्वतों की ओट में छिपकर मनरूपी पथिक को लूट लेता है—

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ति स्मरतस्करः ॥

कवि आर्यपुरुषों से पूछता है कि बताइए, पर्वतों की गुफाओं में जाकर निवास करना अच्छा है अथवा विलासिनियों के नितम्बों का सेवन करना—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

भाग्यवान् पुरुष ही स्त्रियों के मोहक सौन्दर्य का आस्वादन कर सकते हैं—

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितस्वेदैः सार्द्रगण्डस्थलीनां
अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तो पिबन्ति ॥

सच पूछा जाय तो शृङ्गारशतक में पहले शृङ्गाररस के आकर्षण का चित्रण किया गया है, किन्तु धीरे धीरे उसकी अस्थिरता दिखलाकर शान्तरस की तुलना में उसकी तुच्छता प्रकट की गई है। इस भव-पारावार से मनुष्य का शीघ्र ही निस्तार हो जाता, यदि बीच में रोक रखने वाली बांके नैनों वाली सुन्दरियां न होतीं—

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥१

वैराग्यशतक में कवि ने कारुण्य और निराकुलता के साथ संसार की सारहीनता तथा वैराग्य की आवश्यकता समझाई है। संसार एक विचित्र पहेली है—कहीं वीणा की सुमधुर तान सुनाई पड़ती है तो कहीं विलाप और हाहाकार का करुण स्वर; कहीं विद्वानों की सभा हो रही है तो कहीं सुरापान से उन्मत्त लोगों का कलह देख पड़ता है, कहीं सुन्दर रमणियां दृष्टिगोचर होती हैं तो कहीं कुष्ठ-पीड़ित शरीरों के बहते हुए घाव; अतः पता नहीं कि यह संसार अमृतमय है अथवा विषमय, वरदान है अथवा अभिशाप—

क्वचिद्वीणावाद्यं क्वचिदपि च हाहेति रुदितम्
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः ।
क्वचिद्रामा रम्याः क्वचिदपि गलत्कुष्टवपुषो
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥

मुख पर झुर्रियां पड़ जाने पर भी, सिर के बाल सफेद हो जाने पर भी तथ अंग-प्रत्यंग के शिथिल हो जाने पर भोग-तृष्णा तो तरुणी ही बनी रहती है—

वलिभिर्मुखमाक्रांतं पलितैरंकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

१—हिन्दी के महाकवि बिहारी ने इस पद्य को यों अपनाया है—

या भव पारावार को उलांघि पार को जाय ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रसै बीच ही आय ॥

वास्तव में वैराग्य का आश्रय लेने पर ही अभय की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि विषयभोगों में रोग का भय, उच्च कुल में च्युत हो जाने का भय, धन होने पर राजा का भय, सम्मान में दीनता का भय, बल में शत्रु का भय, सुन्दरता में वार्धक्य का भय, शास्त्रज्ञान में वादविवाद का भय, गुणों में दुष्टों का भय, शरीर में मृत्यु का भय, यहां तक कि प्रत्येक वस्तु में किसी न किसी का भय लगा ही रहता है; वैराग्य ही सच्चे अभय का दाता है। वृद्धावस्था बाघिन की भांति मुँह बाये डर दिखा रही है, रोग शत्रुओं की भांति शरीर पर आक्रमण कर रहे हैं, आयु फूटे घड़े के जल की भांति क्षीण हो रही है, तब भी, आश्चर्य है, मनुष्य दूसरों की बुराई करने में लगे हैं—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथात्यहितमाचरतीति चित्रम्॥

वेदों से, स्मृतियों से, पुराण-पाठ से, शास्त्रों के अनुशीलन से तथा अन्य सकाम कर्मों के अनुष्ठान से क्या लाभ, जब उनसे केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है। आत्मानन्द की अनुभूति ही एक मात्र सारभूत आनन्द है, क्योंकि उसकी प्राप्ति से संसार के सभी दुःख और बन्धन भस्मसात् हो जाते हैं, अन्य कार्य तो वणिग्वृत्ति मात्र है। कवि की उत्कट कामना यही है कि—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः॥

'मेरी यही आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी पवित्र वन में शिव-शिव जपते ही मेरे दिन व्यतीत हों और मेरी दृष्टि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के प्रति एक-सी हो, चाहे वह सर्प हो अथवा मोतियों का हार, प्रबल शत्रु हो अथवा मित्र, मणि हो या मिट्टी का ढेला, पुष्पों की शय्या हो अथवा पत्थर, तिनका हो अथवा सुन्दरियों का समूह।' काव्यप्रतिभा एवं दार्शनिकता का ऐसा सुन्दर संयोग अन्य किसी साहित्य में कदाचित् ही उपलब्ध हो। वैराग्यशतक की सुन्दर सूक्तियों को भी देखिए—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्', 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः', 'सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः', 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः', 'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः', 'संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः', 'संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्' 'नार्यः श्मशान-घटिका इव वर्जनीयाः', 'चकाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः', 'किं नाम वामनयना न समाचरन्ति', 'वनं वा गेहं वा सदृशमुपशान्तैकमनसाम्' इत्यादि।

अमरुक

अमरुकशतक के रचयिता अमरु अथवा अमरुक नामक कोई राजा थे। ये कब और कहां हुए, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। हां यह किंवदन्ती अवश्य है कि मण्डनमिश्र की पत्नी शारदा द्वारा किये गये कामशास्त्र-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये स्वयं शङ्कराचार्य ने अमरुक नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके अमरुकशतक की रचना की थी। यह किंवदन्ती कपोल-कल्पित प्रतीत होती है, क्योंकि इस ग्रन्थ की रचना किसी प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं हुई है।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य (८५० ई०) ने 'ध्वन्यालोक' में अमरुक का इस प्रकार उल्लेख किया है—'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव

रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । तथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।' वामन (८०० ई०) ने भी अमरुकशतक के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है । अतः अमरुक ७५० ई० के पूर्व ही हुए होंगे । अमरुकशतक की रचना-शैली के आधार पर उसकी रचना ५०० ई० के लगभग मानी जा सकती है ।

अमरुकशतक सहृदयों का हृदयहार है, सुभाषितों का सुन्दर आगार है । इसके मुक्तक-पद्य रस से ओत-प्रोत हैं । श्री आनन्द-वर्धन ने इन्हें 'प्रबन्धायमान' कहा है, अर्थात् भाव, रस और अर्थ का जितना सन्निवेश एक पूरे प्रबन्ध में किया जा सकता है, उतना अमरुक के एक–एक पद्य में पाया जाता है— 'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते ।' अमरुकशतक प्रेम का सजीव चित्रण है, शृङ्गार की ललित लीलाभंगियों का भावमय स्वरूप है । उसमें कामी कामिनियों की विभिन्न मनोवृत्तियों का— उनके हर्ष और विषाद, कोप और अनुराग का—सूक्ष्म विवरण है । प्रेमियों का अपराग और सन्धान कराने में अमरुक अद्वितीय है । यद्यपि अमरुक ने जिस शृङ्गार का चित्रण किया है, वह उद्दाम है, तथापि उनके काव्य में भावों की कोमलता तथा विचारों की शिष्टता देख पड़ती है ।

अमरुकशतक की भाषा अत्यन्त प्रासादिक, प्रवाहपूर्ण एवं प्रांजल है । शब्दों के चुनाव में कवि ने बड़ी बारीकी से काम लिया है । शार्दूलविक्रीडित जैसे विशाल छन्दों का प्रयोग करने पर भी इनकी कविता में दीर्घकाय समासों का अभाव है । इसकी शैली शुद्ध वैदर्भी-रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है । कदाचित् इसकी प्रसन्न-मधुर, प्रांजल शैली देख कर ही लोगों ने कल्पना की हो कि यह श्री शंकराचार्य की कृति है । संस्कृत के गीति-

काव्यों में अमरुकशतक का स्थान मूर्धन्य है। 'सततरसस्यन्दी' पद्यों द्वारा मानवीय प्रणय का सरस चित्रण किया गया है। एक ओर पति को परदेश जाते देख कामिनी की हृदयविह्वलता का मार्मिक चित्र है—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवितप्रिय सुहृत्सार्थः किमुत्यज्यते॥ ३५

'दुर्बलता के मारे हाथों से चूड़ियां गिर पड़ीं, ये प्यारे आँसू भी निरन्तर बह चले, धैर्य भी एक क्षण के लिये नहीं रुका, मन तो पहले ही से जाने को तैयार बैठा था। प्रियतम के विदेश जाने का निश्चय करते ही ये सब के सब उनके साथ ही चल पड़े। तब फिर, हे मेरे प्राण, तुम क्यों प्रियतम का साथ छोड़ रहे हो, तुम भी क्यों नहीं जीवनधन के साथ ही चल देते?' दूसरी ओर पति के शुभागमन में अंग-प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है—

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तस्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम्॥

'पति के स्वागत में नायिका ने अपनी स्निग्ध दृष्टि से ही बंदनवार सजा दी, कमलों से नहीं; मुस्कराहट से ही पुष्प बिखेर दिये, कुन्द, चमेली आदि फूलों से नहीं; उरोजों से झर रहे पसीने से ही अर्घ्यदान किया, कलश के जल से नहीं। इस प्रकार उस तन्वी

ने प्रियतम के प्रवेश करने पर अपने अङ्गों से ही सारा मंगलकार्य संपादित कर दिया।' अमरुक ने संयोग और विप्रलंभ शृंगार की भिन्न-भिन्न दशाओं एवं परिस्थितियों का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है, निम्नलिखित पद्य में नायक और मानिनी नायिका का संवाद किस अनूठे ढङ्ग से कराया गया है—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥ ५

'प्रिये !' 'नाथ !' 'मानिनी, अपना क्रोध छोड़ो।' 'मैंने क्रोध करके कर ही क्या लिया।' 'क्यों ? मेरे हृदय में खेद जो उत्पन्न कर दिया !' 'आपने क्या अपराध किया ? सारा अपराध तो मेरा है।' 'तब फिर तुम सिसक-सिसक कर रो क्यों रही हो ?' 'किसके सामने रो रही हूँ ?' 'क्यों, मेरे सामने।' 'मैं आपकी कौन ?' 'प्रियतमा' 'यही तो नहीं हूँ ! इसीलिये तो रो रही हूँ।' प्रियतम के दृष्टिपथ में आने पर मान कैसे निभ सकता है—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमांचमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने॥ २८

'भौंहों को तान लेने पर भी आंखें और उत्कंठित हो उन्हें देखने दौड़ती हैं, चुप्पी साधने पर भी इस निगोड़े मुख पर मुस्कराहट आ ही जाती है, चित्त को कठोर बना लेने पर भी शरीर पर

रोमांच हो ही उठता है, इसलिये, तुम्हीं बताओ सखी, हृदयवल्लभ प्रियतम के सामने आ जाने पर मान का अभिनय कैसे किया जाय।' भावसौकुमार्य का कैसा हृदयस्पर्शी चित्रण है! इसी पद्य के भावों को लेकर हिन्दी के महाकवि बिहारी ने अपने निम्न-लिखित दोहों की रचना की है—

सतर भौंह रूखे वचन करत कठिन मन नीति।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हंसौही दीठि॥
रुख रूखे मिस रोखमुख कहति रुखौहैं बैन।
रूखे कैसे होत ये नेह चीकने नैन॥
दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत।
हौं कसुकै रिसहे करौं ये निसिखे हंसि देत॥

वास्तव में अमरुक शब्द-कवि नहीं, रस कवि हैं। उनके पद्य ध्वनिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण है, शृङ्गाररस से लबालब भरे मुक्तककाव्य के सरस नमूने हैं। बिहारी के अनेक दोहों में अमरुक के भावों की स्पष्ट छाप है। पद्माकर ने तो अपने 'जगद्विनोद' में अमरुक के अनेक श्लोकों का अनुवाद ही कर दिया। अर्जुनवर्मदेव ने अपनी रसिकसंजीवनी टीका में अमरुक के कवित्व की डमरू से उपमा दी है, जिसकी आवाज के आगे अन्य सब शृङ्गारिक उक्तियां दब जाती हैं—

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता न संचरति।
शृंगारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु॥

बिल्हण

बिल्हण ने ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चौरपञ्चाशिका नामक ५० पद्यों के एक लघु गीतिकाव्य की रचना की। किंवदन्ती

है कि किसी राजकुमारी से प्रेम करने के कारण कवि को प्राणदण्ड मिला था। तब उसने अपने प्रणय के अनुभवों का उत्तप्त वर्णन करते हुए इस लघु काव्य की रचना की। इससे प्रभावित हो राजा ने क्षमा प्रदान कर राजकुमारी का उसके साथ विवाह कर दिया। कीथ के मतानुसार यह कथा कपोल-कल्पित है। काव्य में इस प्रकार की अनुभूति का कोई आभास नहीं मिलता। 'विक्रमांकदेवचरित' में बिल्हण ने जो अपना जीवन-वृत्त दिया है, उसमें उक्त घटना का कोई उल्लेख नहीं है। चौरपञ्चाशिका की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। शैली सरस और मधुर है। किन्तु उसमें अमरुकशतक के समान सुकुमार मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं है, न वह मार्मिक व्यंजना ही है। कवि का शृङ्गारिक वर्णन कहीं कहीं उच्छृंखल हो गया है। एक नमूना देखिए—

अद्यापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं
पीयूषपूर्णकुचकुम्भयुगं वहन्तीम्।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने
स्वर्गापवर्गनरराज्यसुखं त्यजामि॥

धोयी

मेघदूत का अनुकरण कर जिन 'सन्देश'-काव्यों की रचना हुई, उनमें धोयी-कृत पवनदूत का प्रमुख स्थान है। कविराज धोयी बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के आश्रित कवि थे। अतः इनका स्थितिकाल बारहवीं शताब्दी था। ये गोवर्धनाचार्य और जयदेव के समकालीन थे।१ जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' (१।४) में धोयी को 'श्रुतिधर' कहा है।

१—गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु॥

पवनदूत में कुल १०४ पद्य हैं। राजा लक्ष्मणसेन दिग्विजय करते हुए मलयाचल जा पहुँचे। वहां कुवलयवती नामक गन्धर्व-कन्या उनके अलौकिक रूप को देख कर मुग्ध हो गई। राजा के स्वदेश लौट आने पर उसने विरह-पीड़ित हो पवन द्वारा प्रणय-सन्देश भेजा। इसी कारण इस काव्य का नाम 'पवन-दूत' पड़ा।

मेघदूत की भाँति पवनदूत की भी रचना मन्दाक्रान्ता छन्द में की गई है। इस काव्य पर मेघदूत की छाया स्पष्ट देख पड़ती है। मौलिकता न होने पर भी पवनदूत का मनोरम वाक्यविन्यास, कविता का स्वाभाविक प्रवाह तथा भावों का सौष्ठव दर्शनीय है। वियोग-वर्णन का एक उदाहरण देखिए—

सारंगाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादंगकानि
त्वद्विश्लेषे स्मरहुतवहः श्वाससंधुक्षितोऽपि।
जाने तस्याः स खलु नयनद्रोणिवारां प्रभावो
यद्वा शश्वन्नृप तव मनोवर्तिनः शीतलस्य ॥ ७५

'हे राजन्, तुम्हारे वियोग में यह कामरूपी अग्नि, श्वास के पवन से सुलगाई जाने पर भी जो यह मृगनयनी के कोमल अंगों को जलाकर खाक नहीं कर देती, इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो उसकी सुन्दर आंखों से अनवरत आंसू की धारा बह रही है, दूसरे तुम्हारी शीतल मूर्ति उसके हृदय में निरन्तर विराजमान है।'

गोवर्धनाचार्य

हालकृत प्राकृत सप्तशती के अनुकरण पर गोवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती की रचना की है। गोवर्धनाचार्य बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के आश्रित कवि थे। सप्तशती के पद्यों

रचना आर्याछन्द में हुई है। इन आर्याओं की रचना अकारादि वर्णानुक्रम से की गई है। संस्कृत के आर्याछन्द को जिस सुन्दर, सुचारु एवं परिष्कृत रूप में गोवर्धनाचार्य ने प्रस्तुत किया है, वैसा उनके किसी पूर्ववर्ती कवि ने नहीं किया।

सप्तशती में शृङ्गाररस का स्निग्ध चित्रण हुआ है। गीतगोविन्द के अमर रचयिता जयदेव गोवर्धनाचार्य को शृंगाररस की रचना करने में अद्वितीय बताते हैं—'शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।' गोवर्धनाचार्य की भाषा, उनकी आर्याओं की भांति ही मसृण, सरस, विशद और सज्जनों के हृदय को मुग्ध करने वाली है—

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनास्यार्याः॥ ५१

गोवर्धनाचार्य ने उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि सादृश्यमूलक अलङ्कारों का आश्रय लेकर शृंगाररस की मार्मिक और मनोहर व्यंजना की है। संयोग तथा वियोग की दशाओं में प्रेमी प्रेमिकाओं के अन्तस्तल में जो ललित कल्पनाएं, प्रेमिल उत्कण्ठाएं एवं सुकुमार भाव-भंगियां अठखेलियां करती हैं, उनका कवि ने बड़ा मार्मिक और स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है। नागरिक स्त्रियों की उद्दाम शृंगार-भावना और ग्राम-तरुणियों की मुग्ध-मंजुल लीलाभङ्गियां—नारी-हृदय के इन दोनों पटलों का कवि ने सजीव चित्रण किया है। उनकी सूक्तियां भी सरस हैं। उनकी आर्याओं के कुछ उदाहरण देखिए—

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुंजेव न तु मुखे वहति।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव॥ ७०३

'नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त है, पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती, अतः वह उस लाल गुंजाफल

के समान है जो मुख को छोड़ सर्वांग में रक्तवर्ण है। दूसरी ओर वचनचातुरी में दक्ष नायक है, जो मुख मात्र ही से अपने प्रेम का ख्यापन करता है, अतः वह उस हरे शुक के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है।' एक सुकुमारभाव की कल्पना देखिए—

पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमाधाय।
अधरविलेपनसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि॥ ४५०

'हे भ्रमर, इस बकुलकलिका के मकरन्द-रस का पान करते समय, देखो, दूर ही से केवल अपनी जिह्वा की नोक से उसका स्पर्श करना, क्योंकि यदि तुम अपना पूरा मुंह उस पर रख दोगे तो उसका वह अत्यल्प मधुबिन्दु तुम्हारे ओठों में ही पुत कर रह जायगा।' दूसरे के मुख से जो बातें गाली जैसी मालूम पड़ती हैं, प्रिय के मुख से वे ही परिहास बन जाती हैं; इंधन से निकलने वाला धुंआ अगुरु से उत्पन्न होने पर धूप बन जाता है—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियमुखे स एव हि परिहासः।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुसमुद्भूतो धूपः॥ ६७

कवि की एक और शृङ्गारिक उक्ति देखिए—

सत्कविरसनाशूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा वराकी॥ ४६

'सत्कवियों की रसनारूपी सूप से फटककर जिनकी कर्कशतारूपी भूसी अलग कर दी गई है, ऐसे शब्दरूपी धान्य के मधुर पाक से तृप्त हुए सहृदय अपनी प्रियतमा के अधर को भी तुच्छ समझते हैं, फिर बेचारे अमृत की तो बात ही क्या?' सप्तशती की संस्कृत आर्याओं में अवश्य ही प्राकृत की सी सरसता नहीं आ सकी है। गोवर्धनाचार्य स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्राकृत

की सरस सूक्तियों को संस्कृत में रूपान्तरित करना वैसा ही है जैसे पृथ्वीतल पर कल्लोल करने वाली कलिन्दनन्दिनी यमुना को आकाश की ओर ले जाना—

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता ।
निम्नानुरूपतीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ॥ ५२

जयदेव

संस्कृत गीति-काव्य के अनूठे रत्न गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का जन्म बङ्गाल के किन्दुबिल्व ग्राम में हुआ था । उनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम रामादेवी अथवा राधादेवी था । उनका विवाह पद्मावती नाम की कन्या से हुआ था । गीतगोविन्द में वे कहते हैं कि पद्मावती उनके गीतों के ताल पर नृत्य करती थी (पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती) । बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा के जयदेव प्रमुख रत्न थे । लक्ष्मणसेन का ११९६ ई० का एक शिलालेख गया में पाया गया है । अतः जयदेव का स्थितिकाल ११०० ई० के लगभग था । गोवर्धनाचार्य और धोयी उनके समसामयिक थे[१] ।

गीतगोविन्द का रचना-कौशल सर्वथा मौलिक है । कुछ पाश्चात्य विद्वान उसे ग्राम्य-रूपक (pastoral drama), गीति-नाटक (lyric drama) अथवा परिष्कृत यात्रा (refined Yatra) मानते हैं । पिशेल और लेवी के मतानुसार गीतगोविन्द का स्थान गीतिकाव्य और नाटक के बीच का है । पिशेल गीत-

---

१—वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः ।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ॥ गी० गो० १।४

गोविन्द को संगीतरूपक (melo-drama) भी मानते हैं। किन्तु जयदेव ने गीतगोविन्द को सर्गों में विभाजित किया है। अतः उन्हें अपनी कृति का 'काव्य' के अन्तर्गत ही समावेश इष्ट था। नाटक की भांति उसमें प्रस्तावना, अंक आदि कहीं नहीं हैं। कुछ लोग उसे श्रृङ्गार-महाकाव्य की भी संज्ञा देते हैं। फिर भी गीतगोविन्द को संगीत नाटक (opera) का एक पूर्व रूप कहा जा सकता है, जिसका श्रेष्ठ परिपाक १६ वीं शताब्दी के श्री तीर्थनारायण स्वामी कृत 'कृष्णलीला-तरंगिणी' में देख पड़ता है१। गीतगोविन्द के पदों के साथ संगीत और नृत्य सम्बन्धी रागों और तालों के नाम भी दे दिये गये हैं। अतः यह संभव है कि गीतगोविन्द की रचना करते समय जयदेव की दृष्टि बंगाल में प्रचलित उन यात्रा-महोत्सवों की ओर रही हो, जिनमें उनके गीतों का उपयोग नृत्य और संगीत के साथ हो सकता था।

गीतगोविन्द में कवि ने काव्यों की परम्पराभुक्त रचना-प्रणाली का अनुसरण नहीं किया है। श्लोक, गद्य, और गीत—इन तीनों के मिले-जुले प्रयोग द्वारा काव्य में एक अनुपम रचना-माधुर्य का समावेश किया गया है। श्लोक अथवा पाठ्य-पद्य प्रायः वर्णनात्मक प्रसंगों तक ही सीमित हैं, जिनका उपयोग किसी अवस्था-विशेष के चित्रण में, दृश्य-वर्णन में अथवा कथा-सूत्र के निर्वाह में किया जाता है। गद्य का यत्र-तत्र प्रयोग विशेषकर उन संवादात्मक प्रसंगों में हुआ है, जिनमें पात्रों की मनोदशा सूचित की गई है, तथा गीतों में भावानुभूति की अभिव्यंजना की गई है। इस प्रकार गीतगोविन्द में एक अभिनय

१—P. Sambamoorthy: A History of Indian Opera, *Krishnaswami Aiyangar* Com. Vol. P. 422

रचनाप्रणाली का अनुसरण किया गया है। उसमें वर्णन, गीत, संवाद सभी परस्पर गुँथे हुए हैं। भारतीय साहित्य में इस अनुपम रचना-शैली का सूत्रपात सर्वप्रथम जयदेव के गीतगोविन्द से ही देख पड़ता है।

राधा-कृष्ण की केलि-कथाएं तथा उनकी अभिसार-लीलाएं गीतगोविन्द को रहस्यमय शृङ्गार का एक अनुपम रत्न बना देती हैं। आशा, नराशा उत्कण्ठा, प्रणयजन्य ईर्ष्या, कोप, मानापनोदन और मिलन—प्रेम की इन विविध दशाओं का राधा और कृष्ण के प्रणय में हृदयग्राही चित्रण हुआ है। श्रीकृष्ण गोपियों के साथ रासक्रीडा करते हैं। इस पर उनकी अनन्य प्रणयिनी राधा अपनी सखी से उनके विषय में उपालम्भ-वचन कहती हैं। पर उनका प्रेम-निर्भर हृदय उन्हें कृष्ण के प्रति अपना प्रगाढ़ अनुराग प्रकट करने को विवश करता है। सुतरां श्रीकृष्ण ब्रजसुन्दरियों का संग छोड़ राधा के प्रति अधिक अनुरक्त हो जाते हैं। राधा की सखी कृष्ण से राधा की अनुरक्ति और विरहजन्य पीडा का वर्णन करती है। कमनीय गीतों द्वारा वह राधा और कृष्ण दोनों को मिलन के लिये प्रेरित करती है। फिर भी कृष्ण राधा के समीप नहीं आते—'कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्।' चन्द्रोदय होने पर राधा प्रणय-व्यथा से अधीर हो अपने उद्दीप्त अनुराग की अभिव्यंजना अत्यन्त मधुर गीतों में करती हैं। कृष्ण आते हैं। राधा 'अतिमान' करती हैं और उन्हें उपालम्भ देती हैं—'मा वद कैतववादं, तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम्।' राधा की सखी मान छोड़ने के लिये कहती है—'हरिरभिसरति वहति मधुपवने, किमपरमधिकसुखं सखि भुवने, माधवे मा कुरु मानिनि मानमये।' कृष्ण स्वयं राधा को मनाते हैं—'प्रिये चारुशीले मुंच मानमनिदानम्।' राधा के संकोच, मान और अपराग को दूर करने

के लिये उनकी सखी तीन गीतों में उन्हें समझाती हैं—'प्रविश राधे माधव समीप इह ।' अन्त में राधा का मान दूर होता है और वे कदम्ब-कुंज में कान्त-मिलन के लिये जाती हैं । श्रीकृष्ण उनसे प्रणय-याचना करते हैं—'किसलय-शयनतले कुरु कामिनि चरणनलिनविनिवेशम् ।' राधा-कृष्ण रति-क्रीडा करते हैं । अन्त में राधा प्रणयसिक्त वचनों में प्रियतम द्वारा ही अपना शृङ्गार कराने की इच्छा प्रकट करती हैं । श्रीकृष्ण प्रणयिनी राधा का स्वयं अपने करकमलों से शृङ्गार करते हैं । यहीं इस काव्य की मनोरम समाप्ति होती है ।

कुछ आधुनिक आलोचकों की धारणा है कि जो राधा और कृष्ण हमारी भक्ति के आलम्बन थे, वे जयदेव के गीतगोबिन्द के प्रभाव से शृङ्गार के आलम्बन—नायक और नायिका के पर्याय—मात्र बन गये । किन्तु माधुर्य-रस के भक्त कवि जयदेव पर यह लांछन लगाना अन्याय होगा । दाम्पत्य-प्रणय में तन्मयता या तल्लीनता का जो चरम उत्कर्ष देख पड़ता है, 'भेद में अभेद' की कल्पना का जो चूडान्त निदर्शन पाया जाता है, उसी की अभिव्यक्ति भक्ति के क्षेत्र में माधुर्य भाव की सृष्टि करती है । 'मधुर भाव से भजने वाले भक्त के लिये भगवान् की लीलाएं ही स्मर्तव्य हैं, उनकी शृङ्गार-चेष्टाएं, उनकी विलास-लीलाएं, उनकी प्रेम—गाथाएं ही गेय हैं ।' राधा-कृष्ण के प्रणय के दो अर्थ हो सकते हैं । कृष्ण का राधा के प्रति प्रेम उद्दाम मानवीय प्रेम का ही प्रतीक है । अथवा, श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ क्रीड़ा करना मानो परमात्मा का अगणित जीवात्माओं में रमण करना है, जिसका परिणाम है—राधा-प्रेम अर्थात् जीव और आत्मा का अभेद ।

गीतगोविन्द वस्तुतः एक अनुपम एवं अद्भुत ग्रन्थ है । उसके उद्दाम शृङ्गार-प्रवाह के अन्तस्तल में रहस्यमयी माधुर्य-

भावना की निगूढ़ धारा भी बह रही है। समग्र संस्कृत साहित्य में इस कोटि की मधुर रचना अन्य कोई नहीं। संस्कृत भारती के सौन्दर्य और माधुर्य की पराकाष्ठा का अवलोकन करना हो तो गीतगोविन्द का अनुशीलन करना चाहिए। उसके शब्द-चित्रों में सौन्दर्य छलक पड़ता है। उसके गीतों का पदलालित्य अलौकिक माधुर्य का संचार करता है। उसके छन्दों का नाद सौन्दर्य अपूर्व है। शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य ऐसा मनोमुग्धकारी है कि संस्कृत से अपरिचित व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसकी सी कोमल-कान्त-पदावली संसार के साहित्य में दुर्लभ है। दीर्घ समासों में भी विलक्षण प्रासादिकता एवं स्वरमाधुर्य है। अनुप्रास-प्रयोग में जयदेव अद्वितीय हैं। उनके गीतों में अन्त्यानुप्रास पदों के अन्त में ही नहीं, मध्य में भी देख पड़ता है (अमलकमलदललोचन भवमोचन ए)। ललित छन्द और कोमलकान्तपदावली का ऐसा कान्त संयोग स्थापित किया गया है कि गीतों के पाठ मात्र से सहृदयों के हृदय में तदनुरूप रस का आविर्भाव हो उठता है। शृङ्गार की व्यंजना के लिये यह अनूठी शैली है। उनके गीत कहीं मन्द-मन्थर गति से और कभी वेगपूर्ण धारा में प्रवाहित होते हैं। उनकी शैली के कुछ उदाहरण देखिए। दीर्घ समासों का प्रयोग होने पर भी शैली में कैसी रमणीयता और प्रवाह है—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे॥

कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगः स्मितशाली ॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ॥ ध्रुवम्
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम् ।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम् ॥

राधिका की सखी उनकी विरहपीड़ा का कृष्ण के प्रति वर्णन कर रही है—

निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम् ।
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् ॥
माधव मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ।
सा विरहे तव दीना ॥

राधिका को उसकी सखी हरि के समीप जाने को प्रेरित कर रही है। कैसी प्रासादिक, रागात्मिका शैली है—

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ॥
धीरसमीरे यमनातीरे वसति वने वनमाली ।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचंचलकरयुगशाली ॥
मुखरमधीरम् त्यज मंजीरं रिपुमिव केलिसुलोलम् ।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शिथिलय शीलनिचोलम् ॥

भाषा, शैली, भाव और गीतिविन्यास की दृष्टि से गीतगोविन्द गीतिकाव्य का मुकुटमणि है। जयदेव को स्वयं अपनी उत्कृष्ट कला का बड़ा गर्व था। उनका कहना है कि 'संदर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव।' जयदेव की यह आत्मप्रशंसा सर्वथा उपयुक्त ही है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

पदमाधुर्य, अनुप्रासों के सुभग सौकर्य, साहित्यिक सौन्दर्य, भावप्रवण कवित्व, प्रणयभावों की सुकुमार व्यंजना, तथा सरस और तन्मय भावना में गीतगोविन्द अनुपम एवं अद्वितीय है।

गीतगोविन्द की रचना बड़ी लोकप्रिय और प्रसिद्ध सिद्ध हुई। उस पर लगभग ३५ टीकाएं लिखी गईं। जिस ग्राम में जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की, उसका नाम ही 'जयदेवपुर' पड़ गया। उनके जन्मस्थान में आज भी उनके भक्त पौष शुक्ला सप्तमी को उनकी जयन्ती मनाते हैं। १२६२ ई० के एक शिलालेख में गीतगोविन्द का एक पद्य उद्धृत किया गया है। १४६६ ई० में उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव ने यह आज्ञा निकाल दी थी कि उनके राज्य के सभी नृत्यकार और संगीतज्ञ गीतगोविन्द के ही पद गाया करें। ऐसे लोकप्रिय कवि के लिये 'कविराजराज' की उपाधि सर्वथा संगत है।

गीतगोविन्द की रचना कर जयदेव ने संस्कृत में एक नवीन रचनाप्रणाली का सूत्रपात किया। गीतगोविन्द के अनुकरण पर 'अभिनवगीतगोविन्द', 'गीतराघव', 'गीतगङ्गाधर', 'कृष्णगीता' जैसे अनेक गीतिकाव्यों की रचना हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गीतगोविन्द का तदनुरूप सरस पदावली में व्रजभाषा में अनुवाद किया है।

पंडितराज जगन्नाथ

जयदेव के पश्चात् गीतिकाव्य-साहित्य में उल्लेखनीय नाम पंडितराज जगन्नाथ का है। कीथ महोदय ने अपने विपुलकाय संस्कृत साहित्य के इतिहास में जगन्नाथ जैसे प्रखर कवि का

उल्लेख नहीं किया, यह आश्चर्य है। पंडितराज जगन्नाथ तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। युवावस्था में वे दिल्ली गये और शाहजहां से 'पंडितराज' की उपाधि प्राप्त की। मुगल दरबार में शायद वे कुछ दिन रहे (दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः)। उस प्रकार उनका स्थितिकाल १६५०–८० ई० के लगभग था। कहते हैं कि पंडितराज ने किसी यवन युवती से विवाह कर लिया था। वृद्धावस्था में जब वे काशी आये तो अप्पय्य दीक्षित आदि पंडितों ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। इस पर उन्होंने गङ्गालहरी की रचना की, जिससे प्रभावित हो स्वयं गङ्गाजी ने उन्हें अपने अंक में स्थान दिया।

उनके रचित ग्रन्थ ये हैं—(१) 'पीयूषलहरी' अथवा 'गङ्गालहरी' जिसमें गङ्गा की सुन्दर स्तुति की गई है। (२) 'सुधा-लहरी' जिसमें ३० पद्यों में सूर्य की स्तुति की गई है। (३) 'अमृतलहरी' में ११ पद्यों में यमुना की स्तुति है। (४) 'करुणा-लहरी' में ६० पद्यों में भगवान विष्णु की स्तुति है। (५) 'लक्ष्मी-लहरी' ४१ पद्यों में लक्ष्मी की स्तुति है। (६) 'यमुनावर्णन' गद्य-ग्रन्थ है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसके दो उदाहरण रसगङ्गाधर में दिये गये हैं। (७) 'आसफविलास' में शाहजहां के खानखाना आसफखां की प्रशंसा की गई है। इसके भी केवल दो उद्धरण रसगङ्गाधर में पाये जाते हैं। (८) 'प्राणा-भरण' कामरूप के राजा प्राणनारायण की प्रशंसा है। (९) 'जगदाभरण' संभवतः उदयपुर के राजकुमार जगतसिंह अथवा दाराशिकोह की प्रशंसा है। (१०) 'चित्रमीमांसाखंडन' में अप्पय्य दीक्षित के चित्रमीमांसा ग्रन्थ के दोषों का विवेचन किया गया है। (११) 'मनोरमाकुचमर्दन' व्याकरण का ग्रन्थ है। भट्टोजी दीक्षित ने अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' पर जो 'मनोरमा'

नामक टीका लिखी है, उसी की यह आलोचना है। (१२) 'रसगङ्गाधर' पंडितराज जगन्नाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति है। अलंकार-शास्त्र का यह एक परम प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें पंडितराज के प्रकांड पांडित्य और विलक्षण प्रतिभा का अपूर्व संयोग देख पड़ता है। खेद का विषय है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। इसकी यह विशेषता है कि उदाहरण के लिये ग्रन्थकार ने स्वरचित पद्य दिये हैं१। इन पद्यों का काव्य-माधुर्य एवं सरस पदावली दर्शनीय है।

(१३) भामिनीविलास पंडितराज के मुक्तक गीतात्मक पद्यों का सुन्दर संग्रह है। इसमें चार विलास हैं—प्रास्ताविक-विलास, शृङ्गार-विलास, करुणविलास तथा शान्तविलास। इसके पद्य अत्यन्त सरस, सुन्दर, भावपूर्ण एवं चित्त पर सद्यः प्रभाव डालने वाले हैं। संस्कृत के गीतिकाव्यों में भामिनीविलास का स्थान अत्यन्त महत्त्वमय है। पंडितराज जगन्नाथ की शैली अत्यन्त उदार, मधुर एवं लालित्यमयी है। भर्तृहरि के समान इनका भी शब्दशोधन अनवद्य और अत्यन्त रुचिर होता है। प्रांजल पदशय्या, अभिनव विचारधारा तथा सुललित छन्दोमाधुर्य—ये गुण पंडितराज के पद्यों में सर्वत्र देख पड़ते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला॥ शृ०वि०२२

'एक ओर तट पर तरुणी का सस्मित मुखकमल है, दूसरी ओर जल में खिलता हुआ कमल। इन दोनों कमलों के बीच मकरन्द के लोभी भोले भ्रमरों की पांत कभी इस ओर और कभी उस

१—निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

ओर चक्कर काट रही है।' नीचे दिये पद्य में कविता और प्रियतमा की कैसी श्लेषपूर्ण तुलना की गई है—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः।
सा मामकीनकवितेव मनोभिरामा रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति॥

'श्रुतिकटुत्व आदि दोषों से रहित, माधुर्य आदि गुणों से युक्त, रस एवं भाव से परिपूर्ण, अलंकारों से विभूषित तथा श्रुतिमधुर, सुकुमार वर्णों से सुशोभित मेरी कविता उसी प्रकार मेरे हृदय से कभी दूर नहीं हो सकती, जैसे दुःशीलत्व आदि दोषों से शून्य, दया-दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त, प्रणय और विलास से परिपूर्ण, आभूषणों से अलंकृत तथा सर्वदा मधुर वचन बोलने वाली मेरी सुन्दरी प्रियतमा।' पंडितराज की अन्योक्तियां अनूठी और व्यंगपूर्ण हैं। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
*मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्॥*प्रा०वि०२

'भला, कहो तो, राजहंसों के जिस सिरताज ने विकसित कमलों के पराग से सुरभित मानसरोवर के निर्मल जल में अपनी आयु के दिन बिताये हों, वही अब मेढ़कों से खचाखच भरे किसी गँदले ताल में कैसे रह सकता है?'

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥ प्रा० वि० ३

'ऐ प्यारे खिलने वाले कमल, तेरे इस छलकते हुए मधुर मकरन्द-रस का आस्वादन करने वाले ये भौंरे भले ही तेरे आसपास मंडराते हुए अपनी मधुर गुञ्जार में तेरी चाटुकारी किया करें, किन्तु सच पूछ तो तेरा सच्चा मित्र यह मलय-पवन है जो बिना किसी स्वार्थ के ही तेरे सौरभ का दिग्दिगन्त में प्रसार कर रहा है।' पंडितराज की व्यञ्जनाप्रणाली बड़ी ही मार्मिक मौलिक और अनुप्रासपूर्ण होती है; उदाहरणार्थ—'कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी, मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी'; 'आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालसस्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन वाचां विलासो मम'; चुलुकयति मदीयां चेतनां चंचरीकः' इत्यादि। पंडितराज ने अपनी कविता के विषय में गर्वोक्तियां भी की हैं। उनकी एक गर्वोक्ति देखिए—

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पंडितपते–
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः॥

'वीणापाणि भगवती सरस्वती अपनी वीणा बजाते-बजाते हाथ रोक कर जिसकी मधुर वाणी के अमृतमय रस का अकंठ पान करने लगती हैं, उन पण्डितराज के श्रवणसुभग पद्यों को सुनकर जो व्यक्ति वाह–वाह करता हुआ सिर न हिलाने लगे, वह वास्तव में या तो पूरा नरपशु है अथवा साक्षात् वीतराग भगवान् शङ्कर ही।'

सुभाषित-संग्रह

संस्कृत गीतिसाहित्य के इतिहास में उन सुभाषित-संग्रहों का भी महत्व है, जिनमें सूक्तियों का संकलन किया गया है। इनमें

एक से एक सुन्दर गीतात्मक या मुक्तक पद्य भरे पड़े हैं। प्राचीनतम उपलब्ध संग्रह हालकृत गाथासप्तशती है। इसके बाद संस्कृत में भी सूक्तियों का संकलन होने लगा। सबसे प्राचीन संस्कृत सूक्तिग्रन्थ 'कवीन्द्ररससमुच्चय' (११०० ई०) है। दूसरा सुभाषित ग्रन्थ श्रीधरदास कृत 'सदुक्तिकर्णामृत' (१२०५ ई०) है। सूक्ति-साहित्य का तीसरा ग्रन्थ जल्हण-कृत 'सूक्तिमुक्तावली' (१३०० ई०) है। चौथा ग्रन्थ 'शार्ङ्गधरपद्धति' (१३६३ ई०) है। पांचवां, वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' (१५०० ई०) है। अन्य प्रमुख सूक्ति-संग्रहों के नाम ये हैं—रूपगोस्वामी (१४६० ई०) कृत 'पद्यावली', लक्ष्मणभट्ट की 'पद्यरचना' (१६०० ई०), जीवानन्द विद्यासागर कृत 'काव्यसंग्रह' (१८७४ ई०), निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' तथा पूर्णचद्रदेव का 'उद्भटसागर'। इन सूक्तिग्रन्थों का उपयोग केवल यही नहीं है कि इनमें सुन्दर पद्यों का संकलन किया गया है; उनमें ऐसी अनेक फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं, जो इन ग्रन्थों के अभाव में विस्मृति गर्त में विलीन हो जातीं। साथ ही कई अज्ञात कवियों का (कस्यचित्कवेः) स्फुट रचनाएँ भी इनमें मिलती हैं।

गीति-काव्य की विशेषताएँ

गीतिकाव्य संस्कृत साहित्य का परम रमणीय अंग है। संस्कृत के गीतिकाव्य मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों शैलियों में उपलब्ध होते हैं। भर्तृहरि या अमरुक के पद्य मुक्तक हैं, जो संदर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होते हैं। मेघदूत या गीतगोविन्द प्रबन्धात्मक हैं, जिनमें आद्योपान्त एक ही विषय या कथानक का गीति-शैली में विवेचन रहता है। एक और भी भेद है जिसे हम निबन्धात्मक कह सकते हैं, जैसे ऋतुसंहार। इसके प्रत्येक सर्ग में किसी एक ऋतु को लेकर कई

पद्यों में उसका कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है। इन पद्यों में तत्तद् ऋतुविषयक एकवाक्यता है। प्रत्येक सर्ग का पद्य-समुदाय एक लघु निबन्ध के रूप में माना जा सकता है।

गीति-काव्यों में सुख-दुःख की भावावेगमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में चित्रण किया जाता है। सुख और दुख की अनुभूति जब तीव्र से तीव्रतम हो जाती है, तब उसी आवेश मे उदात्त और अनुदात्त ध्वनियों के सामंजस्य से कवि के कण्ठ से जो शब्द निकल पड़ते हैं, वे ही गीत की संज्ञा पा सकते हैं। उसमें कवि की एक ही भावानुभूति कोमल और मधुर शब्दों के सम्बल से गीति-प्रधान शैली में अभिव्यक्त होती है। संगीत हृदय की कोमल वृत्तियों का प्रकाश करता है। संस्कृत गीति-काव्यों में गेयता होने के कारण उनमें कवि उन्हीं अनुभूतिमय चित्रों का अङ्कन करता है जो पाठक के हृदय पर पूर्ण प्रभाव डाल सकें; गीति-मुक्तक का निर्माणकर्ता हृदय की उसी अभिव्यक्ति को व्यक्त करता है जिसकी अनुभूति पाठकों के अन्तरम में प्रवेश कर सके। गीतिकाव्य आत्मानुभूति का—मानवजीवन की मार्मिक घटनाओं का संगीतात्मक शब्दचित्र है, कवि-हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का सच्चा उद्गार है।

संस्कृत गीतिकार के लिये किसी भाव या विषय की सीमा नहीं है और न उसके व्यक्तीकरण में कोई बन्धन ही। गीत में कवि किसी भी भाव-विशेष को व्यक्त कर सकता है, जिसका उसके हृदय में उद्रेक हुआ है। महाकाव्यों की रूढ़ियां उसे आबद्ध नहीं करतीं। इसी कारण 'काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-चोटियों के बीच गीति-मुक्तक एक सजल कोमल मेघखण्ड है जो न उनसे दब कर टूटता है और न बँध कर रुकता है।' इन गीतों में रागात्मक वृत्तियों का विकास होने के कारण जीवन के

अनुरंजनकारी चित्र ही अंकित हुए हैं। अधिकतर उनमें प्रसाद और माधुर्य की ही व्यंजना हुई है। उनके वर्ण्य-विषय प्रायः शृङ्गार, नीति, धर्म अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य हैं। वीर, रौद्र अथवा भयानक रस के लिए उनमें स्थान नहीं है। उनका कमनीय गीति-सौन्दर्य किसी बीभत्स घटना अथवा आत्यन्तिक आवेश से आक्रान्त नहीं होना चाहिए। उनके छोटे-छोटे गेय पदों में एक ही भाव-विशेष की तीव्रता और सरस, सुस्पष्ट एवं सामंजस्य-पूर्ण शैली का सहज स्वाभाविक समन्वय देख पड़ता है। भावों की कोमलता विचारों की शिष्टता, निरीक्षण की नवीनता और कल्पना की चारुता —ये सभी गुण उनमें पाये जाते हैं।

भावक्षेत्र में गीतिकार जितना स्वतन्त्र है, शब्दक्षेत्र में उतना ही सीमित। 'एक ओर वह स्वतन्त्र वातावरण में उन्मत्त भाव से विचरण करने वाला विहंग है, जो समस्त विश्व को अपने कलरव गान से सिञ्चित करता रहता है, दूसर ओर वह अपनी ही लघु सीमा में जीवन पर्यन्त विहार करने वाला पिंजरे में बन्द पक्षी है, जिसे अनेक बन्धन आबद्ध किये रहते हैं।' कोमलकान्त पदावली, रमणीय सङ्गीतमय छन्द, कमनीय शब्दविन्यास तथा अलङ्कारों का सुरुचिपूर्ण विरल प्रयोग गीतिकाव्य की सफलता के लिये आवश्यक है। संस्कृत गीतिकाव्य इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। जैसा सुन्दर और पेशल उनका आभ्यन्तर रूप है वैसा ही अभिराम और कमनीय उनका बाह्यरूप है। उनके छन्द बड़े ही श्रुतिमनोहर, गेय, रसपेशल, गीत के अद्भुत लालित्य एवं लावण्य से परिपूर्ण तथा पाठक और श्रोता पर सद्यः प्रभाव डालने वाले हैं। उनकी पदावली बड़ी परिमित, सरस, सुन्दर, सरल तथा मधुर होती है। उनके शब्दों में जो शक्ति है, उनकी लय में जो सन्तरण है, उनके स्वरों में जो सामञ्जस्य है, उसकी शक्ति वाणी से कहीं अधिक है।

संस्कृत गीति-काव्यों में रमणी-सौन्दर्य का स्निग्ध चित्रण किया गया है। कहीं शृङ्गार करती हुई कला-प्रवीण सुन्दरी का, कहीं यौवन की अभिनव छटा छिटकाती हुई मुग्ध ग्राम-बधू का, कहीं मानिनी के सरोष भ्रूभङ्ग का और कहीं विरहिणी के म्लान मुखचन्द्र का रमणीय सौन्दर्य अंकित है। रमणी के बाह्य-सौन्दर्य के साथ ही उसके अन्तःसौन्दर्य का भी चारु चित्रण हुआ है। संस्कृत गीति-कविता केवल वस्तुओं के रूपरंग में ही सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमण्डल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है, उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष आदि का सौन्दर्य भी मन में जमाती है। 'इन गीतों में कहीं प्रेम की मन्दाकिनी बह रही है तो कहीं करुणरस की फल्गु धारा; कहीं जीवन के उल्लासमय संगीत हैं तो कहीं विरह के मर्मोच्छ्वास।' गीत का सम्बन्ध हृदय की कोमल वृत्तियों के साथ होने के कारण हमें उसमें सुख-दुःख और हर्ष-विषाद का संकेत मिलता है। कहीं वह अपने अश्रुकणों से सजलता ला देता है और कहीं अपने हास्य से उज्ज्वल और निर्मलता।

कहा जाता है कि संस्कृत गीत-काव्य में चित्रित प्रेम प्रायः इन्द्रियजन्य या वासनाग्रस्त है। उसमें नारी केवल उपभोग की वस्तु मानी गई है और पुरुष उसके कटाक्षों का क्रीतदास मात्र। पाश्चात्य आलोचक इस प्रेम में अश्लीलता की गन्ध भी पाते हैं। किन्तु यह आलोचना एकांगी, अतिरंजित और अनुचित है। गीति काव्यों के समुचित अध्ययन से यह सिद्ध है कि उनमें पुरुष, स्त्री के बाह्य-सौन्दर्य पर जितना मुग्ध है, उससे कहीं अधिक वह उसके अन्तःसौन्दर्य पर अनुरक्त है। नारी के हृदय में प्रणय का अजस्र स्रोत बह रहा है, इस सत्य की अभिव्यक्ति

सभी गीति-काव्यों में हुई है। कुल-वधुएं अपना हृदय जिसे समर्पित कर चुकी हैं, उसका बाह्यरूप उनके लिये कोई महत्व नहीं रखता—

यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिदुर्गतोऽपि विरूपोऽपि ।

कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं वल्लभो भवति ॥ गा० स०

स्त्री के व्यक्तित्व को, नारी के अन्तःसौन्दर्य को हृदयङ्गम करने में गीति-काव्य विशेष सहायक हैं। उनके अनुशीलन से हमारे हृदय में स्त्रियों के प्रति सम्मान की नई भावना जागृत होती है।

संस्कृत गीति-काव्यों में शृङ्गार-भावना अत्यन्त परिष्कृत एवं संस्कृत रूप में हमारे सामने आती है। शारीरिकता की उसमें स्वीकृति है, पर वह शरीर की प्रकृत भूख नहीं है। उसमें मन की कोमल सौन्दर्य-वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। गीति-काव्य वास्तव में रूप और रस की मधुर कोमल भावनाओं से समृद्ध एक ललित काव्य है, जिसमे शृङ्गार रस शरीर की आवश्यकता न होकर मन का विलास है। इसीलिये उसमें तीव्रता एवं उत्कटता के स्थान पर माधुर्य और मसृणता मिलती है। मेघदूत की यक्षपत्नी, सप्तशती की ग्रामतरुणियां, गीतगोविन्द की राधिका आदि रस-सृष्टियां ही है, जिनमें हमारे मन की सौन्दर्य चेतनाएं मूर्तिमती हो गई हैं। वैभव, विलास और कल्पना के शत-शत रंगों के स्पर्श से इस शृङ्गार में भारतीय रोमानी भाव का अतिशय परिष्कृत लावण्य मिलता है। शोभा, श्री, कान्ति और सुकुमारता का ऐसा अपूर्व मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

गीतिकाव्यों में प्रकृति-चित्रण का भी प्रमुख स्थान है। बाह्य-प्रकृति और अन्तःप्रकृति इन दोनों के पारस्परिक प्रभाव का बड़ा

सजीव वर्णन गीतिकाव्यों में हुआ है। प्रकृति के दृश्यों पर मानवीय मनोविकारों का आरोप भी किया है। विप्रलंभ और संभोग दोनों अवस्थाओं में प्रकृति मानव के प्रति प्रायः समवेदना-शील चित्रित की गई है। मानवीय सौन्दर्य को प्रकृति द्विगुणित कर देती है—प्रेमिका के सौन्दर्य की छटा को चारुतर बना देती है। भारतीय साहित्य में प्रकृति रमणी-सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध मानी गई है कि वह उसके स्पर्शमात्र से पुलकित हो उठती है। सच पूछिए तो इसी भाव की व्यञ्जना उस परम्परागत 'कवि-समय' (poetic traditions) में की गई है, जिसके अनुसार नायिका के पादस्पर्श से अशोक विकसित हो उठता है, कटाक्ष-मात्र से तिलक-वृक्ष खिल उठता है और आलिंगनमात्र से कुरबक कुसुमित हो जाता है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातदशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

इस अध्याय में जिन गीतिकाव्य के कवियों का विवेचन हुआ है, उनकी नामावली इस प्रकार है—

अग्रिमः कालीदासः स्यात् तदा स्यात् घटकर्परः ।
हालभर्तृहरी स्याताम् तथाऽमरुकबिल्हणौ ॥
धोयीगोवर्धनाचार्यौ जयदेवस्तदैव च ।
जगन्नाथश्च प्रख्याता दशैते गीतिकारकाः ॥

७

आख्यान—साहित्य

विश्व-साहित्य में भारत के आख्यान-साहित्य का अत्यन्त महत्वमय स्थान है। मौलिकता, रचना-नैपुण्य तथा विश्वव्यापक प्रभाव की दृष्टि से वह अनुपम और अद्वितीय सिद्ध हो चुका है। भारतीय लोक-साहित्य के परिज्ञान के लिये भी संस्कृत आख्यानों का अनुशीलन परमावश्यक है। इन आख्यानों में नाटकों या महाकाव्यों की भाँति प्रख्यात पौराणिक अथवा ऐतिहासिक पात्रों या कथानकों का उपयोग नहीं हुआ है। इन आख्यानों में शुद्ध काल्पनिक जगत् का चित्रण किया गया है। उनमें कहीं कुतूहल है, कहीं घटना-वैचित्र्य हैं, कहीं हास्य और विनोद है, कहीं गम्भीर उपदेश है और कहीं सरस काव्य की मधुर झलक भी है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी हमारे आख्यान-साहित्य की मौलिकता एवं मनोरंजकता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

संस्कृत आख्यान-साहित्य दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—नीति-कथा (Didactic Fable) और लोक-कथा (Popular Tale)।

नीतिकथा

संस्कृत साहित्य में स्थल-स्थल पर आदर्श या उपदेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। काव्यों और नाटकों में ऐसे अनेक

पद्य मिलते हैं, जिनमें सूक्तियों के रूप में नीति या सदाचार का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है। इसी उपदेशात्मक प्रवृत्ति का मनोरंजनकारी परिपाक नीतिकथाओं में हुआ है। नीतिकथाओं का उद्देश्य रोचक कहानियों द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की बातों का उपदेश देना है। यह उपदेश मोक्ष या अध्यात्म-विद्या से सम्बन्ध नहीं रखता। नीतिकथाओं का प्रतिपाद्य विषय सदाचार, राजनीति और व्यावहारिक ज्ञान है। दैनिक जीवन में सफलता और उन्नति प्राप्त करने के लिये जिन-जिन बातों का पद-पद पर ध्यान रखना आवश्यक है और जिनके न जानने से मनुष्य अनायास ही धूर्तों के चक्कर में फंस सकता है, उन्हीं बातों का उपदेश नीतिकथाओं में दिया गया है। पशु-पक्षियों की रोचक कहानियों के रूप में सदाचार और राजनीति के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्त बड़ी सरलता से समझा दिये गये हैं। इन मनोरंजक कहानियों की सहायता से सुकुमार-मति बालक भी अनायास ही इन सिद्धान्तों को हृदयंगम कर सकते हैं। इनमें पशु-पक्षी मनुष्यों के समान ही सारे कार्य करते हैं। मनुष्यों की भाँति वे बोलते हैं, मनुष्यों के सरीखे वे व्यवहार करते हैं और मनुष्यों के समान ही वे आपस में प्रेम, कलह, युद्ध या सन्धि भी करते हैं।

नीतिकथाएं जहाँ नीतिशास्त्र का ज्ञान कराती हैं वहाँ वे संस्कृत भाषा की सरल एवं रोचक शैली का आदर्श भी उपस्थित करती हैं। उनकी भाषा अत्यन्त सरल और शैली अत्यन्त रोचक है। कहानी का वर्णन प्रायः गद्य में होता है, किन्तु उससे मिलने वाली शिक्षा या नैतिक उपदेश का संकलन पद्य में किया जाता है। कहानी के बीच में भी जहाँ-तहाँ पद्यों का समावेश देख पड़ता है। जब कोई पात्र कोई गंभीर या पते की बात कहता है तो उस पर जोर देने के लिये वह पद्य का प्रयोग करता है।

चुभते हुए मुहावरे, अनूठी लोकोक्तियाँ और रोचक दृष्टान्त सर्वत्र भरे पड़े हैं। नीतिकथाओं की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें एक प्रधान कथा के अन्तर्गत कई गौण कथाओं का भी समावेश होता है। मुख्य कथा के पात्र अपनी बात के समर्थन में बीच-बीच में अनेक उप-कथाएं कहने लगते हैं।

भारतीयों का जीवन प्रकृति-जीवन से इतना घुला–मिला था कि पशु पक्षियों के उदाहरण द्वारा बालकों को व्यावहारिक उपदेश देने की प्रथा वैदिककाल से ही चली आई है। मनुष्य और मछली की एक कथा ऋग्वेद में पाई जाती है। छान्दोग्य-उपनिषद् में दृष्टान्त के रूप में उद्गीथ श्वान का आख्यान वर्णित है। रामायण में कुछ नीतिकथाओं का संक्षिप्त उल्लेख या उपमाओं द्वारा संकेत किया गया है। पुराणों में तो अनेक नीतिकथाएं वर्णित हैं। महाभारत में विदुर के मुख से कई नीतिकथाएं कहलाई गई हैं। तृतीय शताब्दी ई० पू० भारहुत के (Bharhut) स्तूप पर कई नीतिकथाओं के नाम खुदे हुए हैं[१]। पतंजलि (१५० ई०) ने अपने महाभाष्य में 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' जैसी लोकोक्तियों का प्रयोग तथा सांप और नेवले, कौए और उल्लू की जन्मजात शत्रुता का उल्लेख किया है। जैनों और बौद्धों ने भी अनेक नीतिकथाएं रचीं। बौद्धों का 'जातक' नामक कथा-संग्रह ३८० ई० पू० के लगभग विद्यमान था। इसके अतिरिक्त ६६८ ई० के एक चीनी विश्वकोष में कई भारतीय कथाओं का का अनुवाद उपलब्ध होता है। ये कथाएं, जैसा कि उक्त विश्व-कोष में निर्दिष्ट है, २०० बौद्धग्रन्थों से ली गई हैं[२]। इन सब

१—Macdonell : *India's Past* p. 117,

२—Macdonell : *Sanskrit Literature* p. 369,

प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि ईसा के पूर्व भारत में नीति-कथाओं का पर्याप्त प्रचार था।

पञ्चतन्त्र

पंचतन्त्र संस्कृत नीतिकथा-साहित्य का अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें नीति की बड़ी मनोहर शिक्षाप्रद कहानियां हैं। बीच-बीच में निष्कर्षमय पद्यों का भी सन्निवेश हुआ है। यह कहना कठिन है कि इस ग्रन्थ की रचना कब हुई, क्योंकि अपने मूल रूप में यह पुस्तक उपलब्ध नहीं होती। बादशाह खुसरू अनूशेरवाँ (५३१-५७९) के हुक्म से पहलवी भाषा में पंचतन्त्र का प्रथम अनुवाद किया गया था। यह पहलवी अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है; हां, उसके आसुरी (Syriac) और अरबी रूपान्तर प्राप्त हैं, जिनके नाम क्रमशः 'कलिलग और दमनग' (५७० ई०) और 'कलीलह और दिमनह' (७५० ई०) हैं। इन नामों से यह प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी में मूल पंचतन्त्र का नाम कदाचित् 'करटक और दमनक' ही रहा हो, क्योंकि इसी नाम के दो सियारों का वर्णन पंचतन्त्र की पहली पुस्तक में आया है।

उपर्युक्त अनुवादों से मूल पञ्चतन्त्र के समय:निर्धारण में सहायता मिलती है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि ५५० ई० (जो पहलवी अनुवाद का समय है) के कई सौ वर्ष पहले से पंचतंत्र भारत में प्रसिद्ध हो चुका था। पंचतन्त्र में चाणक्य का उल्लेख है, अतः उसकी रचना ३०० ई० पू० के पश्चात् ही हो सकती है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र का भी प्रभाव उस पर स्पष्ट देख पड़ता है। अर्थशास्त्र का रचना-काल पाश्चात्य विद्वान द्वितीय शताब्दी के लगभग मानते हैं। 'दीनार' शब्द के प्रयोग से भी पंचतंत्र

की रचना ईसा के बाद की सिद्ध होती है१। ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी के आसपास राजसभाओं में संस्कृत को प्रधानता मिलने लगी थी। राजकार्य में संस्कृत-भाषी ब्राह्मणों का प्रधान स्थान हो गया था। अतः ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी जो संस्कृत का बोध कराने के साथ-साथ राजनीति की भी शिक्षा दे सकें। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर पंचतन्त्र की रचना हुई थी। गुप्तवंश का शासनकाल ब्राह्मणों और संस्कृत साहित्य के अभ्युदय का समय था। अतः पंचतन्त्र का रचनाकाल ३०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

पंचतन्त्र अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, पर उसके कई परिवर्तित संस्करण प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर मूल ग्रन्थ की भाषा शैली और विषय का आभास मिलता है—(१) पंचतंत्र के अप्राप्य पहलवी अनुवाद से अनूदित आसुरी और अरबी संस्करणों से पञ्चतन्त्र के मूल संस्कृत रूप का अनुमान हो सकता है। (२) पञ्चतन्त्र के उत्तर-पश्चिमी भारतीय संस्करण का उपयोग गुणाढ्य की बृहत्कथा में हुआ था, जो अब सोमदेव के कथासरित्सागर (१०३० ई०) में प्रस्तुत है। इसमें पञ्चतन्त्र के पांचों भाग सुरक्षित हैं, पर बीच बीच में विषयान्तर की बहुलता देख पड़ती है। (३) तन्त्राख्यायिका (३०० ई०) में मूल ग्रन्थ का रूप बहुत-कुछ सुरक्षित है। इसके दो काश्मीरी संस्करण भी पाये जाते हैं। (४) पञ्चतन्त्र के जिस संस्करण का भारत में सर्वाधिक प्रचार है, उसे पाश्चात्य विद्वानों ने 'सरल संस्करण' (textus simplicior) का नाम दिया है। (५) पञ्चतन्त्र का एक दक्षिण भारतीय संस्करण भी मिलता है, जो

१—Keith : *HSL* p. 248.

भारवि (६०० ई०) के बाद का है। इसमें पञ्चतन्त्र की कथाएं संक्षिप्त करके दी गई हैं। पूर्णभद्र जैन के संस्करण (११६६ ई०) में २१ नई कथाएं पाई जाती हैं। इसकी भाषा में कहीं-कहीं गुंजराती और प्राकृत रूप पाये जाते हैं। (७) १६६० ई० में मेघविजय ने पञ्चतन्त्र के उपलब्ध संस्करणों के आधार पर 'पञ्चाख्यानोद्धार' की रचना की। (८) एक नैपाली संस्करण में पञ्चतन्त्र के केवल पद्य दिये गये हैं। इस प्रकार पञ्चतन्त्र कोई सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

उपर्युक्त सभी संस्करण पञ्चतन्त्र के मूल रूप के रूपान्तर हैं। इनके आधार पर आधुनिक विद्वान् एफ० एडगर्टन द्वारा सम्पादित पञ्चतन्त्र का संस्करण सब से अधिक प्रामाणिक और प्राचीनतम रूप का परिचायक माना जाता है।

पञ्चतन्त्र की रचना का मूल उद्देश्य राजकुमारों को नीतिशास्त्र में निपुण बनाना था। महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति एक ऐसे योग्य शिक्षक की खोज में थे, जो उनके तीन मूर्ख पुत्रों को अल्पकाल ही में योग्य बना दे। तब विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण ने इस बात का बीड़ा उठाया और पञ्चतन्त्र की रचना करके छः महीने में ही उन राजकुमारों को नीतिशास्त्र में पारंगत बना दिया।

यद्यपि पञ्चतन्त्र के प्राचीनतम अनुवाद से ज्ञात होता है कि आरम्भ में इसके बारह भाग रहे होंगे[१], किन्तु वर्तमान पञ्चतन्त्र में केवल पांच तन्त्र या भाग हैं—मित्रभेद, मित्रलाभ, संधि-विग्रह, लब्ध-प्रणाश तथा अपरीक्षाकारित्व या अपरीक्षितकारकम्।

१—Macdonell : *Sanskrit Literature, p. 370*

प्रत्येक भाग में मुख्य कथा के अन्तर्गत कई गौण कथाएं आई हैं। उसमें पशु-पक्षी सदाचार, नीति और लोक-व्यवहार के विषय में बातचीत करते हैं तथा धर्म-ग्रन्थों के सूक्ष्म विषयों पर विचार-विनिमय करते हैं। लेखक की विनोदप्रियता सर्वत्र समान रूप से देख पड़ती है। बाघ की खाल ओढ़े गधे का चांदनी रात में गाना गाने के लिये उतावला होना, अपने मित्र शृगाल की शङ्काओं का समाधान करने के लिये संगीतशास्त्र की महत्ता पर वक्तृता देना और अन्त में पुरस्कारस्वरूप पीठपूजा पाना बड़ा ही विनोदपूर्ण है। ब्राह्मणों के लोभ और पाखण्ड, चाटुकारों की कपटवृत्ति तथा त्रिया-चरित्र आदि मानवीय दोषों का व्यंगपूर्ण उद्घाटन भी किया गया है।

पञ्चतन्त्र की शैली सरल और मुहावरेदार है। भाषा विषय के सर्वथा अनुरूप है। मुख्यतः बालकों के लिये रचित होने के कारण उसका गद्य अत्यन्त सुबोध है; समास बहुत कम या छोटे छोटे हैं; वाक्यविन्यास में किसी प्रकार की दुरूहता नहीं है। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है, पर उपदेशात्मक सूक्तियां पद्य में निहित हैं। पे पद्य कई प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं। महाभारत तथा पाली जातक-संग्रह से भी अनेक पद्य लिये गये हैं। लेखक की कुशलता इन पद्यों के चुनने में तथा उनको कथानक में यथास्थान निपुणतापूर्वक बैठाने में है।

पंचतन्त्र की कथाओं का प्रचार विश्वव्यापी हुआ है। बाइबल के बाद संसार की सबसे अधिक प्रचलित पुस्तक पंचतंत्र ही है। भारत के बाहर लगभग पचास भाषाओं में पंचतंत्र के २५० विविध संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अत्यन्त प्राचीन-काल में ही उसकी कुछ कहानियों का प्रचार रोम और ग्रीस जैसे सुदूर देशों में हो चुका था। ग्रीस के प्राचीन कहानीकार ईसप की कई कहानियों पर पंचतंत्र का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है।

हितोपदेश

नीतिकथाओं में पंचतंत्र के बाद हितोपदेश का ही नाम आता है। हितोपदेश के रचयिता नारायण पण्डित थे, जिनके आश्रयदाता बंगाल के कोई धवलचन्द्र राजा थे। हितोपदेश की एक पांडुलिपि १३७३ ई० की पाई गई है, अतः उसकी रचना १४ वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी। हितोपदेश की रचना बहुत कुछ पंचतन्त्र के ही आधार पर हुई है। उसकी प्रस्तावना में यह बात स्वीकार भी की गई है—'पंचतन्त्रात्तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते'। हितोपदेश की ४३ कथाओं में से २५ तो पंचतन्त्र से ही ली गई हैं। हितोपदेश के चार परिच्छेद हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। प्रथम दो परिच्छेद प्रायः पंचतन्त्र से ही लिये गये हैं। हितोपदेश में पंचतन्त्र की अपेक्षा पद्यों की संख्या अधिक है। कहीं-कहीं इन पद्यों का इतना बाहुल्य हो गया है कि कथा-प्रवाह में व्याघात सा पड़ जाता है। इन पद्यों में से कई 'कामन्दकीनीतिसार' से लिये गये हैं। ये पद्य अत्यन्त उपदेशपूर्ण तथा कंठाग्र करने योग्य हैं। भारत में हितोपदेश का पठन-पाठन पंचतन्त्र की अपेक्षा अधिक है। संस्कृत सीखने वाले विद्यार्थियों को पहले प्रायः हितोपदेश ही पढ़ाया जाता है। उसकी भाषा सरल और सुबोध है। हितोपदेश के दो उपदेशपूर्ण पद्य यहाँ दिये जाते हैं—

व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
वध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलात्मत्स्याः समुद्रादपि।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि॥

'आकाश में स्वच्छन्द विहार करने वाले पक्षी भी विपत्ति में पड़ ही जाते हैं; समुद्र के अगाध जल में रहने वाली मछलियां भी

चतुर मछुओं के जाल में फंस ही जाती हैं। इस संसार में क्या पाप है और क्या पुण्य; किसी स्थान-विशेष की प्राप्ति से कोई लाभ नहीं। मृत्यु अपने विपत्तिरूपी हाथ फैलाकर दूर से भी अपने शिकार को पकड़ ही लेती है।'

पयः पानं भुजंगानां केवलं विषर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये॥

लोककथा

उपदेश-प्रधान नीतिकथाओं के अतिरिक्त मनोरंजनात्मक लोककथाओं का भी अस्तित्व संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। किन्तु दोनों में प्रधान अन्तर यह है कि नीतिकथाएं उपदेश-प्रधान होती हैं और लोककथाएं मनोरंजन-प्रधान। साथ ही, लोककथाओं के पात्र पशु-पक्षी न होकर प्रायः मनुष्य ही होते हैं।

लोककथाओं का प्राचीनतम संग्रह गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा है। ब्यूलर के मतानुसार बृहत्कथा प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी की कृति है। मूल बृहत्कथा, जो पैशाची प्राकृत में थी और जिसमें एक लाख पद्य थे, अब उपलब्ध नहीं है। अब उसके तीन संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर मात्र पाये जाते हैं। मूल कृति गद्य में थी या पद्य में, इस विषय में मतभेद है। काश्मीर की जनश्रुति के अनुसार बृहत्कथा श्लोकबद्ध थी, किन्तु काव्यादर्श में दण्डी ने उसको गद्यात्मक बताया है[१]। गुणाढ्य ने अपने समय की प्रचलित अनेक लोककथाओं को संगृहीत कर बृहत्कथा की रचना की थी। उसका नायक महाराज उदयन का राजकुमार है, जिसकी रानी मदनमंजूषा को मानसवेग हर ले जाता है।

१—काव्यादर्श १।२३, ३८

गोमुख नामक विश्वासपात्र मन्त्री की सहायता से राजकुमार उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। यही बृहत्कथा की मूल कथा-वस्तु है।

जिस प्रकार नीतिकथाओं में पंचतन्त्र का स्थान सर्वोपरि है, उसी प्रकार लोककथाओं में बृहत्कथा का स्थान अग्रगण्य है। रामायण और महाभारत के समान बृहत्कथा भी भारतीय साहित्य की एक अपूर्व निधि थी[१]। उसकी कथाओं के आधार पर संस्कृत के कई ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। कवियों और नाटककारों के लिये गुणाढ्य ने प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है। भास और हर्ष द्वारा वर्णित उदयन और वासवदत्ता की कथाएं तथा शूद्रक के मृच्छकटिक के प्रमुख पात्र बृहत्कथा से ही लिये गये हैं। बृहत्कथा अपने समय में अत्यन्त लोकप्रिय रही होगी। दण्डी[२] और सुबन्धु[३] ने अपने ग्रन्थों में उसका सादर उल्लेख किया है। ६ वीं शताब्दी के कम्बोडिया (प्राचीन चम्पा नगरी) के एक शिलालेख में गुणाढ्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है[४]। दशरूपक के रचयिता धनञ्जय (१००० ई०) ने बृहत्कथा को रामायण और महाभारत के समान ही सुविख्यात माना है[५]।

१—श्रीरामायणभारतबृहत्कथानां कवीन् नमस्कुर्मः।
त्रिस्रोता इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैर्भिन्ना॥ आर्यासप्तशती

२—'भूतभाषामयीं प्राहुरद्‌भुतार्थां बृहत्कथाम्'—काव्यादर्श १।३८

३—'बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः'—वासवदत्ता।

४—पारदस्थिरकल्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः।
अनीतियों विशालाक्षः शूरोऽन्यक्कृत भीमकः॥

५—'रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च'—दशरूपक १।६८

त्रिविक्रमभट्ट (६१५ ई०) ने अपने 'नलचम्पू'१ में और सोमदेव (६५६ ई०) ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में उसकी प्रशंसा की है। गोवर्धनाचार्य (१२०० ई०) ने 'आर्यासप्तशती' में गुणाढय को व्यास का मूर्तिमान अवतार माना है२। बाण ने बृहत्कथा को हरलीला के समान बताया है—

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥ हर्षचरित

सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' में बृहत्कथा की लोकप्रियता की इस प्रकार प्रशंसा की है—

कविर्गुणाढ्यः स च येन सृष्टा बृहत्कथा प्रीतिकरी जनानाम्।
सा संविधानेषु सुसन्धिबन्धैर्निपीड्यमानेव रसं प्रसूते॥

बृहत्कथा के निम्नलिखित संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध होते हैं—(१) नैपाल के बुद्धस्वामीकृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह का समय ८ वीं या नवीं शताब्दी में माना गया है। इसके कुछ ही अंश उपलब्ध हुए हैं, जिनमें २८ सर्ग और ४,५२४ श्लोक हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में १०० से अधिक सर्ग और लगभग २५,००० श्लोक अवश्य रहे होंगे। उसकी भाषा में कहीं-कहीं प्राकृत रूप भी पाये जाते हैं; जो सम्भवतः मूल ग्रन्थ से लिये गये होंगे। (२) बृहत्कथामञ्जरी (१०३७ ई०) के रचयिता क्षेमेन्द्र काश्मीर के राजा अनन्त (१०२६-१०६४ ई०) के आश्रित कवि थे। इसमें ७,५०० श्लोक हैं। यह बृहत्कथा का ही संक्षिप्त रूप है।

१—'धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः'—नलचम्पू

२—अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः॥ आर्यासप्तशती

इसकी भाषा तथा कथानक में स्पष्टता की मात्रा कम है। (३) बृहत्कथा के संक्षिप्त संस्करणों में सोमदेव-कृत कथासरित्सागर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सोमदेव भी काश्मीर के राजा अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। कथासरित्सागर की रचना १०३७ ई० के लगभग हुई। इसमें २४,००० श्लोक हैं। संसार में इसके अतिरिक्त अन्य कोई इतना प्राचीन और इतना विशाल कथा-संग्रह नहीं है। कथानक की सृष्टि में सोमदेव ने बड़ी कुशलता दिखाई है। कथा की योजना करते समय रस का भी ध्यान रखा गया है।

बृहत्कथा के दो तामिल संस्करण भी पाये जाते हैं[१]। मूल बृहत्कथा का समय नई खोज से ७८ ई० सिद्ध हुआ है[२]।

बृहत्कथा तथा उसके रूपान्तरों के अतिरिक्त संस्कृत में और भी अनेक कथा-संग्रह प्राप्त होते हैं। वेताल-पंचविंशतिका में २५ कहानियों का संग्रह है। इसके शिवदास (१२०० ई०) तथा जंभलदत्त कृत दो संस्करण मिलते हैं। शिवदास की कृति गद्य-पद्य में है तथा जंभलदत्त की केवल गद्य में। वेतालपंचविंशतिका की कथाओं का मूल रूप बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर में पाया जाता है। वेतालपंचविंशतिका में एक भूत उज्जैन के राजा विक्रमादित्य से-पहेलियों के रूप में २५ कहानियां कहता है। ये कहानियां अत्यन्त मनोरंजक हैं। एक राजकुमारी का विवाह उसके तीन प्रेमियों में से किससे किया जाय, जब कि उन तीनों ने मिलकर उसे एक राक्षस के पंजे से छुड़ाया है? इसी

१—S. Somasundara Desikar : *Tamil Versions of Brihatkatha, Krishnaswami Aiyangar Com. Vol.* pp. 352-354.

२ भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, पृ० ४०

प्रकार के पहेलिकामय प्रश्नों के रूप में पचीस कौतूहलमय कहानियों का इसमें उल्लेख है।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंशत्पुत्तलिका अथवा विक्रम-चरित भी एक मनोरंजक कहानी-संग्रह है। इसके केवल गद्यमय, केवल पद्यमय और गद्य-पद्यमय ये तीन संस्करण पाये जाते हैं। इसकी प्रत्येक कहानी में धारा के राजा भोज का उल्लेख हुआ है। अतः इसकी रचना भोज (१०१८–१०६३ ई०) के बाद ही हुई होगी। सिंहासन-द्वात्रिंशिका में राजा विक्रम के सिंहासन की ३२ पुतलियां राजा भोज से एक-एक कहानी कहकर उड़ जाती हैं। पर वेतालपंचविंशतिका की भांति इन कहानियों का बुद्धि-विलास उतना उत्कृष्ट नहीं।

उपर्युक्त दोनों कहानी-संग्रहों की अपेक्षा शुक-सप्तति अधिक लोकप्रिय और रोचक है। इसके तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं। इसके कर्ता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। इसकी रचना १४ वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि उसी समय इसका एक अनुवाद फारसी में हुआ था। शुकसप्तति में ७० कहानियां संगृहीत हैं। मदनसेन नामक युवक अपनी पत्नी पर अत्यधिक अनुरक्त है। कार्यवश उसे बाहर जाना पड़ता है। उसकी पत्नी की वियोगजन्य पीड़ा को दूर करने के लिये एक शुक उसे प्रत्येक रात को एक-एक मनोरंजक कहानी सुनाता है। इस प्रकार ७० कहानियों में ७० दिन व्यतीत हो जाते हैं और अन्त में मदनसेन लौट आता है।

अन्य प्रसिद्ध कथासंग्रहों में ये प्रमुख हैं—१५ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति ने पुरुष-परीक्षा की रचना की, जिसमें ४४ नैतिक और राजनीतिक कहानियां हैं। शिवदासकृत

कथार्णव में चोरों और मूर्खों की ३५ कथाएं हैं। १६ वीं शताब्दी के बल्लालसेन-विरचित भोजप्रबन्ध में संस्कृत के महाकवियों की अनेक रोचक दन्तकथाएं दी गई हैं। कई पाश्चात्य कथासंग्रहों का भी संस्कृत में अनुवाद हो चुका है। जगद्बन्धु पंडित ने प्रसिद्ध अरबी कथा 'सहस्ररजनीचरित' (Arabian Nights) का आरव्ययामिनी के नाम से अनुवाद किया है। नारायण-बालकृष्ण कृत ईसब्नीतिकथा में ईसप की कहानियों (Aesop's Fables) का अनुवाद है।

बौद्धों के कथा-संग्रह 'अवदान' नाम से प्रख्यात हैं। इनमें सबसे प्राचीन उपलब्ध संग्रह अवदानशतक है। आर्यशूरकृत संस्कृत जातकमाला चौथी शताब्दी की रचना है। जैन कथासंग्रहों में उल्लेखनीय हेमचन्द्र (१०८८ ई०) रचित परिशिष्टपर्वन् है।

संस्कृत आख्यान-साहित्य का व्यापक प्रभाव

संस्कृत कथा-कहानियों का संसार में इतना अधिक प्रचार हुआ कि वे विश्व-साहित्य का एक अंग बन गईं। संस्कृत आख्यान-साहित्य का यह विश्वव्यापी प्रसार संसार के साहित्य का एक परम विस्मयोत्पादक एवं रोचक विषय है। यात्रियों, व्यापारियों तथा परिव्राजकों द्वारा एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों में ही नहीं, अपितु अफ्रीका की असभ्य सोमाली और सौहाली जातियों में भी भारतीय कहानियों का प्रचार हो गया।

भारतीय कथा-साहित्य की सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन पुस्तक पंचतन्त्र है। संसार की अन्य भाषाओं में पञ्चतन्त्र के अनुवाद छठी शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गये थे। पहलवी भाषा में उसका जो पहला अनुवाद हुआ, उसमें पञ्चतन्त्र के पांचों भागों के

अतिरिक्त महाभारत तथा बौद्ध धर्म की कई कथाएं भी जोड़ दी गई थीं। पहलवी से आसुरी (Syriac) और अरबी भाषाओं में उसके अनुवाद हुए। इस अरबी अनुवाद के ४० भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं[१]। ११वीं शताब्दी में अरबी पंचतन्त्र का ग्रीक भाषा में अनुवाद हुआ, ग्रीक से लेटिन, जर्मन, स्लावेक तथा अन्यान्य यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद हुए। १५७० ई० में सर थामस नार्थ ने इटालियन पंचतन्त्र का अंग्रेजी में अनुवाद किया। विन्टरनिट ज़[२] के मतानुसार जर्मन साहित्य पर पंचतन्त्र का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में एकता का सम्बन्ध स्थापित करने में पंचतन्त्र का विशिष्ट स्थान है।

पंचतन्त्र के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य कथा-संग्रहों का भी विश्व के कथा-साहित्य पर कम प्रभाव नहीं पड़ा है। वेताल-पंचविंशतिका का अनुवाद हिन्दी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं में हुआ, फिर हिन्दी से अंग्रेजी और जर्मन में। मंगोलियन कहानियों की पुस्तक 'सिसद्दीकूर' में वेतालपंचविंशतिका के कई अनूदित अंश उपलब्ध होते हैं। १५७४ ई० में अकबर के हुक्म से सिंहासनद्वात्रिंशिका का फारसी में अनुवाद किया गया। स्याम और मङ्गोलिया की भाषाओं में भी उसके अनुवाद मिलते हैं। १४वीं शताब्दी में शुकसप्तति का फारसी में 'तूतिनामह' के नाम से अनुवाद हुआ। इस 'तूतिनामह' के द्वारा कई भारतीय कथाएं पश्चिमी एशिया और यूरोप में प्रचलित हो गईं। 'सिन्द-बाद जहाजी' की प्रसिद्ध कहानी पर शुकसप्तति का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। मसूदी (९५६ ई०) नामक अरबी लेखक ने

१—Macdonell : *India's Past* p. 123.

२—*Some Problems of Indian Literature.*

अपनी 'किताबुलसिदबाद' की भूमिका में लिखा है कि यह कहानी पहले पहल राजा कुरुष के समय में भारत में लिखी गई थी। उसने यह भी लिखा है कि 'कलिलह और दिमनह' (पंचतंत्र) की भांति सिंदबाद की कथा भी भारत की देन है। सिंदबाद 'सिद्धपति' का रूपान्तर है। खेद है कि सिद्धपति की कथा, जिसका यूनानी अनुवाद 'सिंतिपास' (Syntipas) और हिब्र अनुवाद 'संदबार' (Sandabar) कहलाता है, भारत में नहीं मिलती। कथासरित्सागर और परिशिष्टपर्वन् की कतिपय कहानियों का रूपान्तर चीन की कहानियों में पाया जाता है। अवदानशतक तथा जातकमाला का क्रमशः तीसरी और पांचवीं शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। भारतीय कहानियों का विदेशी भाषाओं में केवल रूपान्तर ही नहीं हुआ, अपितु कथा में कथा का सन्निवेश करने की भारतीय प्रथा का अनुकरण फारस और अरब वालों ने किया। प्रसिद्ध 'सहस्ररजनीचरित' (आरब्योपन्यास) में भारतीय कहानियों की यह शैली स्पष्ट लक्षित होती है।

उपर्युक्त अनुवादों के द्वारा भारत की कहानियों का प्रचार देश-देशान्तर में हुआ तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति का परिचय भी विदेशियों को मिला। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि भारतीय आख्यान जितने विचित्र हैं, उससे कहीं अधिक विचित्र आर्य आख्यान-साहित्य के विश्व-विजय की कथा है।

८

ऐतिहासिक काव्य

पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि संस्कृत साहित्य में वास्तविक इतिहास-ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ है। उनके मतानुसार संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में तिथि और घटनाओं के रूप में ठोस ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती। पर जिस दृष्टिकोण को लेकर पाश्चात्य आलोचक संस्कृत के इतिहास-ग्रन्थों की समीक्षा करते हैं, वह भ्रांतिपूर्ण है। इतिहास के आधुनिक ग्रन्थों को आदर्श मानकर संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की आलोचना करना सर्वथा अनुचित है। भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य तिथियों या घटनावलियों का वर्णन करना नहीं, प्रत्युत जीवन के शाश्वत सिद्धांतों को महापुरुषों के जीवन में घटाते हुए राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में योग देना है। हमारे इतिहास-पुराण, रामायण और महाभारत इस अर्थ में सच्चे इतिहास हैं। हमारी दृष्टि में उनके चरितनायकों के स्थितिकाल का प्रश्न नगण्य है। जीवन के चिरन्तन आदर्शों के प्रतीक होने के कारण उनकी स्थिति सभी देशों और कालों में है। प्रत्येक दशा में हम उन्हें अपनी संस्कृति के सुमेरुशिखर पर अवस्थित पाते हैं। उन्हें हम इतिहास के खंडहरों के कंकड़-पत्थरों में खोजने नहीं गये।

भारत के प्राचीन साहित्यकार आधुनिक अर्थ में इतिहास की रचना की ओर इतने उदासीन क्यों रहे, इसके भी अनेक

कारण हैं—(१) भारत की दार्शनिक विचारधारा ऐहिक उन्नति को वास्तविक उन्नति नहीं मानती। उसकी दृष्टि में संसार तुच्छ और निस्सार है तथा उसके लौकिक विषयों की चर्चा करना मानो माया के भ्रमजाल में फंसना है। (२) भारतीय आरम्भ ही से लौकिक विषयों की अपेक्षा पारलौकिक विषयों में अधिक आस्था रखते आये हैं। (३) भारतीयों का कर्म-सिद्धान्त, जिसके अनुसार मनुष्य के जीवन में कोई भी अचिन्त्य घटना घट सकती है, ऐतिहासिक घटनाओं को लिपिबद्ध करने में बाधक हुआ। उनका यह विश्वास कि पूर्वजन्म के संचित कर्मानुसार ही जीवन की घटनाओं का संचालन होता है, इतिहास-रचना में उनकी अरुचि का कारण हुआ। (४) भारतीयों ने राम, कृष्ण जैसी दैवी विभूतियों को तथा हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, नल युधिष्ठिर आदि आदर्श पौराणिक व्यक्तियों को ही जातीय इतिहास का सच्चा प्रतिनिधि माना। अतः उन्हीं के आख्यान तथा गाथाएं सुरक्षित रखी गई। इसका कारण यह था कि इन अलौकिक व्यक्तियों के जीवनवृत्त में मानव जाति के चिरन्तन आदर्शों का प्रतिबिम्ब संचित था। इसके विपरीत, अनेक स्थानीय राजाओं अथवा अशोक और हर्ष जैसे लौकिक सम्राटों के जीवन का महत्व नहीं समझा गया। इसी कारण जहां श्रीहर्ष के नैषधीयचरित पर २३ टीकाएं लिखी गईं, वहां उनके ऐतिहासिक काव्य 'नवसाहसांकचरित' की ओर टीकाकारों का ध्यान भी नहीं गया।

उक्त विवेचन का यह आशय नहीं कि संस्कृत में लौकिक घटनाओं के इतिहासों की रचना हुई ही नहीं। पुराणों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विशद चित्र उपलब्ध होता है। बौद्धों और जैनों के ग्रन्थों में भी ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। प्राचीन राजाओं

की प्रशस्तियों में ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते है। संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों तथा गद्य-काव्यों में यत्र-तत्र ऐतिहासिक सामग्री बिखरी मिलती है। हां, इस सामग्री में घटनाओं के कालक्रम की छानबीन न होकर सजीव सांस्कृतिक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। यहां तक कि मेघदूत जैसे सर्वथा काल्पनिक गीतिकाव्य में भी तत्कालीन इतिहास और समाज के यथातथ्य चित्र उपलब्ध होते हैं[१]। कुछ विद्वानों के मतानुसार कालिदास का कुमारसम्भव मौर्यों के पतन और वैदिक संस्कृति के उन्नायक हिन्दूराज्यों के उत्थान का रूपकात्मक चित्रण है, तथा भारवि का किरातार्जुनीय कुशन आक्रान्ताओं से त्रस्त भारत में राष्ट्रीयता का ओजःपूर्ण सन्देश फूँकने वाला महाकाव्य है[२]।

इनके अतिरिक्त संस्कृत में अनेक ऐतिहासिक महाकाव्यों की भी रचना हुई, जिनके द्वारा भारत के मध्यकालीन इतिहास पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। कौन कह सकता है कि संस्कृत में और भी अनेकानेक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना न हुई हो और वे विधर्मियों के विध्वंसकारी आक्रमणों में नष्ट न हो गये हों? फिर भी जो प्रमुख ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध होते हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है।

१—Hiralal A. Shah: 'Historic Incident in the मेघदूत, *Proceedings of VII Oriental Conf.* p. 36
Sailendranath Dhar: Some Glimpses of the social life in the age of Kalidasa', *Proceedings of the Indian History Congress 1943.*

२—P. S. Shastri: 'Historic Spirit in Ancient India', *Indian Social Reformer* 28th Feb. 1947 pp. 8-9.

बाणभट्ट

सर्वप्रथम ऐतिहासिक काव्य की रचना करने का श्रेय बाणभट्ट को है। उनके हर्षचरित में महाराज हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) का चरित अङ्कित है। हर्षवर्धन के वंश के प्रवर्त्तक पुष्पभूति नामक राजा थे। हर्ष के पिता का नाम प्रभाकरवर्धन और माता का यशोवती था। उनके बड़े भाई राज्यवर्धन का जन्म ५८८ ई० में हुआ। उसके दो वर्ष बाद भारत के भावी सम्राट् हर्ष उत्पन्न हुए तथा तीन वर्ष बाद उनकी बहन राज्यश्री का जन्म हुआ। राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ। लगभग ६०५ ई० में हूणों ने प्रभाकरवर्धन के राज्य के उत्तर में आक्रमण किया। उन्होंने राज्यवर्धन को एक बड़ी सेना देकर उनकी प्रगति रोकने के लिये भेजा। उनके लौटने के पूर्व ही प्रभाकरवर्धन का देहान्त हो गया। यशोवती विधवा हो जाने के भय से पति की मृत्यु के पूर्व ही सती हो गई। प्रभाकर-वर्धन की मृत्यु से लाभ उठाकर मालवा के राजा ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। उसने ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को कैद कर लिया। राजवर्धन ने हर्ष पर राज्य का भार छोड़ शत्रु के विरुद्ध प्रयाण किया। मालवराज को उन्होंने सहज ही में परास्त कर दिया, पर उसके सहायक गौडराजा ने उन्हें धोखे से मार डाला। हर्ष ने प्रतिशोध के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने अपनी बहन राज्यश्री का पता लगाया जो कारागार से छूटकर विन्ध्याटवी में पहुंच गई थी। इस स्थल पर बाण का हर्षचरित समाप्त हो जाता है। यानच्वांग (Yhan Chwang) नामक चीनी यात्री के संस्मरणों से पता चलता है कि हर्ष ने आसाम के राजा भास्करवर्मा की सहायता से गौड़ राजा को परास्त कर दिया। इसके पश्चात् उन्होंने उत्तरी भारत का दिग्विजय कर

महाराजाधिराज की उपाधि धारण की और ३० वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य किया।

हर्षचरित की रचना यद्यपि गद्य में हुई है, किन्तु उसका गद्य पूर्णतया कवित्वमय है। उसमें इतिवृत्तों का उल्लेख सीधी-सादी भाषा में नहीं हुआ है। उनकी शैली आलंकारिक और कल्पना-प्रचुर है। उसमें पौराणिक कथाओं और अलौकिक पात्रों का भी उपयोग किया गया है। उसमें हर्ष के राज्यकाल का पूरा वर्णन नहीं हुआ है। किसी घटना की तिथि भी नहीं दी गई है। स्वयं अपने स्थितिकाल का भी उल्लेख बाण ने नहीं किया है। 'एवमतिक्रामत्सु दिवसेषु', 'अथ कदाचित्', 'कतिपयदिवसापगमे' इत्यादि का प्रयोग करके ही वे संतोष कर लेते हैं। कभी-कभी वे ऐतिहासिक पात्रों के नाम तक का उल्लेख नहीं करते। राज्यवर्धन को मारने वाले गौडाधिप का हर्षचरित में कहीं नाम तक नहीं बताया गया है। इन कारणों से हर्षचरित का ऐतिहासिक महत्व कुछ कम हो गया है।

बाण के हर्षचरित में जिन ऐतिहासिक घटानाओं का वर्णन हुआ है, वे प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से मेल खाती हैं। हर्षचरित में घटनाओं का ऐसा सूक्ष्म और ब्यौरेवार वर्णन किया गया है कि ह्वेनसांग ने अपने संस्मरणों में जहाँ कहीं धार्मिक पक्षपात से प्रभावित हो अयथार्थ वर्णन किया है, उसका साफ पता चल जाता है। हर्षचरित का ऐतिहासिक वृत्तान्त तत्कालीन इतिहास के शोध में विशेष सहायक है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर हर्षचरित से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस समय ब्राह्मणों और बौद्धों का धर्म समानरूप से उन्नत था। धार्मिक विद्वेष नाममात्र को भी नहीं था। संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी हर्षचरित

अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हर्षचरित के आरम्भ में बाण ने महाभारत, वासवदत्ता एवं बृहत्कथा नामक ग्रन्थों की तथा भास, कालिदास प्रवरसेन, भट्टारहरिचन्द्र एवं आढ्यराज नामक कवियों की प्रशंसा.की है। बाण का स्थितिकाल निश्चितरूप से ज्ञात होने के कारण अन्य कवियों के समय-निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है। सोड्ढल ने हर्षचरित की इस प्रकार प्रशंसा की है—

बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती चकास्ति यस्योज्ज्वलवर्णशोभम्।
एकातपत्रं भुवि पुष्पभूतिवंशाश्रयं हर्षचरित्रमेव ॥

वाक्पतिराज

सन् १८७४ ई० में डॉ० ब्यूलर को जैसलमेर के प्राचीन जैन-संग्रहालय में वाक्पतिराज-कृत गौडवहो (गौडवध) की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से अब यह प्रकाशित हो चुका है। वाक्पतिराज के पिता का नाम हर्षदेव था। वे कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित तथा भवभूति के समकालीन थे[१]। ये यशोवर्मा काश्मीर के राजा ललितादित्य द्वारा युद्ध में मारे गये। डॉ स्टीन के मतानुसार यह घटना ७३६ ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। गौडवहो के अधूरे होने से प्रतोत होता है कि वाक्पतिराज ने अपने काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में प्रारम्भ की थी, किन्तु ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा की मृत्यु होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। इसलिये गौडवहो की रचना ७३६ ई० के बाद की नहीं हो सकती। अपने काव्य के ६६ वें पद्य में वाक्पतिराज ने 'महुमनविजय' नामक अपनी एक और कृति का उल्लेख किया है।

१—कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम् ॥ राजतरंगिणी ४।१४४

गौडवहो की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। संभव है, उसकी रचना करने में वाक्पतिराज प्रवरसेन के प्राकृत काव्य 'रावणवहो' (सेतुबंध) से प्रभावित हुए हों। गौडवहो में यशोवर्मा द्वारा एक गौड राजा के परास्त होने की घटना का वर्णन है। कवि ने इस गौड राजा के नाम का उल्लेख नहीं किया है। गौडवहो में महत्वमय ऐतिहासिक बातों का वर्णन कम है। ऋतुओं, प्राकृतिक दृश्यों तथा राजा के बिहार आदि का ही कवित्वमय विस्तृत वर्णन किया गया है।

पद्मगुप्त

नवसाहसांकचरित के रचयिता पद्मगुप्त अथवा परिमल-कालिदास धारानरेश मुंज तथा उनके पुत्र सिन्धुराज (नवसाहसांक) के राजकवि थे। नवसाहसांकचरित की रचना १००५ ई० के लगभग हुई। सिन्धुराज नागों के शत्रु वज्रांकुश को पराजित कर नागराज शंखपाल की राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह करते हैं—इस घटना का विस्तृत एवं कवित्वमय वर्णन करते हुए कवि ने अपने आश्रयदाता के चरित्र पर प्रकाश डाला है। लम्बी वक्तृताओं तथा विस्तृत वर्णनों से कथा प्रवाह प्रायः अवरुद्ध हो गया है तथा ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्व कम हो गया है। यद्यपि यह काव्य मुख्यरूप में एक प्रशस्ति मात्र है, फिर भी यदि इसकी पौराणिक वर्णन प्रणाली और अलंकृत काव्य शैली के बीच ऐतिहासिक तत्वों की खोज की जाय तो तत्कालीन इतिहास के अनेक विश्वसनीय तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, जिसकी पुष्टि शिलालेखों तथा अन्य बहिरंग प्रमाणों से भी होती है। नवसाहसांकचरित (१०।१४–२०) में सिंधुराज द्वारा विजित जिन राजाओं और देशों का उल्लेख हुआ है,

उनकी ऐतिहासिकता स्वीकृत हो चुकी है। यद्यपि सिंधुराज का कोई शिलालेख उपलब्ध नहीं हुआ है, उनकी सत्यता का पता उनके वंश के पूर्ववर्ती और परवर्ती राजाओं के इतिहास से चलता है१। १२ वें सर्ग में सिंधुराज के पूर्ववर्ती समस्त परमार-वंशी राजाओं का कालक्रम से वर्णन है, जिसकी पुष्टि शिलालेखों से हो चुकी है। इस प्रकार यह काव्य परमारों के इतिहास के लिये उपादेय है।

काव्य की दृष्टि से पद्मगुप्त की रचना वैदर्भी रीति का मनोहर उदाहरण है। उसके १८ सर्गों में १६ प्रकार के भिन्न-भिन्न छन्दों में कुल मिलाकर १५०० पद्य हैं। पद्मगुप्त की भाषा और शैली पर महाकवि कालिदास का प्रभाव देख पड़ता है। उनके पद्यों का स्वर-माधुर्य तथा उनका वर्णन-कौशल प्रशंसनीय है। राजा की काली तलवार से शुभ्र यश की उत्पत्ति का वर्णन देखिए। विषमालंकार का क्या ही सुन्दर उदाहरण है—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥

भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण', क्षेमेन्द्र की 'औचित्यविचारचर्चा,' मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' तथा वर्धमान के 'गणरत्न महोदधि' में पद्मगुप्त का उल्लेख हुआ है।

बिल्हण

जैसलमेर में डा० ब्यूलर को गौडवहो के साथ ही विक्रमांकदेवचरित नामक एक और ऐतिहासिक महाकाव्य की

१—V. V. Mirashi: 'Historical Data in 'नवसाहसांकचरित' I. A. Feb. 1933, pp. 101-107.

उपलब्धि हुई थी। इसकी रचना काश्मीरी कवि बिल्हण ने १०८५ ई० के लगभग की। अपने काव्य के १०वें सर्ग में उन्होंने अपना जीवनवृत्त दिया है। उनका जन्म काश्मीर की तत्कालीन राजधानी प्रवरपुर के पास खोनमुख ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। बिल्हण के पिता का नाम ज्येष्ठकलश और माता का नाम नागादेवी था। विद्याभ्यास की समाप्ति पर वे पर्यटन के लिये निकल पड़े। मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी, अन्हिलवाड़ा आदि स्थानों में होते हुए वे अन्त में कल्याण के चालुक्य राजा छठे विक्रमादित्य (१०७६–११२६ ई०) की राजसभा में पहुंचे। विक्रमादित्य ने उन्हें अपना सभापण्डित बनाकर 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया।

विक्रमांकदेवचरित में १८ सर्गों में चालुक्य-वंशी राजा विक्रमादित्य का चरित्र वर्णित है[१]। इसमें उनके पिता आहवमल्ल की मृत्यु, राजकुमारी चन्द्रलेखा से विवाह, उनके दो भाइयों तथा चोलों की पराजय आदि घटनाओं का कवित्वमय वर्णन किया गया है। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक ग्रन्थों में कल्हण की राजतरंगिणी और बाण के हर्षचरित के पश्चात् विक्रमांकदेव-चरित ही विशेषरूप से उल्लेखनीय है। कल्याण के चालुक्य-वंशी राजाओं के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे बिल्हण द्वारा वर्णित घटनाओं की पुष्टि होती है। दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का विशद परिचय बिल्हण की कृति में उपलब्ध होता है। चोलों और चालुक्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का तथा दक्षिण के तत्कालीन राज्यों के विस्तार का भी अच्छा

१—एषास्तु चालुक्यनरेंद्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानाम्।
मद्भारतीसूत्रनिवेशितामेकावली कंठविभूषणं वः॥ १।३०

परिचय मिलता है[१]। बिल्हण ने अपने देशाटन का जो रोचक वर्णन किया है, उससे उस समय की भारतीय सामाजिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हां, कहीं-कहीं कवि ने अपने चरितनायक का अतिरंजित चित्रण अवश्य किया है। स्थल-स्थल पर पौराणिक और अलौकिक प्रसंगों के उल्लेख से काव्य का ऐतिहासिक महत्व कम हो गया है। घटनाओं की तिथियाँ भी नहीं सूचित की गई हैं।

कवित्व की दृष्टि से बिल्हण की कृति रमणीय है। उसका मुख्य लक्ष्य काव्य-सौन्दर्य का चमत्कार उत्पन्न करना प्रतीत होता है, ऐतिहासिक विश्लेषण गौण। सच पूछिए तो बिल्हण ने काव्य प्रतिभा की सुकुमार शलाका से इतिहास की कठोर शिला को भेदने का कठिन प्रयास किया है। बिल्हण स्वयं कहते हैं कि मोती को बेधने वाली सुई टांकी का काम कैसे कर सकती है—'न मौक्तिकच्छिद्रकरीशलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः' (१।१६)। बिल्हण ने सरल और प्रसादपूर्ण वैदर्भी शैली को अपनाया है, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र ॥१।१४

अनुरूप दृष्टान्त, सरस पद-विन्यास एवं विशद भावप्रकाशन बिल्हण की कविता की विशेषताएं हैं। दो उदाहरण देखिए—

कुंठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।
कुर्यादनार्द्रेषु किमंगनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः॥ १।१४

१—V. Venkataraman : 'Vikramankadevacharita in its historical setting' *Indian History Congress* 1938 p. 117

'साहित्य-विद्या के अनुशीलन से जिनका हृदय सरस नहीं हुआ है, उन पाठकों के प्रति कवियों के प्रशस्त गुण भी कुण्ठित हो जाते हैं। कहीं रमणियों के सूखे केशकलाप अगुरु के सुगंधित धूप से सुवासित हो सकते हैं?' एक सरस सूक्ति देखिए—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान्खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कंटकजालमेव॥ १।२६

'कुतार्किक खल जन कानों में अमृत घोलने वाली सूक्तियों के रस-माधुर्य को छोड़ केवल दोषों को ही ढूंढ निकालने की भरपूर कोशिश करते हैं। सच है, क्रीड़ा-उपवन में प्रवेश करके भी ऊंट बबूल के कंटीले झाड़ों को ढूंढ़ता फिरता है।' सोमेश्वर ने बिल्हण की इस प्रकार प्रशंसा की है—

बिल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादैव सरस्वती ।
नीयते जातु कालुष्यं दुर्जनैर्न घनैरपि ॥

कल्हण

महाकवि कल्हण-कृत राजतरङ्गिणी (११४८-५१ ई०) ऐतिहासिक काव्यों में सबसे अधिक महत्वमय है। कल्हण काश्मीर के तत्कालीन महाराजा विजयसिंह के मन्त्री चंपक के पुत्र थे। राजतरङ्गिणी संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास का प्रथम प्रयास है। कल्हण ने आदिकाल से लेकर सन् ११५१ ई० के आरम्भ तक के काश्मीर के प्रत्येक राजा के शासनकाल की घटनाओं का यथाक्रम विवरण दिया है। राजतरङ्गिणी ८ खण्डों में विभाजित है, जिसमें कुल ७,८२६ श्लोक हैं। कल्हण ने इस काव्य की रचना में राजकथाओं के ११ संग्रहों तथा 'नीलमतपुराण' से सहायता ली है। उनके द्वारा

दिये गये लेखकों के नामों तथा उनके ग्रन्थों के उल्लेखों से पता चलता है कि काश्मीर में इतिहास-लेखन की प्रथा बहुत पहले से प्रचलित थी और इस विषय पर कई उत्कृष्ट ग्रन्थ थे। कल्हण ने अनेक अधिकार-पत्रों, शिलालेखों, दानपत्रों, प्रशस्तियों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर राजतरङ्गिणी की रचना की। प्राचीन सिक्कों का भी उन्होंने उपयोग किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी प्रकार की स्थानीय जनश्रुतियों, परम्पराओं से भी सहायता ली।

राजतरङ्गिणी में महाकवि कल्हण ने डेढ़ हजार वर्ष का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास बड़ी सतर्कता और सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। सच्चे इतिहासकार की भांति उन्होंने जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर दृष्टि डाली है। इस दृष्टि से यदि उसे काश्मीर का तत्कालीन विश्वकोष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कल्हण ने घटनाओं का ऐसा सजीव वर्णन किया है कि वह उपन्यास-सा मनोरञ्जक है। काव्य-माधुर्य से भरा होने पर भी वह इतिहास के अन्वेषण में उपादेय है। संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों में यही एकमात्र ऐसी कृति है, जिसमें तिथियों का निर्देश किया गया है। भवभूति और वाक्पतिराज जैसे कवियों के समय-निर्धारण में राजतरंगिणी विशेष सहायक है। हां, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं कल्हण की काल-गणना भ्रान्तिपूर्ण है। कुछ घटनाएं भी अंध-विश्वास पर आश्रित तथा असंगत प्रतीत होती हैं। नवीं शताब्दी ई० के पूर्व का इतिहास बिल्कुल अधूरा और धुंधला है। पर अंतिम शताब्दी का इतिहास बड़ा ही स्पष्ट, विस्तृत और घटनाबहुल है। कवि की निष्पक्षता प्रशंसनीय है। अपने आश्रयदाता राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के भयङ्कर अत्याचारों का वर्णन करने में कल्हण आनाकानी नहीं करते। कल्हण ने अपने प्रतिपाद्य

विषय का आद्योपान्त अच्छी तरह से निर्वाह किया है। अपने प्रतिपादन में उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पटलों पर भी दृष्टि रखी है। प्रत्येक राजा के वर्णन में उसके व्यक्तिगत एवं राजकीय जीवन की सभी घटनाएं चित्रित की गई हैं। यह भी बतलाया गया है कि प्रजा की ओर उसकी नीति कैसी रही तथा प्रजा पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। काश्मीर में समय-समय पर जो क्रांतियाँ हुई हैं, उनका भी विशद चित्र खींचा गया है। इस प्रकार राजतरंगिणी संस्कृत की अमूल्य ऐतिहासिक कृति है।

ऐतिहासिक रचना होने पर भी राजतरंगिणी में काव्यात्मक गुणों का अभाव नहीं। सैकड़ों वर्षों के दीर्घकाल का इतिहास लिपिबद्ध होने के कारण उसमें अवश्य ही काव्योचित वैचित्र्य के लिये अधिक अवकाश नहीं था। फिर भी उसमें कवि-कल्पना, रस, अलङ्कार और भावों का जहाँ-तहाँ सुन्दर समावेश हुआ है। उसके संवाद सुन्दर और ओजःपूर्ण हैं। कल्हण की शैली के उदाहरणार्थ कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं। राजाओं की कैसी खरी आलोचना की गई है—

चित्रं नृपद्विपाः पूतमूर्तयः कीर्तिनिर्झरैः।
भवन्ति व्यसनासक्तिपांसुस्नानमलीमसाः॥

'कैसे आश्चर्य की बात है कि जो राजारूपी हाथी अपने यशरूपी झरनों में स्नान करके पवित्र हो जाते हैं वे ही बाद में दुर्व्यसनों की धूल में लोट कर मलिन हो जाते हैं!' कल्हण भवितव्यता में विश्वास करते हैं—

पलायनैर्नोपयाति निश्चला भवितव्यता।
देहिनः पुच्छसंलीना वह्निज्वालेव पक्षिणः॥

'अटल भवितव्यता मनुष्य के भागने पर भी उसका पीछा नहीं छोड़ती, जैसे किसी पक्षी के पूंछ में लगी आग उसके साथ ही रहती है।' इतिहासकार को रागद्वेष से रहित हो केवल सत्य का उद्घाटन करना चाहिए, इसका प्रतिपादन करते हुए कल्हण कहते हैं—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

'वही गुणवान् लेखक प्रशंसा का पात्र है जिसकी वाणी राग-द्वेष से रहित हो केवल सत्य घटनाओं के प्रकाशन में स्थिर रहती है।' कल्हण की एक मार्मिक उक्ति देखिए—

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रष्यवसन्नः सुहृत्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्बारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो
दृष्टो येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम्॥

'जिसने भूख से बिलखते प्यारे पुत्र को, दूसरे के घर सेवा करने वाली अपनी स्त्री को, विपत्ति में पड़े हुए मित्र को, दुही हुई किन्तु चारा न मिलने के कारण रंभाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में रोगशय्या पर मरणासन्न माता-पिता को तथा शत्रु से पराजित अपने स्वामी को देख लिया, उसे मरने के बाद नरक में भी इससे अधिक अप्रिय दृश्य देखने को क्या मिलेगा ?'

कल्हण के अनन्तर रचे गये ऐतिहासिक काव्यों में निम्न-लिखित कृतियां उल्लेखनीय हैं। जैन मुनि हेमचन्द्र (१०८८--११७२ ई०) ने अन्हिलवाड़ा के चालुक्यवंशी राजा कुमारपाल के सम्मानार्थ कुमारपालचरित अथवा द्वयाश्रयकाव्य (११६३ ई०) की रचना की। दिल्ली के अन्तिम हिन्दूसम्राट् पृथ्वीराज चौहान

के आश्रित कवि जयानक ने अपने पृथ्वीराजविजय (१२०० ई०) में पृथ्वीराज के जीवनचरित का वर्णन किया है। गुजरात के सोमेश्वरदत्त (१७७६-१२६२ ई०) ने दो प्रशस्तियों की रचना की —कीर्तिकौसुदी और सुरथोत्सव। सुरथोत्सव में कवि ने बाण की भाँति अपने वंश का भी परिचय दिया है। सन्ध्याकरनन्दिन् ने रामपालचरित में बंगाल के राजा रामपाल (१०८४-११६० ई०) के पराक्रमों का वर्णन करते हुए बंगाल के ही नहीं, अपितु आसाम, बिहार, मध्यप्रांत और उड़ीसा के इतिहास के लिये बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है[१]। सन् १६२५ ई० में म० म० टी० गणपतिशास्त्री ने आर्यमंजूश्रीकल्प[२] नामक एक और ऐतिहासिक ग्रन्थ ढूंढ़ निकाला। इसकी रचना ८०० ई० के लगभग हुई थी। यह महायान बौद्ध-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसके तृतीय खण्ड के ५३ वें अध्याय में भारतवर्ष के सम्राटों का वर्णन बुद्ध के मुख से भविष्यत्काल में कराया गया है। इसमें लगभग ७०० ई० पू० से लगाकर ७७० ई० तक का इतिहास वर्णित हैं।

इस अध्याय में संस्कृत के जिन प्रमुख इतिहासकारों का विवेचन किया गया है, उनकी कालक्रमानुसार नामावली नीचे दी जाती है—

बाणो वाक्पतिराजश्च पद्मगुप्तस्तथैव च।
बिल्हणः कल्हणश्चैते प्रसिद्धा ऐतिहासिकाः॥

१—P. Acharya : *Historical References to Orissa in* सन्ध्याकरनन्दिन्'s रामचरितम्।

२—*An Imperial History of India in a Sanskrit Text* edited by Dr. K. P. Jayaswal.

९

चम्पू-काव्य

जिन काव्यों में गद्य-पद्य का संयुक्त प्रयोग किया जाता है, उन्हें 'चम्पू-काव्य' कहते हैं—'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'[१] वासवदत्ता, कादम्बरी, हर्षचरित आदि गद्य-काव्यों में भी यत्र-तत्र पद्य पाये जाते हैं, किन्तु वे प्रधानतया गद्य में ही हैं। चम्पू काव्यों में गद्य और पद्य का समान रूप से व्यवहार होता है। नीतिकथाओं में भी गद्य-पद्य का सम्मिश्रण देख पड़ता है। किन्तु उनमें पद्यों का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से किया जाता है। उनके पद्य या तो कथा से प्राप्त होने वाली शिक्षा के रूप में है या किसी कथन की पुष्टि में प्रमाणरूप उद्धरण। चम्पू-काव्य के पद्य किसी प्रयोजनें-विशेष से नहीं प्रयुक्त होते। वे तो चम्पू के कथानक के ही उसी प्रकार अंगभूत होते हैं जैसे उसके गद्यभाग। 'रामायणचम्पू' के रचयिता भोज कहते हैं कि चम्पू में गद्य और पद्य का वही पारस्परिक सम्बन्ध है जो संगीत में गीत और वाद्य का—

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिः
हृद्यापि वाद्यकलया कलितेव गीतिः॥

संस्कृत की चम्पू-शैली की रमणीयता एवं चम्पूग्रन्थों की लोकप्रियता को स्वीकार करते हुए ही यह कहा गया है—

१—साहित्यदर्पण ६।३३६

उदात्तनायकोपेता गुणवद्वृत्तमुक्तका ।
चम्पूश्च हारयष्टिश्च केन च क्रियते हृदि ॥

'चम्पू' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ भी पता नहीं मिलता। हां, प्राचीन साहित्य में कुछ स्थलों पर गद्य-पद्य का एक साथ प्रयोग पाया जाता है, जिसे चम्पू का पूर्वरूप कहा जा सकता है। महाभारत में कहीं-कहीं गद्यपद्यात्मक स्थल देख पड़ते हैं। बौद्धों की जातकमाला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में गद्य के साथ पद्य का प्रयोग किया गया है। दण्डी (६०० ई०) ने अपने काव्यादर्श में चम्पू का लक्षण दिया है। अतः यह सिद्ध है कि दण्डी के पूर्व संस्कृत में चम्पू-काव्य की रचना हो चुकी थी। उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में चम्पू-काव्य के दर्शन १० वीं शताब्दी से पूर्व नहीं होते। प्रमुख चम्पू-काव्यों का विवेचन नीचे दिया जाता है।

त्रिविक्रमभट्ट

त्रिविक्रमभट्ट का नलचम्पू चम्पू-काव्य का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। उसका दूसरा नाम 'दमयन्तीकथा' भी है। इसकी रचना ६१५ ई० के आसपास हुई, क्योंकि उसी समय का एक शिलालेख मिलता है, जिसके रचयिता त्रिविक्रमभट्ट ही हैं। नलचम्पू के अतिरिक्त त्रिविक्रम भट्ट ने मदालसाचम्पू भी लिखा है। चम्पूकाव्य-शैली का जो परिष्कृत और प्रौढ़ रूप उपलब्ध होता नलचम्पू में है, उससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में इस गद्यपद्यमयी शैली का प्रचार बहुत पहले से ही रहा होगा।

त्रिविक्रमभट्ट की भाषा सुबन्धु के समान श्लेषप्रधान है— 'भङ्गश्लेषकथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया।' (१।२२) उनके अनुसार भावप्रकाशन की सरलता उदात्त कविता का लक्षण

नहीं। त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम श्लेष-कवि हैं। उनके नलचम्पू में सरस, प्रसन्न, रमणीय और चमत्कारपूर्ण श्लेष की प्रचुरता है। उसके जैसे सरल सभङ्ग श्लेष संस्कृत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। उसका मंजुल शब्दविन्यास एवं रमणीय पदशय्या दर्शनीय है। उनकी श्लेषपूर्ण शैली के कुछ उदाहरण देखिए—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥ १।४

'सौभाग्य से ही किसी व्यक्ति के मुख में ऐसी वाणी और घर में ऐसी स्त्री का वास होता है जो प्रसादगुण से युक्त हो (अथवा जो प्रसन्नचित्त हो), जो परिष्कृत पदावली के कारण मनोहर हो (अथवा जो अपने कान्तियुक्त देह से आकर्षक हो), जो चारों प्रकार के श्लेषों का उद्घाटन करती हो (अथवा जो बारह प्रकार के आलिंगनों में दक्ष हो)।' सामान्य कवियों की बालकों से कैसी तुलना की गई है—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥१।६

'शब्दों के समुचित प्रयोग में अकुशल, सहृदयों के वैरस्य के हेतु तथा निस्सार वाग्विस्तार में प्रगल्भ कुछ कवि उन छोटे बच्चों के समान है, जिनके पैर अभी डगमगाते हैं, जो अपनी माता के अनुराग के हेतु हैं तथा जिनके मुख से लगातार लार टपकती रहती है।' नलचम्पू के मनोरम पद्यों को भोजराज तथा विश्वनाथ ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

नलचम्पू के श्लेषगर्भित गद्य का एक मूना देखिए। आर्यावर्त्त का वर्णन है—'यस्यां च दिव्यदेवकुलालंकृताः स्वर्गा

इव मार्गाः, सततमपांसुवसनाः सागरा इव नागराः, समत्तवारणानि वनानीव भवनानि, सुरसेनान्विताः स्वर्गभूपा इव कूपाः, अधिकंधरोद्देशमुद्भासयन्तो हारा इव विहाराः।'—'आर्यावर्त्त देश के सुरम्य मन्दिरों से सुशोभित मार्ग दिव्य देवताओं से विभूषित स्वर्ग के समान है, शुभ्र-धवल वेष वाले नागरिक निरन्तर जल से परिपूर्ण महासागर के समान हैं, बड़ी-बड़ी दालानों वाले महल मतवाले हाथियों से भरे जङ्गल के समान है, वहां के शीतल-स्वच्छ जल वाले कूप देवताओं की सेना से युक्त स्वर्ग के राजाओं के समान हैं, वहां के विशाल स्थान को घेर कर शोभित होने वाले मठ गले में चमकने वाले हारों के समान हैं।'

सोमदेव

यशस्तिलकचम्पू के रचयिता जैनकवि सोमदेवसूरि १० वीं शताब्दी के राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजदेव के समकालीन थे। यशस्तिलक की रचना ६५८ ई० हुई। इसमें सात आसवों में अवन्तिनरेश यशोधर की कथा वर्णित है। अपनी रानी की कपटपूर्ण चालों से विरक्त हो उनका जैनधर्म स्वीकार करना तथा उनके वध और पुनर्जन्म की घटनाओं का इसमें सरस वर्णन है। कवि ने इस रचना में यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य जैनधर्म का पालन कर किस प्रकार अपना कल्याण कर सकता है। यशस्तिलक की कथा रोचक है। लेखक की शैली सुरुचिपर्ण है। उनकी शैली के कुछ उदाहरण देखिए—

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव।
पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात्॥

'नदी, तालाब, समुद्र या बावली में स्नान मात्र करने से यदि पुण्य की प्राप्ति होती हो तब तो समस्त जलचर जीवों को पहले

ही स्वर्ग पहुंच जाना चाहिए, औरों की बारी तो बाद में आयेगी।, समालोचकों के पक्ष में राजा की उक्ति देखिए—

अवक्तापि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम्॥

'काव्य के आलोचक भले ही स्वयं काव्य-रचना न करते हों फिर भी काव्य का यथार्थ मर्म समझाने में वे सर्वथा समर्थ हैं। क्या स्वयं सुन्दर भोजन न बना सकने वाला व्यक्ति उसके स्वाद का आनन्द नहीं ले सकता ?' ऐहिक इच्छाओं की सारहीनता देखिए—

त्वं मन्दिरद्रविणदारतनूद्भहाद्यै-
स्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धिः।
क्लिश्नास्यहर्निशमिमं न तु चित्त वेत्सि
दण्डं यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव॥

'हे चित्त, तू गृह, धन, स्त्री, पुत्र आदि की अन्ध तृष्णा से क्यों दिन-रात चिक्षिप्त रहा करता है ? क्या तुझे नहीं मालूम कि यमराज का दण्ड किसी भी समय तुझ पर गिर सकता है ?'

संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी सोमदेव की कृति का महत्व है। उसमें अनेक काव्य-रचयिताओं का उल्लेख हुआ है। साथ ही, ऐसी काव्य-कृतियों के नाम भी दिये गये हैं, जिनका आज कोई पता नहीं।

हरिचन्द्र

हरिचन्द्र ने ६०० ई० में जीवनधरचम्पू की रचना की। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये वे ही हरिचन्द्र हैं जिन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक जैन महाकाव्य की रचना की है या कोई और। जीवनधरचम्पू का कथानक गुणभद्र के 'उत्तर-

पुराण' पर आश्रित है। माघ और वाक्पतिराज का अनुकरण भी इसमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है।

भोज

धारा के प्रसिद्ध राजा भोज (१०१८-१०६३ ई०) ने रामायणचम्पू की रचना की। इसमें रामायण की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है। आरम्भ में भोज की कृति अपूर्ण थी और उसकी समाप्ति किष्किन्धाकाण्ड पर ही हो गई थी। लक्ष्मणभट्ट ने बाद में युद्धकाण्ड जोड़ कर उसकी पूर्ति की[१]।

अनन्त नामक कवि ने १२ स्तबकों में भारतचम्पू की रचना की, जिसमें महाभारत की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है।

सोड्ढल

उदयसुन्दरीकथा-चम्पू के रचयिता सोड्ढल गुजराती कायस्थ थे। उनका जन्म दक्षिण गुजराती के लाट देश में हुआ था इनके आश्रयदाता कोंकण के राजा मुम्मुणिराज थे, जिनका १०६० ई० का शिलालेख उपलब्ध होता है। उदयसुन्दरीकथा में बाण के हर्षचरित का स्पष्ट अनुकरण देख पड़ता है। इसमें प्रतिष्ठान नगर के राजा मलयवाहन का नागराज शिखण्डतिलक की कन्या उदयसुन्दरी के साथ विवाह की गद्यपद्यात्मिका कथा वर्णित है। बाण की भांति सोड्ढल ने भी अपना वृत्तान्त दिया है तथा पूर्ववर्ती कवियों के सम्बन्ध में कई प्रशंसात्मक श्लोक भी दिये हैं। उदयसुन्दरीकथा में भाषा का लालित्य एवं माधुर्य दर्शनीय है। सोड्ढल की शैली के कुछ उदाहरण देखिए—

१—यः काण्डान्निबबन्ध चम्पुविधया पंचापि भोजः कविः
यो वा षष्टमचष्ट लक्ष्मणकविस्ताभ्यामुभाभ्यामपि।

कमलिनी भुवनान्तरिते रवौ व्यपगतालिकलापशिरोरुहा ।
परिदधे विधवेव सुधाकरद्युतिवितानमिषेण सितांशुकम् ॥

'जब सूर्य इस संसार से विदा हो गये तो बेचारी कमलिनी विधवा की भांति अपने भ्रमररूपी केशकलाप को अलग कर देती है और उज्ज्वल चाँदनी के रूप में सफेद वस्त्र धारण कर लेती है।' एक नूतन कल्पना देखिए—

चान्द्रं महो मण्डलभाजनस्थं दुग्धं यथा यामवतीमहिष्याः ।
वियोगिनां दृग्दहनोग्रतापैरुल्लासितं व्योमतले लुलोठ ॥

'चन्द्रमा मानो रात रूपी भैंस का दूध है जो चन्द्रमण्डल रूपी पात्र में औटाया जा रहा है। वही दूध वियोगियों के संतापरूपी तेज आंच से उफन कर आकाश में चारों तरफ चांदनी के रूप में फैल गया है।'

रानी तिरुमलाम्बा

पंजाब के स्वर्गीय डा० लक्ष्मणस्वरूप को सन् १६२४ ई० में तंजोर लाइब्रेरी में रानी तिरुमलाम्बा-रचित वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू की पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई। सन् १६३२ में उन्हीं के सम्पादन में यह चम्पू प्रकाशित भी हो चुका है। तिरुमलाम्बा राजा अच्युतराय की विदुषी रानी थी, जिनका राज्याभिषेक १५२६ ई० में हुआ। अतः डा० स्वरूप के मतानुसार इस चम्पू की रचना १५२६–१५४० ई० के बीच हुई।

वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू में अच्युतराय और वरदाम्बिका के व्याज से रानी तिरुमलाम्बा ने अपनी ही प्रणय-कथा लिखी हो। इस चम्पू-काव्य की शैली प्रमाणित करती है कि रानी तिरुमलाम्बा कितनी सुशिक्षित और कलाओं में पारंगत थीं।

संस्कृत भाषा पर उनका विलक्षण अधिकार था। उनकी कल्पना उर्वर है। दीर्घ समासों और जटिल वाक्यों के होते हुए भी उनकी कृति आकर्षक है। संस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि में महिलाओं ने भी योग दिया है, इसका ज्वलन्त उदाहरण वरदाम्बिका- परिणय-चम्पू है।

सोलहवीं शताब्दी के कवि कर्णपूर कृत आनन्दविलासचम्पू में तथा जीवगोस्वामी के गोपालचम्पू में भगवान् श्रीकृष्ण की ललित बाल-लीलाओं का सरस वर्णन है। सत्रहवीं शताब्दी में नारायण ने स्वाहासुधाकरचम्पू की रचना की। इसमें अग्नि-पत्नी स्वाहा और चन्द्रमा के प्रणय की कथा है। यह रचना 'आशु-कविता' का नमूना है। वेंकटाध्वरि (१६५० ई०) के विश्वगुणा-दर्शचम्पू में दो गन्धर्व अपने विमानों पर आरूढ़ हो भारत के विभिन्न प्रान्तों के गुण-दोषों का विवेचन करते हैं। शङ्कर कवि के शङ्करचेतोविलासचम्पू में वारेन हेस्टिंग्स के समय के महाराज चेतसिंह की प्रशंसा की है।

संस्कृत के प्रमुख चम्पूकाव्य-रचयिताओं की कालक्रमानुसार नामावली इस प्रकार है—

त्रिविक्रमश्च सोमश्च हरिचन्द्रस्तथैव च।
भोजश्च सोड्ढलश्चैव राज्ञी तिरुमलह्वाया॥

नारायणस्तथा चासन् वेङ्कटाध्वरिसूरयः।
शङ्करोऽपि च प्रख्याताः चम्पूकाव्यविधायकाः॥
